बौद्ध दर्शन के भ्रम-सिद्धान्त की समीक्षा

[AN APPRAISAL OF BUDDHIST THEORY OF ILLUSION]
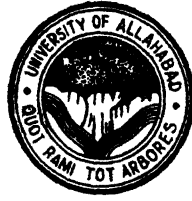
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
की
डी०फिल्० उपाधि हेतु

प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्ता

हरीकान्त मिश्र

एम०ए०, एल एल० बी०

पर्यवेक्षक

डॉ० छोटे लाल त्रिपाठी

एम०ए०, एल एल० बी०, डी०फिल्०
पूर्व रीडर दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

अप्रैल १९९८

विषयानुक्रमणिका

पूर्व कथ्य

इलाहाबाद विश्वविद्यालय मे मैने स्नातक मे प्रवेश लेते समय अपने वैकल्पिक विषय के रूप मे 'दर्शनशास्त्र' को चुना था। स्नातक मे दर्शनशास्त्र पढने का मेरे मन मे प्रारम्भ से ही विचार था, क्योकि मैं इण्टरमीडिएट मे तर्कशास्त्र का विद्यार्थी था। स्नातक मे प्रवेश के समय दर्शन विभाग के विभागाध्यक्ष प्रो० सगमलाल पाण्डेय जी थे। मुझे प्रो० सगमलाल पाण्डेय जी का तो अपार स्नेह मिला ही साथ ही साथ प्रो० डी० एन० द्विवेदी, प्रो० रामलाल सिह, डॉ० छोटेलाल त्रिपाठी जैसे विदग्धजन का परम स्नेह ही, मुझे दर्शनशास्त्र मे स्नातकोत्तर करने की प्रेरणा प्रदान की है। स्नातकोत्तर मे मैंने वैकल्पिक प्रश्न–पत्र के रूप मे बौद्ध–दर्शन को चुना। इसी काल मे डॉ० छोटेलाल त्रिपाठी के सानिघ्य का अवसर मिला। जो प्राय ग्रीक दर्शन पढाते समय बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तो का भी समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया करते थे। स्नातकोत्तर की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् मैंने डॉ० त्रिपाठी जी के ही निर्देशन मे शोध कार्य करने की इच्छा व्यक्त की और इन्ही की प्रेरणा से मैने "बौद्ध दर्शन के भ्रम सिद्धान्त की समीक्षा" शोध–विषय पर अनुसन्धान कार्य करने का निश्चय किया।

विश्वविद्यालय अनुसधान आयोग की अनुसधान वृत्ति प्राप्त करके लेखक ने अपने गुरूवर डॉ० छोटेलाल त्रिपाठी की प्रेरणा तथा परामर्श से अपना शोध–विषय 'बौद्ध दर्शन के भ्रम सिद्धान्त की समीक्षा' वर्तमान विभागाध्यक्ष प्रो० डी० एन० द्विवेदी जी के समक्ष प्रस्तुत किया, जिसकी स्वीकृति करने के पश्चात् लेखक ने डॉ० त्रिपाठी के सुयोग्य निर्देशन मे इस गम्भीर कार्य को सम्पन्न करने का उपक्रम किया।

वैसे तो बौद्ध दर्शन मे भ्रम–विचार कोई नवीन विचार नही है। पहले वेद–उपनिषद् मे ही हमे यह सिद्धान्त प्राप्त हो चुका है। इस दृष्टि से विचार करने पर मेरे इस प्रयास को 'नामूल लिख्यिते किचित्' कहा जा सकता है, लेकिन सुसम्बद्धता एवं नवीन पद्धति व विचार की दृष्टि से एक प्रकार की नवीन व्याख्या भी कही जा सकती है। भारतीय दर्शन मे भ्रम–विचार प्राय शास्त्रार्थ का विषय रहा है। इस कारण यह शोध–विषय बौद्ध दर्शन मे कुछ दुरूह अवश्य है। मैने इस विषय के प्रतिपादन के अन्तर्गत उन दुरूह विषयो एव पारिभाषिक शब्दो को परिवर्तित नहीं किया है, क्योकि ऐसा करने पर उन शब्दो के द्वारा लक्षित अर्थो की यथार्थ रूप मे उपलब्धि नहीं हो सकती थी, अतएव बौद्ध–दर्शन में प्रयुक्त पारिभाषिक या दुरूह शब्दो का प्रयोग तद्रूपो मे ही इस शोध–प्रबन्ध में हुआ है।

"बौद्ध—दर्शन के भ्रम—सिद्धान्त की समीक्षा" नामक शोध—विषय मे मैने भ्रम की व्याख्या दो दृष्टियो से की है। प्रथम—दृष्टिकोण ज्ञानमीमासीय है, द्वितीय— दृष्टिकोण तत्वमीमासीय है। प्रथम अध्याय मे हमने बौद्ध दर्शन के उद्‌भव—विकास के अन्तर्गत प्रारम्भिककाल से लेकर आचार्य धर्मकीर्ति तक बौद्ध—दर्शन के विचार के विकास की बातो का अवलोकन किया है। द्वितीय अध्याय मे वेद—उपनिषदो के साथ भ्रम—विचार की सगति बिठाने का प्रयास किया है, साथ ही साथ वैदिक दर्शन मे अध्यास या भ्रम की अनिर्वचनीयता की सिद्धि करने के लिए विभिन्न भ्रम—सिद्धान्तो का विवेचन प्रस्तुत किया है। आगे चलकर भ्रम के सम्बन्ध मे कुछ वैष्णव दार्शनिको के मतो की भी तुलना की गयी है। तृतीय अध्याय के अन्तर्गत भ्रम—सिद्धान्त की ज्ञानमीमासीय दृष्टि से विवेचना की गयी है। इसमे ज्ञान के स्रोत— प्रत्यक्ष और अनुमान की प्रामाणिकता को लेकर वसुबन्धु, दिड्‌नाग और आचार्य धर्मकीर्ति के विचारो को प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ अध्याय मे, भ्रम की तत्वमीमासीय दृष्टि से विवेचना की गयी है। प्रत्यक्ष और अनुमानजन्य ज्ञान के अन्तर्गत हमने जो विवेचना की है, यदि उस ज्ञान के विपरीत कोई ज्ञान प्राप्त होता है तो वह ज्ञान भ्रमात्मक ज्ञान होता है। इसी भ्रमात्मक ज्ञान को वसुबन्धु, दिड्‌नाग एव धर्मकीर्ति ने क्रमश प्रत्यक्षाभास एव हेत्वाभास कहा है। अध्याय के अन्त मे विज्ञानवाद के आत्मख्यातिवादी नामक भ्रम सिद्धान्त के अन्तर्गत एकमात्र—आन्तरज्ञान को ही सत्य माना, बाह्य वस्तुएँ असत्य है। विज्ञान के अतिरिक्त बाह्य वस्तुओ की सत्ता नही है, जो कुछ भी है वह विज्ञान ही है। दिड्‌नाग आन्तरिक प्रत्यय को ही बाह्य वस्तुओ के रूप मे शासित मानते है। ये ही आन्तरिक प्रत्यय ग्राह्य—ग्राहकता के रूप मे अवभासित होते है। वस्तुत ग्राह्य और ग्राहक दोनो ही को आन्तरिक मानते है, और बाह्यता को अलीक कहा है। शकर के अनुसार अलीक की प्रतीति ही सभव नहीं है। शून्यवाद के असत्‌ख्यातिवादी नामक भ्रम सिद्धान्त के अन्तर्गत बाह्य वस्तुएँ अबोध्य होने के कारण अवास्तव है। इन्होने वस्तुओ को 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' कहा है। शून्यवाद और शकर मे हमे जो अन्तर प्राप्त होता है वह यह है कि शून्यवाद बाह्य वस्तु की सत्तासिद्धि पर जोर नही देता जबकि शकर प्रपच के अनिर्वचनीयत्व की सिद्धि पर जोर देते है। पॉचवे अध्याय मे कुछ पाश्चात्य दार्शनिको की तुलना की गयी है। भ्रम—सिद्धान्त के साथ प्लेटो, स्पिनोजा, बर्कले, ह्यूम, काण्ट और ब्रैडले के जगत् विषयक धारण की तुलना की गयी है। अन्य पाश्चात्य दार्शनिको की अपेक्षा इनकी जगत्—विषयक धारणा बौद्ध के भ्रम—सिद्धान्त से कुछ साम्य रखती है। लेकिन मत—भिन्नता को भी दिखाया गया है। अध्याय के अन्त मे अस्तित्ववादी विचारधारा की सामान्य तुलना प्रस्तुत की गयी है।

अन्तिम अध्याय के अन्तर्गत अन्य दार्शनिक मतो को तुलनार्थ लिया है। वैसे तुलना करना ही इस शोध–ग्रन्थ का लक्ष्य नहीं है। क्योकि प्रत्येक दार्शनिक मत अपने मे एक विशेष दृष्टिकोण का पोषक होता है, फिर भी तुलना करने से हमे अपने सिद्धान्त या मत की स्पष्ट करने मे सहायता अवश्य मिलती है। उक्त दोनो अध्यायो मे हमने अपने सिद्धान्त की स्पष्टता की दृष्टि से तुलना को उचित माना है।

बौद्ध–दर्शन के भ्रम–सिद्धान्त की समीक्षा के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है, कि आचार्य शकर का मत 'अनिर्वचनीय ख्याति मे हमको अधिक उपयुक्त और तर्कसगत प्रतीत होता है।

अपनी सम्पूर्ण रहस्यात्मका और दुरूहता के परिवेश मे निमीलित शोध–विषय के अध्ययन मे गति तथा दृष्टि की प्राप्ति मे श्रद्धेय गुरुवर डॉ० छोटेलाल त्रिपाठी की विशेष अनुकम्पा रही है। नि सन्देह लेखक के लिए यह गुरुतर कार्य असम्भव था यदि आदरणीय गुरुवर की कृपा का प्रसाद उसे न प्राप्त होगा। स्थान–स्थान पर अनेक उलझी हुई तथा विवादस्पद स्थितियो मे गुरुवर ने इस कार्य को अत्यन्त सरल बना दिया। लेखक उनके प्रति अत्यधिक कृतज्ञ है। इस विषय को समझने तथा हृदयगम करने मे लेखक को जिन अनेक विद्वानो और मनीषियो के सम्पर्क मे जाने का सौभाग्य मिला। मै अपना आभार दर्शन के विख्यात विद्वान और इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पूर्व–विभागाध्यक्ष प्रो० सगमलाल पाण्डेय, वर्तमान विभागाध्यक्ष दर्शन–विभाग प्रो० डी० एन० द्विवेदी, प्रो० रामलाल सिह, डॉ० जयशकर त्रिपाठी, डॉ० हरिशकर उपाध्याय आदि विद्वानो के प्रति करना चाहता हूँ जिनके कुशल निर्देशन मे मैने यह दुरूह कार्य सफलता पूर्वक सम्पन्न किया। इस कार्य मे मै जब भी उनके पास कठिन दार्शनिक ग्रन्थियो को लेकर पहुँचा करता था, वे अपनी बौद्धिक प्रखरता से उन ग्रन्थियो को सुलझाा देते थे एव आगे के कार्य के लिए भी अमूल्य एव विद्वतापूर्ण परामर्श देकर मेरे लिए पथ प्रशस्त कर देते थे। इन सब बातो के लिए मैं मात्र धन्यवाद देकर उनसे ऋणमुक्त नहीं होना चाहता, एतदर्थ मैं मात्र इतना ही कह सकता हूँ कि उनके कृतज्ञताभार से मेरा मस्तक सर्वदा उनके प्रति नत रहेगा। और मैं सर्वदा उनका ऋणी रहूँगा।

मै कदापि नहीं भूल सकता, सस्कृत के प्रख्यात विद्वान्, प्रो० सुरेशचन्द्र पाण्डेय, पूर्व–विभागाध्यक्ष संस्कृत–विभाग, को, जिन्होने मुझे इस शोध–विषय की व्यापकता व दुरूहता से अवगत कराया। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति एव पूर्व विभागाध्यक्ष सस्कृत–विभाग, डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र एवम् बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग अध्यक्ष, प्रो आर. आर.

पाण्डेय के प्रति मै कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। इन विद्वानो ने मेरे इस अनुसन्धान कार्य मे समय–समय पर मौखिक एव पत्र द्वारा अमूल्य परामर्श देकर मुझे इस कार्य मे सफल बनाया है।
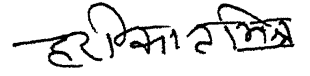
मै अपनी शोध यात्रा के दौरान श्रद्धेया डा० सत्या पाण्डेय, प्राचार्य बजरग स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कुण्डा, प्रतापगढ, का जो कि दर्शन–विदुषी, विद्यानुरागिणी और सरलता की साक्षात् मूर्ति है, का हृदय से आभारी हूँ कि इन्होने मुझे इस कार्य मे समय–समय पर प्रोत्साहित किया है। विषय की विवधता एव विशालता ने अनेको मूर्धन्य गुरूजनो से ज्ञान रूपी आशीर्वाद द्वारा आलोकित होने का सुअवसर प्रदान किया, इस श्रृखला मे श्री राममूर्ति पाठक (अध्यक्ष, दर्शन–विभाग), डॉ० राममुनि पाण्डेय (सस्कृत–विभाग), इलाहाबाद डिग्री कालेज, इलाहाबाद एव डॉ० दुर्गादत्त पाण्डेय (दर्शन विभाग) गनपतसाहय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सुल्तानपुर, के नामो का सादर उल्लेख करते हुए जिस गौरव की अनुभूति हो रही है, उसे शब्दांकित कर पाना दुर्लभ है।

लेखक अपने पूज्य माता–पिता के प्रति अत्यधिक कृतज्ञ है, जिन्होने अपने वात्सल्य तथा सरक्षण से उसे इस योग्य बनाया कि वह शिक्षा के इस उच्चतर शिखर पर आरूढ करने मे स्वय को समर्थ बना सका। इस कार्य मे लेखक के पूज्य बडे पिता जी श्री रामकुमार मिश्र का, अग्रज श्री दयानन्द मिश्र, पूज्य श्वसुर श्री रमाशकर त्रिपाठी एव श्रद्धेय चाचा जी डॉ० राजकुमार का आशीर्वाद सदैव मेरे साथ रहा तथा उनकी सद्भावना, प्रेरणा और विश्वास के कारण यह दुरूह कार्य पूर्ण हुआ। अत इनके प्रति मै श्रद्धावनत हूँ। मेरे मित्र हरि गोविन्द मिश्र, उत्तम सिह, अनिल सिह भदौरिया, राजीव दीक्षित मेरे लघु भ्राता प्रभाकर मिश्र, शशिकान्त, सुरेन्द्र मोहन मिश्र एव दिनेश मिश्र का सहयोग उल्लेखनीय व सराहनीय है, जिनके विशेष सहयोग के बिना यह कार्य असभव था अपनी सहधर्मिणी श्रीमती सुषमा मिश्रा तथा शिशु कन्या आयुषी मिश्रा का सहयोग विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिन्होने घर के वातावरण को लिखने पढने के योग्य तथा सौहार्दपूर्ण बनाये रखा।

लेखक इस विषय को समझने तथा हृदयगम करने मे अनेक पुस्तकालयो और सस्थाओ के साथ–साथ जिन पुस्तकों या विचारो का मैने इस शोध–प्रबन्ध मे उपयोग किया है, उन सबके प्रति मै श्रद्धावनत हूँ और आभार व्यक्त करता हूँ। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की अनुसन्धानवृत्ति की नियमित प्रगति तथा अन्य कार्यालयीय औपचारिकताओ के सन्दर्भ में लेखक को अपने निर्देशक महोदय डॉ० छोटेलाल त्रिपाठी, तथा अन्य सम्बन्धित व्यक्तियों का सम्पूर्ण

सहयोग मिला, जिसके फलस्वरूप बिना किसी आर्थिक कठिनाई के वह अपना शोधकार्य पूर्ण कर सका, इसके लिए वह सभी के प्रति आभारी है। टकण कार्य मे मै 'राका प्रकाशन' के व्यवस्थापक बडे भाई सदृश श्री राकेश तिवारी एव टाइपिष्ट श्री जितेन्द्र कुमार मिश्र, श्री नीरज कुमार श्रीवास्तव, श्री रघुवश तिवारी जी के प्रति समस्त मनोभावो के साथ आभार प्रकट करता हूँ, जिनके सहयोग के फलस्वरूप यह कार्य पुस्तक का रूप ले सका। टकीय त्रुटि सशोधन मे मै अपने सभी मित्रो व सहयोगियो का विशेष रूप से आभारी हूँ, जिन्होने शोध प्रबन्ध के टकण कार्य तथा तत्सम्बन्धित सभी कार्यो मे यथासम्भव सहयोग दिया।

अन्त मे मै जहॉ यह दावा करता हूँ कि यह शोध प्रबन्ध अपने ढग की मौलिक कृति है, वहॉ मै अपनी भ्रान्तियो, विवशताओ एव परिसीमाओ को भी स्वीकार करता हूँ।

हरीकान्त मिश्र

हरीकान्त मिश्र

प्रथम अध्याय

बौद्ध दर्शन का उद्भव एवं विकास

प्रथम अध्याय

बौद्ध दर्शन का उद्‌भव एवं विकास

(प्रारम्भिक काल–त्रिपिटक आदि, मैत्रेय, असग, वसुबन्धु, दिङ्नाग से लेकर आचार्य धर्मकीर्ति तक)

भारतवर्ष मे बौद्ध दर्शन का अस्तित्व भगवान् बुद्ध से लेकर ग्यारहवी शती के आरम्भ तक रहा, जिसे. प्रसिद्ध रूसी दार्शनिक श्चेरबात्स्की ने तीन समान कालो मे विभक्त किया है। प्रथम काल ५०० ई० पूर्व से प्रथम शती ई० तक, द्वितीय काल प्रथम शती से ५०० ई०, तथा तृतीय काल ५०० से लेकर ११वी शती का प्रारम्भ अथवा १००० ई० तक निर्धारित किया है।

बौद्ध दर्शन का प्रथम काल

बुद्ध के समय मे भारत दार्शनिक चिन्तन की प्रचुरता और मोक्ष के आदर्श की पिपासा से ओत–प्रोत था।

बौद्ध–दर्शन का आरम्भ पुद्‌गल (मानव व्यक्तित्व) का (उसका) निर्माण करने वाले विभिन्न धर्मों के रुप मे सूक्ष्म विश्लेषण से हुआ। सर्वप्रथम पुद्‌गल के धर्मो का सास्रव–अनास्रव, साक्लेश–व्यावदानिक, तथा कुशल–अकुशल के रूप मे विभाजन किया गया। इस सम्पूर्ण–सिद्धान्त को 'साक्लेश-व्यावदानिको धर्म' कहा गया है। मोक्ष की कल्पना और उसका प्रतिपादन निरोध (शान्ति–निर्वाण) की अवस्था के रूप मे किया गया। अत साधारण जीवन अथवा ससार को दु ख की अवस्था मान लिया गया। इस प्रकार, ऐसी नैतिक विशेषताओ अथवा शक्तियो को व्यावदानिक कहा गया है जो निर्वाण की प्राप्ति कराती हैं और ऐसो को साक्लेशक जो अनुशय (दु.ख–पोषक) है। धर्मो के इन दो परस्पर विरोधी वर्गों के अतिरिक्त प्रत्येक मानसिक जीवन के तल मे स्थित कुछ अन्य सामान्य, निरपेक्ष तथा आधारभूत धर्मों को भी ढूँढा गया, किन्तु उनके सामान्य आगार के रूप मे किसी का निर्धारण नही किया जा सका। इसीलिए कोई अह नहीं, कोई आत्मा नहीं, (अनात्मवाद) कोई व्यक्तित्व नही (पुद्‌गलो नास्ति–अनात्मत्व–नैरात्म्य–पुद्‌गल–शून्यता)।

प्रारम्भिक बौद्धमत का यही, अर्थात् अनात्मवाद ही, प्रथम प्रमुख विशेषता है। अनात्मवाद बौद्धमत का एक दूसरा नाम ही है।

वाह्य आयतन का भी उसका निर्माण करने वाले धर्मो के अन्तर्गत विश्लेषण किया गया है। यह व्यक्तित्व या पुद्गल अपेक्ष्य भाग, उसका ऐन्द्रिक विषय है बौद्ध मत के पूर्व ही कुछ दार्शनिक मत थे जो ऐन्द्रिक विषय एक सुसहत को वस्त्वात्मक और नित्य तत्व, प्रधान की परिवर्तनशील अभिव्यक्ति मानते थे। बौद्ध मत ने इस सिद्धान्त का परित्याग कर दिया और भौतिक तत्व भी उतने ही परिवर्तनशील, अनित्य और प्रवहमान हो गये जितने मानसिक माने जाते थे। आरम्भिक बौद्ध मत की यह दूसरी विशेषता है कोई पदार्थ नहीं, कुछ भी स्थायी नहीं, सब कुछ पृथक्, बिना किसी तत्व के ही कार्यसाधक शक्ति का क्षणिक स्फुरण, सतत् सामजस्य, अस्तिवात्मक क्षणों का एक प्रवाह मात्र है।

एक अन्य विशेषता के अन्तर्गत हेतु–प्रत्यय–व्यवस्था अर्थात भौतिक और नैतिक कारणत्व या हेतुत्व को स्थान दिया गया है। क्षणभगुर तत्वो का प्रवाह एक अस्त–व्यस्त पद्धति नहीं थी। प्रत्येक तत्व चाहे एक क्षण के लिए ही प्रकट हो, वह प्रतीत्यसमुत्पन्न होता है। 'अस्मिन् सति इद भवति' के सिद्धान्त के आधार पर यह विशुद्ध हेतुवाद के अनुरूप ही है। इस प्रकार बौद्ध मत की यह तीसरी विशेषता है।

एक अन्य विशेषता इस तथ्य मे निहित है कि अस्तित्व के धर्मो को भौतिक धर्मो की अपेक्षा बहुत कुछ सस्कारो या सस्कृत–धर्म के समान माना जाता है। मानसिक धर्म या 'चित्त चैत्त' स्वभावत नैतिक, अनैतिक अथवा निर्लिप्त शक्तिया होती थीं। पदार्थ–धर्म की कल्पना एक ऐसी वस्तु के रूप मे की गई जिसमे स्वय पदार्थ की अपेक्षा पदार्थवत् प्रतीत होने की क्षमता थी। अत उन्हे 'सह–सस्कृतधर्म' या सस्कार कहा गया।

इस प्रकार, आरम्भिक बौद्ध मत मे असख्य विषयो के प्रवाह से युक्त एक ऐसे संसार की खोज की जो एक ओर तो, हम जो कुछ देखते, सुनते, सूघते, स्वाद लेते और स्पर्श करते हैं उसका आयतन (रूप–शब्द–गन्ध–रस–स्पृष्टव्य–आयतनानि) है, और दूसरी ओर, वेदना, सज्ञा और सस्कारो– ये सस्कार चाहे अच्छे हो या बुरे– से मुक्त साधारण ज्ञान है, किन्तु जिसमे कोई आत्मा नहीं, कोई इश्वर नहीं, कोई पदार्थ नहीं, सामान्य रुप से कोई भी स्थायी या पदार्थभूत वस्तु नहीं है। बौद्ध दर्शन की एक अन्य विशेषता लक्षित होती है, ऐसी विशेषता जो सर्वथा भौतिकवादियों के अपवाद के अतिरिक्त भारत के अन्य सभी दर्शनों में समान रूप से उपलब्ध है। यह विशेषता है मोक्षवाद। इस अभीष्ट के मार्ग की शिक्षा देने मे बौद्धों का पूर्वगामी आरम्भिक भारतीय योग है। बौद्ध

दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण मतवाद को तथाकथित चार 'सत्यो' अथवा चार आर्य–सत्यो के सूत्र के रूप मे सक्षिप्त कर दिया गया है, यथा–

(१) जीवन एक अशान्त सघर्ष है, (२) इसकी उत्पत्ति पापपूर्ण वासनाओ से होती है, (३) चिरन्तन शान्ति ही चरम अभीष्ट है, और (४) एक ऐसा मार्ग है जहॉ जीवन के निर्माण मे सहायक समस्त सस्कार क्रमश लुप्त हो जाते है।

इस प्रकार बौद्ध दर्शन के प्रथम काल, धर्म चक्र के प्रथम प्रवर्तन के यही प्रमुख विचार है, इसे कदाचित् नही किसी धर्म का प्रतिनिधित्व करने वाला कहा जा सकता है। इस काल का अर्थात् अशोक के बाद का बौद्ध दर्शन साधारण महत्व की बातो पर अट्ठारह सम्प्रदायो मे विभक्त था। वत्सी पुत्रियो के सम्प्रदाय द्वारा एक छायात्मक, अर्द्धवास्तविक व्यक्तित्व की स्वीकृति ही इस दर्शन की भौतिक रूपरेखा से एकमात्र महत्वपूर्ण विचलन था।

बौद्ध दर्शन का द्वितीय काल

बौद्ध दर्शन के इतिहास के द्वितीय काल का विकास पाचवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे, इसमे, इसके दर्शन मे, और धर्म के रूप मे, इसकी प्रकृति मे, एक मौलिक परिवर्तन हुआ। इसने उस मानव बुद्ध के आदर्श का परित्याग कर दिया जो एक निर्जीव निर्वाण मे सर्वथा विलीन हो जाते है और उनके स्थान पर जीवन से परिपूर्ण निर्वाण मे अधिष्ठित एक दिव्य बुद्ध के आदर्श को प्रतिष्ठित किया। साथ ही साथ, इसने अपने दर्शन को एक मौलिक बहुतत्ववाद से मौलिक एकतत्ववाद मे परिवर्तित कर दिया। यह परिवर्तन भारत के उन ब्राह्मण धर्मो के विकास का समसामयिक प्रतीत होता है, जिनमे लगभग इसी समय महान राष्ट्रीय देवता, शिव और विष्णु की उपासना होने लगी और उन्हे एकतत्ववादी दर्शन की पृष्ठभूमि पर स्थापित किया गया। आरम्भिक बौद्ध दर्शन के बहुतत्ववाद द्वारा स्थापित समस्त भौतिक और मानसिक धर्मो को परस्पर सम्बद्ध धर्म (सस्कृत–धर्म) अथवा सहकारी शक्तियॉ (सस्कार) माना गया था। ये सभी परस्पर सम्बद्ध, परस्पर अपेक्ष्य और स्वभावशून्य थे। पूर्वकाल मे समस्त पुद्गलो, समस्त स्थायी तत्त्वो, आत्माओ और पदार्थो के लिए चरम सत्य को अस्वीकार किया गया था। नवीन बौद्ध दर्शन मे न केवल उनके धर्म, ऐन्द्रिक प्रदत्त और चेतना के आधारभूत प्रदत्त ही, वरन् समस्त चित्त संप्रयुक्त–सस्कार भी एक

द्वन्द्वात्मक विनाश की पद्धति मे आत्माओ का अनुगमन करने लगे। आरम्भिक वादो को अनात्मवाद या नि स्वभाववाद नाम दिया गया है।

नवीन बौद्ध दर्शन की यह प्रथम प्रमुख विशिष्टता है, कि यह धर्मों के उस चरम सत्य को अस्वीकार करता है जिसे आरम्भिक बौद्ध–दर्शन मे सत्य के रूप मे स्वीकार किया गया है। नवीन बौद्ध दर्शन की द्वितीय विशेषता यह है कि यह वास्तविक हेतुवाद को एक गतिरहित सम्पूर्णता मे विलीन करके उसका सर्वथा निराकरण करती है।

नवीन बौद्ध दर्शन मे दो वास्तविकताए हो गई– एक सवृत्ति सत्य और दूसरा सावृत सत्य (परमार्थ सत्य)। एक वास्तविकता का भ्रान्तिमय पक्ष है, और दूसरा वास्तविक जो उसका चरम स्वरूप है। नवीन बौद्ध दर्शन की इन दो वास्तविकताओ या 'दो सत्यो' ने पहले के मतवाद के 'चार सत्यो' का अधिक्रमण कर दिया।

आरम्भिक, बौद्ध दर्शन के समस्त धर्मो को, जिन्हे केवल निर्वाण मे ही प्रसुप्त किन्तु साधारण जीवन मे सक्रिय सस्कार माना गया था, यहाँ चिर प्रसुप्त और उनकी सक्रियता को केवल एक भ्रम माना गया। इस प्रकार, यत यह अनुभूत जगत् केवल एक भ्रमात्मक प्रतीति है जिसके नीचे साधारण मनु के सीमित बोध के लिए निरपेक्ष अपने को अभिव्यक्त करता है, अत दोनो के तल मे कोई सारवान अन्तर नहीं है। निरपेक्ष सत्य के इस पक्ष का साधारण अनुभवात्मक आयतनो के द्वारा बोध भी नही हो सकता हैं। सत्य ज्ञान का एकमात्र स्रोत अर्हत् का योगिक ज्ञान और उस नवीन बौद्ध धर्म ग्रन्थो द्वारा उद्घाटित ज्ञान है, जिसमे जगत् का एक तत्त्वात्मक दृष्टिकोण ही उसकी अद्वितीय विषयवस्तु है। यह नवीन बौद्ध दर्शन की एक अन्य उल्लेखनीय विशिष्टता है, अर्थात् इसके द्वारा समस्त न्यायशास्त्र की निर्मम भर्त्सना और योग तथा सत्योद्घाटन का प्रामुख्य।

बौद्ध दर्शन भी हिन्दूधर्म की भांति एक प्रकार के लौकिक बहुदेवत्ववाद के पीछे अलौकिक विश्व देवैक्यवाद की अभिव्यक्ति करने लगा। पूजा के स्वरूप के लिए इसने प्रचलित अद्भुत कृत्यो, अथवा तथाकथित तान्त्रिक सस्कारो को ग्रहण किया। अपने मूर्तिविषयक आदर्शो की पूर्ति के लिए इसने, आरम्भ मे यूनानी कलाकारो की कुशलता का प्रयोग किया।

इस प्रकार बौद्ध दर्शन के विकास के द्वितीय क्रम मे, गम्भीर परिवर्तनो ने प्रवेश किया। इसके उपरान्त बौद्धदर्शन के तृतीयकाल के विकास का सक्षिप्त निरूपण किया जा रहा है।

बौद्ध दर्शन का तृतीय काल

दूसरी पॉच शताब्दियो के पश्चात्, भारत मे बौद्ध दर्शन के इतिहास की प्रथम सहस्राब्दी के अन्त मे, इसके दर्शन के स्वरूप मे एक और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। यह विकास भारतीय सभ्यता के स्वर्णयुग का समकालीन था, जब भारत का अधिकाश भाग गुप्तो के राष्ट्रीय वश के समृद्धिशाली शासन के अन्तर्गत था। इस काल मे कला और विज्ञान ने अपनी चरम सीमा प्राप्त की और बौद्धो ने इस पुनर्जागरण मे महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया। अन्तत बौद्धदर्शन को महान व्यक्तियो, पेशावर के निवासी दो भ्राताओ, अर्हत् असड्ग और आचार्य वसुबन्धु ने एक नवीन दिशा प्रदान की। प्रत्यक्षत नवीन युग की भावना के अनुरूप ही, समस्त न्याय की भर्त्सना का, जो पिछले काल की विशिष्टता थी, परित्याग कर दिया गया और बौद्धो ने नैय्यायिक विषयो मे गहन अभिरूचि प्रकट करना प्रारम्भ किया। इस काल की यह प्रथम उल्लेखनीय विशेषता है, अर्थात् न्यायशास्त्र मे गहन अभिरूचि, जो इस काल के अन्त तक सर्वव्यापी हो गई और इसने बौद्ध दर्शन के पिछले सभी सैद्धान्तिक रूपो का अधिक्रमण दिया।

इस नवीन परविर्तन का आरम्भ विन्दु बहुत कुछ *'Cogito ergo sum'* (मैं विचार करता हूँ, इसलिए मै हूँ स्व-सवदेना[1]) पूर्ण मायावादी सम्प्रदाय के विरुद्ध बौद्धो ने अब घोषणा की कि 'हम स्व-सम्वेदना की वैधता को अस्वीकार नहीं कर सकते, क्योकि यदि हम स्वसम्वेदना को अस्वीकार करते है तो हमे स्वय चेतना को ही अस्वीकार करना होगा, और तब सम्पूर्ण जगत् सर्वथा अन्धत्व की अवस्था मे परिणत हो जाएगा।' 'यदि हम यह नहीं जानते कि हम एक नील–पट देख रहे है, तो स्वय नीलेपन को हम कभी नही जान सकते। अत स्व-सम्वेदना को ज्ञान के एक सार्थक स्रोत के रूप मे अवश्य स्वीकार करना चाहिए।' स्वसम्वेदना की समस्या ने सम्पूर्ण भारत तथा साथ ही साथ बौद्धो को भी दो दलो– इसके समर्थको और इसके विरोधियो– मे विभक्त कर दिया, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मूलत इस सिद्धान्त का उद्देश्य माध्यमिको के अतिसशयवाद का प्रतिकार करना था। बौद्ध दर्शन के इस तृतीय काल की यह द्वितीय विशिष्टता है।

अन्तत, नवीन बौद्ध दर्शन की एक प्रमुख विशिष्टता उसका 'आलय विज्ञान' भी है, जो इस काल के पूर्वार्द्ध मे तो प्रमुख रहा किन्तु उत्तरार्द्ध मे छोड दिया गया। कोई बाह्य जगत् नहीं और उसका ज्ञान प्राप्त करने वाली कोई सम्वेदना नहीं, केवल एक ही सम्वेदना है जो स्व-सम्वेदनात्मक अर्थात् वह है जो केवल अपने ही स्वत्व का ज्ञान प्राप्त करती है। अत जगत् या वास्तविक ससार

को ऐसे सम्भाव्य विचारो के अपार विस्तार द्वारा निर्मित माना गया जो चेतना के सग्रहालय मे प्रसुप्त पडे रहते है। नवीन बौद्ध दर्शन ने इस प्राचीन परम्परा मे 'ईश्वर की बुद्धि' के स्थान पर 'आलय विज्ञान' को, और उसकी इच्छा के स्थान पर 'अनादिवासना' को स्थापित कर दिया गया। बौद्ध दर्शन क अन्तिम काल की यह अन्तिम उल्लेखनीय विशिष्टता है।

पिछले दो कालो की भाति यह काल भी उग्र और अनुग्रवादी[२] सम्प्रदायो मे विभक्त है। यहॉ पर यह स्पष्ट हो रहा है कि बाद वाले सम्प्रदाय ने आरम्भ के उग्र आदर्शवाद को छोड दिया और एक गुणागुण विचारयुक्त अथवा बोधातिरिक्त वास्तविकता को स्वीकार किया। इसने आलय–विज्ञान को भी, यह मान कर कि यह प्रच्छन्न आत्मा ही है, छोड दिया।

अन्तत एक धर्म के रूप मे इस काल मे बौद्ध दर्शन बहुत कुछ वैसा ही रहा जैसा कि विगत काल मे था। इस पद्धति को आदर्शवादी सिद्धान्तो के अनुकूल बनाने के लिए निर्वाण, बुद्ध और निरपेक्ष सम्बन्धी सिद्धान्तो मे कुछ परिवर्तन अवश्य किए गये। इस काल के महानतम व्यक्ति मुक्त विचारक प्रतीत होते है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन के विकास की परम्परा के अन्तर्गत प्रथमतया उसके तीनो कालो के विभाजन का सक्षिप्त वर्णन किया गया है। लेकिन इसके साथ ही साथ आगे इस परम्परा से जुडे कुछ अन्य दार्शनिको की भी चर्चा करना अति आवश्यक है। इसमे मुख्यत मैत्रेय, असड्ग, वसुबन्धु, दिड्नाग एव धर्मकीर्ति प्रमुख दार्शनिक हुए, जिन्होने बौद्ध साहित्य के आधार पर मौलिक चिन्तन किया एव भारतीय दर्शन को नयी दृष्टि प्रदान की। इसलिए इनका परिचय दिया जाना आवश्यक समझा गया है।

शेरवात्स्की के विभाजन का आधार सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन एवं उसमे हुए वैचारिक परिवर्तन हैं, किन्तु यहॉ पर सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन का अध्ययन उपेक्षित न होकर मात्र बौद्ध दर्शन के सिद्धान्त मे ज्ञान के लिए किन–किन प्रमाणो की आवश्यकता पडती है, उसी की चर्चा की जा रही है क्योकि सर्वप्रथम भ्रम सिद्धान्त की समीक्षा के पूर्व हमे यह जानना अति आवश्यक है कि ज्ञान क्या है? और इस ज्ञान को प्राप्त करने के स्रोत कौन–कौन हैं? बिना सम्यक् ज्ञान को प्राप्त किए हम अज्ञान या मिथ्या या भ्रम की समीक्षा नहीं कर सकते हैं। अत इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए हम बौद्ध दर्शन मे ग्रथित सम्पूर्ण प्रमाण–विचार को दो भागो में विभक्त कर सकते हैं। बौद्ध प्रमाण–विचार के प्रधान केन्द्र आचार्य दिड्नाग जी हैं। इसके विभाग निम्न हैं–

(१) प्राग् या पूर्व दिड्नाग प्रमाण विचार (पाचवी शती के प्रारम्भ तक)

(२) दिड्नाग एव उनके सम्प्रदायवर्ती प्रमाण मीमासा (पाचवी शती से ग्यारहवी शती तक)

दिड्नाग के पूर्व का अध्ययन क्षेत्र भी विस्तृत है, अत उसे सौविध्य के लिए पुन दो उपविभागो मे बाट सकते हैं–

१ त्रिपिटककालीन एव २ त्रिपिटकोत्तरवर्ती।

त्रिपिटककालीन

सम्पूर्ण त्रिपिटक साहित्य मे प्रमाणशास्त्र का निरूपण करने वाला एक भी स्वतन्त्र ग्रन्थ नही है। त्रिपिटको मे कहीं–कहीं तक्की अथवा तक्किक एव विभसी शब्दो का प्रयोग अवश्य हुआ है, जो तत्कालीन 'तार्किक लोगो के परिचायक प्रतीत होते है। अभिधम्मपिटक के कथावत्थुप्पकरण (२५५ ई०पू०) मे परिण्णा (प्रतिज्ञा), उपनय एव निग्गह (निग्रह) शब्दो का प्रयोग हुआ है[3], जो स्पष्टत न्याय की पारिभाषिक शब्दावली मे मिलते है।

त्रिपिटको के आधार पर वसुबन्धु ने अभिधर्म कोश (७ २–४) मे ज्ञान के दश प्रकार निरूपित किए है, यथा– धर्मज्ञान, अन्वयज्ञान, सवृतिज्ञान, दु खज्ञान, समुदयज्ञान, निरोधज्ञान, मार्गज्ञान, परिचितज्ञान, क्षयज्ञान और अनुत्पादज्ञान। इन ज्ञानो का प्रमाण विचार के साथ आचार्यों ने कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया है, किन्तु आगे चलकर प्रत्यक्ष एव अनुमान के रूप मे जो दो प्रमाण माने गये है, उनमे उन ज्ञानो का समावेश सभव है।

त्रिपिटकोत्तरवर्ती

त्रिपिटको के उत्तरवर्ती काल द्वितीय शती ई० से पचमशती ई० मे नागार्जुन, मैत्रेय, असंग, वसुवन्धु, दिड्नाग एव धर्मकीर्ति प्रमुख दार्शनिक हुए, जिन्होने त्रिपिटक साहित्य के आधार पर मौलिक चिन्तन किया एव भारतीय दर्शन को नयी दृष्टि प्रदान किया। प्रमाण–चिन्तन के क्षेत्र मे इनका अत्यधिक महत्त्व है, इसलिए इनका एतद् विषयक परिचय दिया जा रहा है।

नागार्जुन

ये न केवल बौद्ध दर्शन मे अपितु सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। नागार्जुन माध्यमिक सम्प्रदाय के सस्थापक आचार्य थे। नागार्जुन ने सत्, असत् उभय एव अनुभय

इन चार कोटियो से वहिर्भूत शून्य तत्व का निरूपण किया। नागार्जुन के लिए न बाह्य प्रमेय अर्थसत् है और न प्रमाण सत् है। वे प्रमाण का खण्डन कर प्रमेय का भी खण्डन कर देते है तथा शून्य तत्व को सिद्ध करते है। प्रामाण्य विचार के सदर्भ मे उनकी शून्यता का अर्थ है– वह प्रज्ञा जो किसी सत्य को आत्यन्तिक रूप से सत्य नहीं मानती।[४]

नागार्जुन (११३–२१३ ई०) की प्रमुख रचनाए है– (१) मूल माध्यमिक कारिका, (२) युक्ति षष्टिका कारिका (३) विग्रह व्यावर्तनी (४) वैदल्यसूत्रप्रकारण आदि। मूल माध्यमिक कारिका माध्यमिक सम्प्रदाय का प्रथम ग्रन्थ है। इसमे आर्य नागार्जुन ने न्याय के पारिभाषिक शब्दो का यदा कदा प्रयोग किया है। यथा– चौथे अध्याय मे 'साध्य सम' शब्द का प्रयोग हुआ है।[५] युक्ति–षष्टिका मे युक्तियो अथवा तर्क के सम्बन्ध मे ६० कारिकाओ की रचना की गई है। न्यायशास्त्र के सम्बन्ध मे नागार्जुन की जो कृति प्रसिद्ध हुई है वह है विग्रह व्यावर्तनी की विषयवस्तु को प्रमाणशास्त्र के सदर्भ मे जानना उपादेय है।

मैत्रेय (३०० ई०)- योगाचार दर्शन के सस्थापक आचार्य मैत्रेय ने विज्ञानवाद से सम्बद्ध अनेक कृतियो का निर्माण किया है, जिनमे बोधिसत्वचर्यानिर्देश, सप्तदशाभूमिशास्त्र, योगाचार्य एव अभिसमयालकारिका प्रमुख हैं। मैत्रेय के अनुसार साध्य की सिद्धि के लिए प्रतिज्ञा को हेतु एव दो उदाहरणो का समर्थन मिलना चाहिए। मैत्रेय ने गौतम प्रणीत उपमान प्रमाण का उल्लेख नही किया है।[६]

असड्ग (३५० ई०)- असड्ग बौद्ध विज्ञान वाद के प्रतिष्ठित आचार्य एव वसुबन्धु के ज्येष्ठ भ्राता थे। ये ३५० ई० मे विद्यमान रहे होगे, ऐसा राहुल सांकृत्यायन का मत है। आचार्य असड्ग ने १२ कृतियो का निर्माण किया, जिनमे अधिकतर अभी भी चीनी एव तिब्बती अनुवादो मे सुरक्षित हैं। इनमे प्रमुख ज्ञात ग्रन्थो मे महायानोत्तर तत्र, सूत्रालकार, योगाचारभूमि, बोधिसत्त्व–पिटकाववाद का नाम उल्लेखनीय है। असग ने न्याय का सक्षिप्त सार उनके प्रकारणार्थवाचा के ग्यारहवे खण्ड मे मिलता है।[७]

असग की कृति योगाचारभूमिशास्त्र ने विशेष प्रसिद्धि अर्जित की, अत. विज्ञानवाद को योगाचार दर्शन के नाम से ही जाना गया। असंग के समय तक न्याय का विशेष विकास नहीं हुआ था। वे योगाचारभूमिशास्त्र मे प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम ये तीन प्रमाण स्वीकार करते हैं, तथा प्रतिज्ञा, हेतु एवं दृष्टात इन तीन को अनुमान का अवयव अंगीकार करते हैं।[८]

वसुबन्धु

असग के छोटे भ्राता वसुबन्धु का जन्म गाधार राज्य के पुरूषपुर नगर मे हुआ था। ये आरम्भ मे वैभाषिक थे, किन्तु असग के द्वारा योगाचार (विज्ञानवाद) मे दीक्षित कर दिये गये।[९] इन्होने वैभाषिक एव योगचार दोनो सम्प्रदायो मे लेखन कार्य किया। परमार्थ ने इनका समय ३१६ ई० से ३९६ ई० प्रतिपादित किया है। भारतीय एव चीनी विद्वानो ने वसुबन्धु को बोधिसत्त्व कहा है। वसुबन्धु की अनेक रचनाए है, जिनमे प्रमुख है– १ अभिधर्म कोश एव भाष्य, २ विशिका, ३ त्रिशिका, ४ मध्यान्तविभग भाष्य, ५ त्रिस्वभावनिर्देश, ६ पचस्कन्ध प्रकरण, ७ कर्मसिद्धि प्रकरण एव ८ वादविधि।

इनमे सबसे प्रमुख न्यायशास्त्र से सम्बन्धित रचना वादविधि है।[१०] इस प्रकार वसुबन्धु के पश्चात् इस कडी मे अगले पायदान के रूप मे हम आचार्य दिङ्नाग का बौद्ध दर्शन के विकास मे क्या योगदान रहा है, उसका सक्षिप्त वर्णन कर रहे है।

दिङ्नाग व उनका सम्प्रदाय (५वीं शती से ११वीं शती)

परमार्थत बौद्ध प्रमाणव्यवस्था का व्यवस्थापन दिङ्नाग से ही आरम्भ होता है। दिङ्नाग का भारतीय प्रमाणशास्त्र के विकास मे महान योगदान है, क्योकि दिङ्नाग के अनन्तर ही न्याय, मीमासा, जैन आदि दर्शनो मे प्रमाणमीमासा के सम्बन्ध मे गहरा ऊहापोह हुआ। गौतम प्रणीत न्यायशास्त्र मे भी प्रमाणचर्चा के साथ प्रमेयचर्चा का अश अधिक था। दिङ्नाग ने प्रमाण समुच्चय नामक विशुद्ध प्रमाणशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना कर अन्य दार्शनिको के लिए चुनौतीपूर्ण कार्य किया है।

सम्पूर्ण भारतीय न्यायशास्त्र को सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने तीन भागो में बॉटा है– प्राचीन न्याय, मध्यकालीन न्याय एव आधुनिक न्याय। प्राचीन न्याय का आधार वे गौतमप्रणीत न्यायसूत्र को बनाते हैं, नव्य–न्याय का आधार गगेश की तत्व चिन्तामणि को स्वीकार करते हैं, तो मध्यकालीन न्याय की सम्पूर्ण बागडोर बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग एव जैन नैयायिक सिद्ध सेन को सौंपते हैं।[११]

सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन का भारतीय प्रमाण विचार के विकास मे जो योगदान रहा है उसका श्रेय दिङ्नाग एव उनके सम्प्रदाय को जाता है। भगवान बुद्ध के पश्चात् बौद्ध धर्म हीनयान एवं महायान दो शाखाओ मे विभक्त हो गया था। हीनयान शाखा के समर्थक वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक सम्प्रदाय

थे, तथा महायान शाखा के समर्थक योगाचार एव माध्यमिक सम्प्रदाय थे। वैभाषिक एव सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के आचार्य प्रमाणमीमासीय शास्त्रो के निर्माण की ओर उन्मुख नही हुए। उनका प्रमुख ध्येय तत्त्व–मीमासीय शास्त्र एव उनकी व्याख्याओ की ओर रहा। महायान शाखा ने प्रमाणमीमासा मे कुशलतापूर्वक भाग लिया। माध्यमिक सम्प्रदाय ने प्रमाण का उत्पाटन किया तो योगाचार सम्प्रदाय ने प्रमाण को स्थिरता प्रदान की। माध्यमिक सम्प्रदाय के सस्थापक आचार्य नागार्जुन ने गौतमप्रणीत न्याय अथवा प्रमाण का अनौचित्य प्रतिपादित कर उस पर ऐसा प्रहार किया कि नागार्जुन के पश्चात् लम्बे समय तक बौद्ध दर्शन मे प्रमाण पर विचार नहीं हुआ। बाद मे योगाचार सम्प्रदाय के वसुबन्धु एव दिङ्नाग ने फिर बौद्ध दर्शन मे प्रमाण विद्या की स्थापना की। धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर आदि ने उसे पल्लवित किया, किन्तु माध्यमिक सम्प्रदाय मे शान्तिरक्षित एव कमलशील के अतिरिक्त किसी भी आचार्य ने प्रमाण–विचार मे सक्रिय रूप से भाग नहीं लिया।

शेरबात्स्की शान्तरक्षित एव कमलशील को मूलत माध्यमिक सम्प्रदाय का आचार्य मानते है, तथा दिङ्नाग न्याय को आगे बढाने के कारण इनको माध्यमिक योगाचार अथवा माध्यमिक सौत्रान्तिक सम्प्रदाय मे रखते हैं।[१२]

बौद्ध दर्शन का सर्वाधिक विकास महायान शाखा के योगाचार सम्प्रदाय मे हुआ। एकमात्र विज्ञान को ही सत् मानने के कारण इस सम्प्रदाय को विज्ञानवाद भी कहा जाता है। वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि समस्त मूर्धन्य दार्शनिक इसी सम्प्रदाय मे हुए, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर यह भली भाति विदित होता है कि बौद्धन्याय विशुद्ध विज्ञानवाद की देन नहीं है। शेरबात्स्की दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि दार्शनिको को विशुद्ध विज्ञानवादी नहीं मानते हैं, उन्हे उनमे सौत्रान्तिक बौद्धो के भी लक्षण दिखाई पडते है, अत. वे इन दार्शनिको को सौत्रान्तिक–योगाचार नामक नयी श्रेणी मे स्थापित करते है।[१३] दासगुप्ता ने दिङ्नाग को वैभाषिक या सौत्रान्तिक सम्प्रदाय मे रखा है। **सातकडि मुकर्जी** ने इस सम्प्रदाय को दिङ्नाग सम्प्रदाय भी कहा है। **श्री निवास शास्त्री** ने इसे बौद्ध दर्शन का न्यायवादी सम्प्रदाय माना है।[१४]

दिङ्नाग सम्प्रदाय के दार्शनिको ने प्रमाणमीमांसा का प्रतिपादन विज्ञानवाद के अनुसार गौण रूप से एव बाह्यार्थवाद की अपेक्षा प्रमुख रूप से किया है। प्रामाण्य व्यवहारेण (प्रमाणवार्तिक, १.७) 'प्रमाण विसवादि ज्ञानम्' (प्रमाणवार्तिक, १.३.) आदि कथनो के साथ प्रत्यक्ष–लक्षण मे 'अभ्रान्त' पद, प्रत्यक्ष–भेदो मे इन्द्रिय–प्रत्यक्ष एव मानस प्रत्यक्ष, स्वलक्षण एव सामान्यलक्षण रूप बाह्य प्रमेय आदि का प्रतिपादन बाह्यार्थ को स्वीकार करने का ही संकेतक है।

दिड्नाग (४७० से ५३० ई०) दिड्नाग बौद्ध–न्याय अथवा बौद्ध प्रमाण–शास्त्र के पिता थे। तिब्बतियो ने उनको जम्बूद्वीप का अलकार कहा है।[१५] दिड्नाग काची मे पैदा हुए, किन्तु उनके समय के सम्बन्ध मे अनेक विप्रतिपत्तियॉ रहीं। आचार्य राहुल साकृत्यायन ने उन्हे ४२५ ई० तथा ४८० से ५४० ई० के मध्य सिद्ध किया है। दिड्नाग के पूर्व गौतम के न्याय सूत्र पर वात्स्यायन द्वारा भाष्य रच दिया गया था, किन्तु भाष्य का प्रतिद्वन्द्वी न्याय का कोई ग्रन्थ नहीं था। दिड्नाग ने उसे नई दिशा दी, तथा बौद्ध विज्ञानवादी दृष्टि से सौत्रान्तिकि दृष्टि का भी समावेश करते हुए न्याय की नवीन स्थापना की। यदि दिड्नाग अपनी न्याय–विषयक रचना न करते तो न्यायशास्त्र का जो विशाल साहित्य रचा गया है, सभावत वह न रचा जाता। दिड्नाग ने न्यायशास्त्र के फैलाव मे चिनगारी का काम किया।

बौद्धाचार्य दिड्नाग जाति से ब्राह्मण थे। उनके प्रथम गुरु वात्सीपुत्रीय नागदत्त थे एव द्वितीय गुरु विज्ञानवादी वसुबन्धु थे। उनका उदय भारतीय दर्शन के इतिहास मे एक महानतम घटना थी। न्यायशास्त्र पर रचित उनकी प्रमुख रचनाए हैं–

१ आलम्बन परीक्षा, २ त्रिकाल परीक्षा, ३ हेतुचक्र समर्थन, ४ न्यायमुख (न्यायद्वार) ५ प्रमाण समुच्चय (सवृत्ति) और ६ हेतुमुख।

आचार्य दिड्नाग दो ही प्रमाण स्वीकार करते हैं– प्रत्यक्ष और अनुमान। क्योकि आचार्य के अनुसार दो ही प्रमेय हैं– स्वलक्षण और सामान्य लक्षण। प्रत्यक्ष–प्रमाण का विषय स्वलक्षण है एव अनुमान प्रमाण का विषय सामान्य लक्षण। द्वादशारनयचक्र मे प्राप्त स्वार्थानुमान परिच्छेद एवं परार्थानुमान परिच्छेदो के अनुसार दिड्नाग त्रिरूपलिग से अनुमेय अर्थ का ज्ञान होने को स्वार्थानुमान एव स्वदृष्ट अर्थ के प्रकाशन को परार्थानुमान कहते हैं।[१६] अपोह द्वारा शब्द से विवक्षा का ज्ञान मानना दिड्नाग की मौलिक देन है।

इसी क्रम मे आगे हम धर्मकीर्ति द्वारा बौद्ध–दर्शन के विकास मे इनके प्रस्तुत विषय सम्बन्धी योगदान की सक्षिप्त चर्चा करेगे।

धर्मकीर्ति (६२०-६७० ई०)

धर्मकीर्ति का जन्म दक्षिण में, त्रिमलय में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था, और इन्होने ब्राह्मण धर्म की शिक्षा प्राप्त की। तदनन्तर इनकी बौद्धमत के प्रति रुचि हुई और आरम्भ में ये एक

साधारण व्यक्ति की भाति ही इस धर्म का अनुसरण करते रहे। वसुबन्धु के किसी प्रत्यक्ष शिष्य से शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा से ये बौद्धमत के प्रख्यात पीठ, नालन्दा, आये जहाँ वसुबन्धु के एक शिष्य, धर्मपाल निवास करते थे। आचार्य धर्मकीर्ति को बौद्धन्याय मे सर्वाधिक कीर्ति मिली। नालन्दा मे वसुबन्धु के वृद्ध शिष्य धर्मपाल से सर्वप्रथम दीक्षा ली तथा फिर दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन से इन्होने दिङ्नाग–न्याय को समझा। दिङ्नाग न्याय को समझने मे ये अपने गुरु से भी आगे निकल गये और दिङ्नागप्रणीत प्रमाण समुच्चय पर वार्तिक की रचना की जो प्रमाणवार्तिक के नाम से प्रख्याति प्राप्त है।

आचार्य धर्मकीर्ति के समय को लेकर विद्वानो मे मतभेद है। चीनी यात्री ह्वेनसाग ने भारत भ्रमण (६२६ ई० से ६४५ ई०) मे जिन बौद्ध विद्वानो एव तार्किको का उल्लेख किया है, उनमे धर्मकीर्ति का नाम नहीं है। धर्मकीर्ति का नामोल्लेख न करने के सम्बन्ध मे साधारणत. यह कहा जाता है कि उस समय धर्मकीर्ति प्रारम्भिक विद्यार्थी होगे। राहुल साकृत्यायन ६०० ई० मानते हैं।[१७] महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य इनका समय ६२० ई० से ६६० ई० निर्धारित करते हैं। इत्सिग ने भारत यात्रा (६७६ ई० से ६६५ ई०) के विवरण मे धर्मकीर्ति का भी नाम दिया है।[१८] इससे यह प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति निश्चित रूप से ६०० ई० से ७०० ई० के मध्य रहे थे।

आचार्य धर्मकीर्ति अपने न्याय ग्रन्थो मे उद्योतकर, भर्तृहरि एव कुमारिल का खण्डन करते है। तिब्बती परम्परा मे कुमारिल एव धर्मकीर्ति को समसामयिक कहा जाता है, किन्तु कुमारिल दिङ्नाग का खण्डन करते हैं और धर्मकीर्ति कुमारिल का। अत कुमारिल की रचना श्लोकवार्तिक के पश्चात् ही धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक की रचना की होगी। धर्मकीर्ति का समय दिङ्नाग के प्रशिष्य होने के कारण ४०–५० वर्ष बाद माना जा सकता है।

आचार्य धर्मकीर्ति के सात ग्रन्थ हैं– १ प्रमाणवार्तिक, २ प्रमाणविनिश्चय, ३ न्यायबिन्दु, ४ हेतुबिन्दु, ५ वादन्याय, ६ सम्बन्ध परीक्षा और ७ सन्तानान्तरसिद्धि। शेरवात्स्की के अनुसार इनमे प्रमाणवार्तिक सर्वप्रमुख है, तथा शेष छह गौण रूप मे हैं। प्रमाणवार्तिक मे क्रमश प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान एव परार्थानुमान परिच्छेद लिखे गये हैं, तथा प्रमाणसमुच्चय के अवशिष्ट परिच्छेदो दृष्टान्त, अजोह एव जाति के विषय में पृथक परिच्छेद नहीं लिखकर धर्मकीर्ति ने यथा प्रसग इनकी व्याख्या को चार परिच्छेदों मे अन्तर्भाव कर दिया है।

धर्मकीर्तिप्रणीत प्रमाणवार्तिक उद्योतकर के न्यायवार्तिक एव कुमारिल भट्ट के श्लोक वार्तिक पर सीधा प्रहार कर बौद्ध न्याय–पताका को ऊचा उठाता है। फलस्वरूप बौद्धेतर दार्शनिको के लिए यह आलोच्य एव निरास्य बना रहा है।

न्यायबिन्दु के रचयिता धर्मकीर्ति विज्ञानवाद के आचार्य माने जाते है, किन्तु न्यायबिन्दु का अध्ययन करने पर यह शुद्ध रूप मे विज्ञानवाद की रचना प्रतीत नही होती। इस पर सौत्रान्तिक मत का अधिक प्रभाव है, क्योकि इसमे स्वलक्षण एव सामान्यलक्षण का प्रतिपादन स्पष्ट तथा बाह्यार्थ के रूप मे किया गया प्रतीत होता है।[१६]

धर्मकीर्ति के समस्त टीकाकारो को शेरबात्स्की ने तीन वर्गों मे विभक्त किया है। धर्मकीर्ति के प्रमुख टीकाकारो मे धर्मोत्तर प्रज्ञाकर गुप्त एव अर्चट की टीकाओ पर हम सक्षिप्त विचार करेगे।

धर्मकीर्ति के प्रमाण ग्रन्थो के दार्शनिक पक्ष को सर्वप्रथम व्यवस्थित व तार्किक शैली मे धर्मोत्तर ने प्रस्तुत किया। धमोत्तर को मूलत काश्मीरी ब्राह्मण बतलाया गया है। धर्मकीर्ति के न्याय बिन्दु पर धर्मोत्तर की न्यायबिन्दु टीका का सर्वोत्तम स्थान है।

धर्मकीर्ति के अन्य टीकाकारो मे अर्चट का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। अर्चट का दूसरा नाम धर्माकर दत्त है, जो उन्हे भिक्षु के रूप मे प्रस्तुत करता है। हेतुबिन्दु पर अर्चट की हेतुबिन्दु–टीका बौद्ध प्रमाण–विचार के लिए वरदान सिद्ध हुयी है।

इस प्रकार "बौद्ध दर्शन के भ्रम–सिद्धान्त की समीक्षा" विषय के अन्तर्गत प्रथम अध्याय मे हमने बौद्ध दर्शन का प्रारम्भिक काल, त्रिपिटक कालीन विकास एवं आचार्य नागार्जुन व मैत्रेय से लेकर आचार्य धर्मकीर्ति व धर्मोत्तर तक के यथार्थज्ञान सम्बन्धी विकास व प्रमाण–विषयक साधनो की सक्षिप्त चर्चा की है। अपने मुख्य विषय की चर्चा करने के पूर्व हमे सक्षिप्त रूप से बौद्ध दर्शन के उद्भव एव विकास की जानकारी अति आवश्यक थी। बौद्ध दर्शन के विकास के स्रोत में उनके प्रमाण–विचार की चर्चा भी अति आवश्यक है। हमने आचार्य नागार्जुन से लेकर धर्मकीर्ति तक के प्रमाण–विचार की संक्षिप्त चर्चा अपने प्रथम अध्याय में किया है। किसी भी विषय की सम्पूर्ण जानकारी के लिए उसके ज्ञान के स्रोतों को जानना अति आवश्यक है, जब तक हमे उसके ज्ञान के स्रोतो के बारे मे आवश्यक जानकारी नहीं होती है, वह ज्ञान पूर्ण ज्ञान या यथार्थ ज्ञान की श्रेणी में नहीं आता। तत्पश्चात् यथार्थज्ञान को समझने के उपरान्त हमें भ्रम ज्ञान की वास्तविकता का ज्ञान होता है।

अपने शोध विषय के अगले अध्याय मे हम "भारतीय दर्शन मे भ्रम–विचार की ज्ञानमीमासा दृष्टि से" सनीक्षा करेगे।

पाद-टिप्पणी

१ सदस० ने प्रत्यक्षत इस सूत्र को प्रविनि० से दिया है, तुकी० न्याय कणिका, पृ०–२६१। अधिक ठीक अर्थो मे व्यक्त करने पर भारतीय सूत्र इस प्रकार होगा Cogitantem me sentio, nesit caecus mundus omnis स्वसवेदनम् अङ्गीकार्यम्, अन्यथा जगद्–आन्ध्यम् प्रसज्येत'।

२ न्याय–वादिन्।

३ कथावत्थुत्त्पकरण – अट्ठकथा, पालिटेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, पृ० १३।

४ "Epistemlogically emptiness is Prajñā an, unattached insight that no truth is absolutely true" - Nagarjuna's Twelve Gate Treatise, p 14

५ 'विग्रहे य परीहार कृते शून्यतया वदेत्
सर्व तस्यापरिहृत सम साध्येन जायते।।"

६ द्रष्टव्य A History of Indian Logic, p 263-265

७ A History of Indian Logic, p 265

८ Pre-Dignaga Texts, Introduction, p 16

६ ई०, फ्राडवालनर दो वसुबन्धु स्वीकार करते हैं– धमोत्तरप्रदीप, प्रस्तावना, पृ० ४५

१० हेनसाग (सातवीं शताब्दी ई०) ने वसुबन्धु की वादविद्या से सम्बन्धित तीन कृतियो का उल्लेख किया है, जिनमे दो अभी तक अनुपलब्ध हैं, वे हैं– १ वाद मार्ग और २ वाद कौशल।

११ A History of Indian Logic, PP 23 & 158

१२ Buddhist Logic, Vol 1., P 4 5

१३ Buddhist Logic, Vol 1, P 529

१४ (i) A History of Indian Philosophy Vol 1, p 120
(ii) The Buddhist Philosophy of Universal Flux, P 273
(iii) व्याचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध–दर्शन का विवेचन, पृ० ४०–४२

१५ तिब्बती विद्वानो ने नागार्जुन, आर्यदेव, असग, वसुबन्धु, दिङ्नाग एव धर्मकीर्ति इन छ भारतीय दार्शनिको को जम्बूद्वीप का अलङ्कार माना है।
--Shastri D.N Critique of Indian Realism p 1 A

१६ (१) तत्र स्वार्थ त्रिरूपाल्लिङ्तोऽर्थदृक्। –द्वादशारनयचक्र (ज०) भोटपरिशिष्ट, पृ० ११२।
(२) परार्थमनुमान तु स्वदृष्टार्थ प्रकाशनम्। – द्वादशारनयचक्र (ज०) भोटपरिशिष्ट, पृ १२५।

१७ दर्शन–दिग्दर्शन, पृ० ७४४।

१८ अकलकग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पृ० २२।

१६ यथा (१) यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्या ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत् स्व लक्षणम्। न्यायबिन्दु, ११३।
(२) अन्यत् सामान्यलक्षणम् न्यायबिन्दु, १.१६।

द्वितीय अध्याय

भारतीय दर्शन में भ्रम-विचार ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से

द्वितीय अध्याय

भारतीय दर्शन में भ्रम विचार ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से

१. वेद-उपनिषद् एवं आचार्य शंकर तक भ्रम-विचार :

वेद

भ्रम का सकेत हमे ऋग्वेदीय नासदीय सूक्त मे प्राप्त होता है। उक्त सूक्त मे 'नासदासीन्न सदासीत्[१]' अर्थात् सत् और असत् दोनो ही प्रकारो का निषेध मिलता है। यद्यपि उक्त सदसद् प्रकारो का निषेध जगत् कारण मूल विद्या के लिए ही हुआ है, फिर भी मूल विद्या अद्वैत के अनुसार सदसद् अनिर्वाच्य है एव मिथ्या है। इस प्रकार भ्रम का अर्थ उक्त मत्रो से निकाला जा सकता है। सायणाचार्य ने मूलविद्या के विषय मे उक्त मत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि जगत का कारण शशविषाण के समान निरुपाख्य नहीं था, और न ही सदसद् से ही निर्वाच्य था, किन्तु दोनो से विलक्षण अनिर्वाच्य था।[२] वहीं पर तृतीय मंत्र मे 'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्' तम रूप अविद्या के लिए प्रयोग आया है, जिसका अर्थ सायण ने आवरण शक्ति वाला भाव रूप अज्ञान ही किया है[३]। उक्त दोनो मत्रो के भाष्य से यह सकेत मिलता है कि अज्ञान शशविषाण के समान अलीक नही है, और तृतीय मत्र के भाष्य मे उसे भावरूप कहा गया है, जो कि अलीक से भिन्न है। इस प्रकार अज्ञान भावं रूप है, अर्थात आकाश कुसुम के समान भावरूप नहीं है और न ब्रह्म के समान ही भावरूप है, किन्तु भाव अभाव से विलक्षण अनिर्वचनीय है। यही मिथ्या है, इसलिए अज्ञान भी मिथ्या ही है। ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल मे 'रूप रूप प्रतिरूपो बभूव' परमात्मा के लिए कहा गया है। सायण ने 'प्रतिरूप' का अर्थ प्रतिबिम्ब किया है[४]। सभी शरीर प्रतिबिम्बभूत हैं, अर्थात् भ्रम/मिथ्या हैं।

उपनिषद् और आचार्य शंकर

उपनिषदो मे ऐसे प्रयोगस्थल एकाधिक हैं। छान्दोग्य मे 'अनृतेन हि प्रत्यूढा' मे 'अनृत' शब्द का अर्थ आचार्य शकर ने अविद्यापरक ही किया है। वहीं पर आनन्दगिरि ने उक्त शब्द का अर्थ किया है, 'अनादि अनिर्वाच्य मिथ्या अज्ञान'[५]। वाचारम्भण श्रुति का अर्थ करते हुए शकर ने कहा है कि विकारजात सम्पूर्ण कार्यजगत् वस्तुत· कारण भिन्न हैं। जिस प्रकार रक्तोपाधानयुक्त स्फटिक

मणि मे पद्मरागमणि का भ्रम होता है, वस्तुत वह पद्मरागमणि नहीं है, उसी प्रकार कार्य जगत् ब्रह्म से भिन्न रूप से लगने लगता है, किन्तु कार्य जगत् कारणब्रह्म भिन्न है।[६] यही भिन्नत्व ही मिथ्या है। 'एकमेवद्वितीयम्' श्रुति की व्याख्या मे आनन्दगिरि ने ब्रह्म मे स्वगत स्वजातीय–विजातीय भेदो का निषेद् किया है।[७] जिसका अर्थ है भेद–मिथ्या। छान्दोग्य मे ही कहा गया है कि "जहा पर अन्य को देखता है, अन्य को सुनता है, अन्य को जानता है, वह अल्प है।" अर्थात् अन्यत्व का ज्ञान तथ्यहीन है, अन्यत्व का ज्ञान मिथ्या है। शकर ने वहीं पर भाष्य मे अल्प को स्वप्नवत मिथ्या कहा है[८]। अल्प का अर्थ आचार्य शकर ने मिथ्या कहा है।

मुण्डकोपनिषद् के 'ब्रह्मैवेद विश्वस' इसके भाष्य मे आचार्य शकर ने नामरूप को भ्रम कहा है। भ्रम का अर्थ प्रातीतिक है। जिस प्रकार रज्जु मे सर्प प्रत्यय अविद्या के कारण होता है, ठीक उसी प्रकार अब्रह्म प्रत्यय अविद्या मात्र है। परमार्थ सत्य ब्रह्म ही है[९]। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे 'माया तु प्रकृति विद्यात्' मे माया शब्द को भाष्यकार ने कल्पित अर्थ मे लिया है। वृहदारण्यक उपनिषद् मे 'नेह नानास्ति किचन' के भाष्य मे आचार्य शकर ने ब्रह्म मे नानात्व का निषेध किया है। नानात्व का अविद्या के कारण आरोप किया जाता है वस्तुत अविद्यारोपणव्यतिरेक परमार्थ द्वैत है ही नहीं[१०]। अर्थात् द्वैत परमार्थत मिथ्या है।

इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् मे 'सत्य ज्ञानमनन्तम् बह्म' इस मत्र के भाष्य मे आचार्य शकर ने सत्य मिथ्या की स्पष्ट परिभाषा दी है। आचार्य शकर के अनुसार 'सत्य वह है जो जिस रूप से है, उस रूप से उसका व्यभिचार न हो, और जिसका निश्चित रूप व्यभिचरित होता है, वह मिथ्या है[११]। इस स्थल मे आचार्य शकर ने सत्य मिथ्या क्या है– स्पष्ट कर दिया है। सत्य मे किसी प्रकार परिवर्तन भी नहीं माना गया। इसके विपरीत भ्रम अपना स्वरूप बदलता रहता है। वस्तुत· भ्रम का स्वरूप है ही नहीं, अत वह किसी एक रूप मे नहीं रह सकता। शुक्ति–रजत या रज्जु–सर्प कब तक अपने उक्त रूपो को बनाये रख सकते हैं? जब तक अधिष्ठान वस्तु शुक्ति का ज्ञान नहीं होता, जब तक रज्जु का ज्ञान नहीं होता, तब तक ही उक्त रजत और सर्प की स्थिति है। ज्ञान के बाद वे भ्रम नहीं होते हैं, अत· सत्य ज्ञान से भ्रम की निवृत्ति होती है।

बौद्ध दर्शन

बौद्ध–दर्शन मे उक्त भ्रम–विचार का संकेत हमें लकावतार सूत्र में मिलता है। लंकावतार सूत्र मे यत्र–तत्र जगत् को स्वप्न–मायादि शब्दो से अभिहित किया गया है। बौद्ध–विज्ञानवाद के

अनुसार एकमात्र आन्तर ज्ञान ही सत्य है, बाह्य वस्तुएँ असत्य है। विज्ञानवाद के प्राचीन आचार्य असग के अनुसार विषय और विषयी दोनो ही विज्ञान या चित है।[१२] आचार्य वसुबन्धु ने बाह्यता से रहित विज्ञान को ही तत्त्व माना है। उन्होने 'चित्तमात्र भी जिनधुवा, यबुतत्रैधातुकमिति' इस सूत्र का ही अनुसरण किया है।[१३] इनके अनुसार कामधातु, रूपधातु तथा अरूप धातु सब विज्ञप्तिमात्र है। वस्तुत बाह्य वस्तुओ की सत्ता नहीं है, जो कुछ भी है, विज्ञान ही है। विज्ञान के अतिरिक्त सब असत् है। वसुबन्धु ने विशिकाकी प्रथम कारिका मे ही कहा है 'असदर्थावभासनात्' अर्थात् जिस प्रकार तिमिरादि रोगग्रस्त को असत् केशगुच्छादि के दर्शन यो ही होते हैं, उसी प्रकार न होते हुए भी अर्थ प्रतीत होते हैं[१३]। वसुबन्धु ने प्रस्तुत स्थल पर असदर्थ की प्रतीति की बात कही है। प्रतीति के लिए 'अवभास' शब्द का प्रयोग किया है, जो कि शकर ने अध्यास के लक्षण मे कहा है 'अवभासो अध्यास' अध्यास का अर्थ भी अवभास ही है। जहॉ पर जो नहीं है, वहीं पर उसकी प्रतीति होना ही अवभास है। 'अतस्मिन् तदबुधि' ही अवभास है। यही बात वसुबन्धु उक्त प्रथम कारिका मे 'असदर्थावभासनात्' शब्द द्वारा कहना चाहते हैं। इसी प्रकार प्रज्ञापारमिता ग्रन्थ मे भी षष्ठ परिवर्तन मे माया शब्द भ्रम/अज्ञान के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। भ्रम का स्पष्ट विवेचन बौद्ध दर्शन के इतिहास मे नागार्जुन की, माध्यमिक–कारिका मे मिलता है। नागार्जुन ने कार्य–कारण, जाति–व्यक्ति, भाव–अभाव आदि का विवेचन करके सभी मे विरोध दिखाकर जागतिक प्रपच को मायामय मिथ्या कहा है, और जगत् को सांवृत्तिक सत्य अर्थात् व्यावहारिक सत्य कहा है।

नागार्जुन माध्यमिक कारिका मे शून्यवाद की स्थापना करते हैं। नागार्जुन के अनुसार बाह्य वस्तुए अबोध्य होने के कारण अवास्तव हैं। नागार्जुन वस्तुओ को ही शून्य नहीं कहते, अपितु तत्त्व को भी शून्य कहते हैं। तत्त्व को शून्य कहने का तात्पर्य है, स्वभावशून्यता। तत्त्व मे किसी भी प्रकार के स्वभाव नहीं है, इस कारण शून्य है। चन्द्रकीर्ति ने शून्यता की व्याख्या नि.स्वभावता से ही की है। शून्यवाद के अनुसार कारणाधीन कार्य है, अत कार्यसत्ता भिन्न नहीं है। जब कारणाधीन कार्यसत्ता है, तब कार्य की अपनी सत्ता नहीं है, अत वह मिथ्या है, 'स्वसत्ताराहित्य' ही मिथ्या है। शून्यवादी कार्यकारणात्मक जगत् को सत्व नहीं मानते। कहीं–कहीं पर कार्य–जगत को नरश्रृंग, स्वप्न सदृश कहा गया है। कहीं पर मरीच्युपम कहा है। कहीं पर उदक प्रतिबिम्ब के उदाहरण से मिथ्यात्व/भ्रम समझाया है। शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता मे मायोपम कहा है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान सभी मायोपम हैं[१४]। वैदिक–दार्शनिकों ने शून्यवाद को सर्वाभाववाद के रूप में

लिया है। न्याय–दर्शन मे माध्यमिक के शून्यवाद को 'सर्वाभाववाद' कहा है क्योकि शून्यवादी सभी वस्तुओ को असत् कहते हैं। वाचस्पति मिश्र ने भी शून्यवाद को अभाववादपरक ही कहा है। उनका भी कहना है कि इस मतानुसार अवात्मना गौ नही है, और गवात्मना अश्व नहीं है। इतरेतराभाव सिद्ध होने के कारण सर्वत्र सर्व का अभाव है[१५]। आचार्य शकर ने भी भाष्यो मे 'शून्य' को अभाव के रूप मे ही लिया है, 'सद्भावमात्र तत्व परिकल्पयन्ति बौद्धा,'[१६] बौद्ध शून्यवादी तत्व को ही सद्भाव के रूप मे कहते हैं। ब्रह्मसूत्रभाष्य मे शकर ने व्यावहारिक सत्य को सर्वप्रमाण सिद्ध कहा है। जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता तब–तब लोक व्यावहारिक वस्तुओ का अपलाप नहीं किया जा सकता,[१७] पचपादिकाकार ने भी शून्यवाद को असदर्थ मे ग्रहण किया है। बौद्ध शून्यवाद और अद्वैत–ब्रह्मवाद मे अन्तर दिखाते हुए उन्होने भी कहा है कि अध्यस्त वस्तु को असत् नहीं कहा जा सकता, ऐसा कहने पर उसके प्रतीति की सगति नहीं बनेगी। अध्यस्त वस्तु प्रतीति होती है, अत अद्वैत के अनुसार अध्यस्त वस्तु सदसद् निर्वचनीय है, किन्तु बौद्ध मत के अनुसार वस्तु असत् ही है। 'ननु सर्वमेवेदमसदिति भवतो मतम्।[१८]

आचार्य गौडपाद एवं शंकर

शकर–वेदान्त मे भ्रम का पर्याप्त विवेचन आचार्य गौडपाद की माण्डूक्यकारिका मे मिलता है। माण्डूक्यकारिकाकार आचार्य गौडपाद ने माध्यमिककारिकाकार नागार्जुन के ही समान जगत् की उत्पत्ति की सिद्धि न साख्य के सत्कार्यवाद के अनुसार हो सकती है, न न्याय–वैशेषिक के असत्कार्यवाद के अनुसार। साख्य के अनुसार कार्यकारण मे सद्रूप होता है, कोई अभिनव कार्य की उत्पत्ति सभव नहीं है इसका प्रत्याख्यान असत् कार्यवादी नैयायिक करते हैं। उनके अनुसार जो सत है वह पहले से विद्यमान है अत. उसकी उत्पत्ति कैसे? और यदि उत्पत्ति मान ली गई, तब उसे सत् कैसे माना जा सकता है? उत्पत्ति का अर्थ है जो न था उसका होना। सत्कार्यवादी साख्य न्यायवैशेषिक के मत का प्रत्याख्यान करते हैं। इस प्रकार दोनो के खण्डित होने से अद्वैत की ही सिद्धि होती है, और प्रपंच मिथ्या ही सिद्ध होता है। इस प्रकार उत्पत्ति के विषय मे दार्शनिको के द्वारा दोनों मतो के प्रत्याख्यान से गौड़पाद के अनुसार अजातिवाद की सिद्धि होती है।[१९]

आचार्य गौडपाद के अनुसार परमार्थत· जगत् प्रपच मिथ्या है। तात्पर्य यह है कि कारण ब्रह्म से पृथक् रूप से यह जगत् कभी उत्पन्न नहीं हुआ, क्योकि पृथक् रूप से उत्पत्ति असम्भव है, अत·

सभी वस्तुओ को अजात ही कहा जा सकता है। नागार्जुन के ही समान वस्तुओ मे गौडपाद विरोध दिखाते है। आचार्य गौडपाद ने माण्डूक्य–कारिका के वैतथ्य नामक द्वितीय प्रकरण मे भाववस्तुओ को स्वप्नवत् मिथ्या कहा है। जिस प्रकार स्वप्न–वस्तुएँ अन्त स्थ होती हैं, उनमे वाह्यता नही होती फिर भी वे स्वाप्निक वस्तुएँ बाह्य वस्तुओ के समान भासने लगती है, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था की वस्तुओ को समझना चाहिए। स्वप्नकालिक वस्तुएँ तथ्यहीन हैं। वे वितथ है।[20] आचार्य शकर ने गौडपाद को उक्त माण्डूक्यकारिका भाष्य मे वितथ के भाव को वैतथ्य कहा है। वैतथ्य–असत्य है, अर्थात् जिसमे तथ्यता नहीं। जो अतथ्य है, वही वैतथ्य–असत् है। स्वप्नकालिक वस्तुओ का जब–तक स्वप्न दर्शन होता रहता है, तब तक दिखाई देती हैं, तभी तक उनकी सत्ता है। स्वप्ननोत्थित व्यक्ति के लिए स्वप्नकालिक वस्तुए उसी समय अर्थात् जागते ही मिथ्या दिखाई देती है, अर्थात् जाग्रत ज्ञान से स्वप्न का ज्ञान बाधित होता है, अत बाधित होने के कारण भी स्वप्नकालिक वस्तुएँ मिथ्या है।

आचार्य गौडपाद वैतथ्य प्रकरण की तृतीय कारिका में स्वप्नकालिक वस्तुओ को मिथ्या सिद्ध करने के लिए श्रुति से भी प्रमाण उद्धृत करते हैं। श्रुति मे कहा गया है कि स्वप्न मे रथ, उसके वाहन अश्व एव रथमार्ग नहीं होते, फिर वे वस्तुए स्वप्न मे दिखाई देती हैं, किन्तु वे सभी मन कल्पित हैं, सत्य नहीं। आचार्य गौडपाद द्वारा दिये गये स्वप्न दृष्टान्त को लेकर आचार्य शकर ने वैतथ्य प्रकरण के चतुर्थकारिकाभाष्य मे स्वाप्निक वस्तुओ के समान जाग्रत वस्तुए भी मिथ्या हैं– सिद्ध किया है। स्वप्न ओर जाग्रत के समान धर्म दृश्यत्व हेतु से आचार्य शंकर ने स्वाप्निक वस्तुओ के समान जाग्रत वस्तुओ का भी वैतथ्यानुमान किया है। जाग्रतदृश्य वैतथ्य हैं, दृश्यत्वाद (हेतु) स्वप्न दृश्यभाव के समान/स्वप्न मे दृष्टभाव वस्तुएँ दृश्य हैं, और वे वैतथ्य अर्थात् मिथ्या हैं। जाग्रत वस्तुओ मे भी दृश्यत्व है, अत· दृश्यत्वेन वे भी वैतथ्य हैं, क्योकि दृश्यत्व हेतु दोनो मे समान रूप से विद्यमान है, अत हेतुबल से मिथ्यात्व ही समान रूप से दोनो मे सिद्ध होगा। यहाँ पर स्वप्न दृश्य वस्तुओ के समान जाग्रत वस्तुओ को कहने का अर्थ यह नहीं कि जाग्रत और स्वप्न मे अन्तर ही नहीं है। स्वप्न और जाग्रत में अन्तर आचार्य गौड़पाद को भी स्वीकार्य है। जाग्रत स्वप्न दोनो अवस्थाओ मे वस्तुएँ मिथ्या हैं, किन्तु मिथ्या में भी जिस प्रकार परवर्ती अद्वैताचार्य स्वप्न को प्रातिभासित एवं जाग्रत को व्यावहारिक कहते हैं, उसी प्रकार की व्याख्या गौड़पाद में भी हैं।

आचार्य गौडपाद के अनुसार भी स्वप्न दृष्ट वस्तुएँ जाग्रत वस्तुओ से कुछ वैधर्म्य भी रखती है। स्वप्न जिस व्यक्ति को दिखाई देता है, उसी तक सीमित होता है, किन्तु जाग्रत वस्तुएँ घटादि राम, श्याम सभी के लिए समानरूप हैं। सभी के समान व्यवहार मे आने वाली है। स्वप्नकालिक वस्तुएँ उसी स्वप्नद्रष्टा को ही सुखी या दु खी करती हैं, किन्तु जाग्रत सर्वमान्य है। जाग्रत वस्तुएँ मन के बाहर स्थित हैं, यह गौडपाद को भी स्वीकार है, क्योकि उन्होंने स्वप्नकालिक वस्तुओ को चित्तकाल कहा है, अर्थात् स्वप्नकालिक वस्तुओ की सत्ता तभी तक है, जब तक द्रष्टा स्वप्न का दर्शन करता है। स्वप्न के बोध होते ही स्वप्नकालिक वस्तुएँ असत् हो जाती है। चित्त या मन के साथ ही उनकी स्थिति है। ज्ञान ही वहॉ पर ज्ञेय है, किन्तु जाग्रत काल की वस्तुएँ चिरकालिक नही। मन के बाहर भी अर्थात् चित् के बाहर भी उनकी सत्ता मान्य है। बाह्य वस्तुओ को आचार्य गौडपाद ने द्वयकाला'[२१] कहा है। बाह्य वस्तुएँ ज्ञानकाल के अतिरिक्त परकाल मे भी स्थित रहती है। ज्ञान के साथ–साथ बाह्य–वस्तुओ का विलय नही होता, अत वाह्य वस्तुओ को स्वप्नवत् कहने का तात्पर्य व्यावहारिक और प्रातिभासिक वस्तुओ के भेद को मिटाना नहीं है। अपितु दोनो मे दृश्यत्वादि समान धर्म होने के कारण ही दोनो मिथ्या या भ्रम हैं, इस विचार को स्पष्ट करना है।

आचार्य गौडपाद दृष्टिसृष्टिवादी नहीं है, क्योकि वे पूर्वोक्त प्रकार से मन से बाहर वस्तुओ की स्थिति को स्वीकार करते हैं, अर्थात् जाग्रत वस्तुएँ व्यावहारिक दशा मे हमारे मन द्वारा निर्मित नहीं है, आचार्य गौडपाद के 'द्वयकाला' शब्द से यह अर्थ निकाला जा सकता है कि ज्ञान निरपेक्ष वस्तुएँ है। ज्ञान मात्र उन वस्तुओ को जानने के लिए है, न कि उत्पन्न करने के लिए। परवर्ती अद्वैताचार्यो के समान आचार्य गौडपाद भी परिच्छिन्नत्व को 'वैतथ्यता' का हेतु मानते हैं। आचार्य गौडपाद के अनुसार जो वस्तु आदि मे नहीं है, और अन्त मे भी नहीं, उसकी स्थिति वर्तमान मे भी नही है। जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है, वह आदि में नही थी, इसी कारण उसकी उत्पत्ति सभव हुई। यही उस वस्तु का प्रागभाव है, और उत्पत्ति के बाद भी वह वस्तु नहीं रहेगी। इस प्रकार उस वस्तु का प्रध्वसाभाव भी है। एव भूत वस्तु जिसके प्रगभाव, प्रध्वसाभाव होते हैं, परिच्छिन्न होती है। एवं भूत वस्तु जिसके प्रागभाव, प्रध्वसाभाव होते हैं, परिच्छिन्न होती है। वह कालिक परिच्छिन्न है। पूर्वकाल मे नहीं थी, भविष्य मे नहीं रहेगी। इस प्रकार कालिक परिच्छिन्न वस्तुए यदि वर्तमान में दिखायी भी दें तो भी उनको 'वितथ' ही कहना पड़ेगा। वे तथ्यहीन हैं और तथ्यहीन होते हुए ही दिखाई देती हैं। परवर्ती आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने 'परिच्छिन्नत्व' को मिथ्यात्वानुमान मे हेतु माना है, और परिच्छिन्नत्वेन वस्तुओं को मिथ्या कहा है।

ऊपर हमने सक्षिप्त भ्रम के ऐतिहासिक विवरण मे वेद–उपनिषद् से लेकर आचार्य शकर तक का विचार दिखाने का प्रयास किया है। यह प्रयास इसलिए किया गया है, क्योकि आचार्य शकर स्वय अपने भ्रम–विचार को वैदिक कहते है। ऋग्वेदीय नासदीसूक्त के मन्त्र मे सदसत् के निषेध का अर्थ अनिर्वचनीय है– यह अर्थ सायणाचार्य कृत है। इसी प्रकार उपनिषदो मे नानात्व निषेधक श्रुतियो का अर्थ भी द्वैतमिथ्यापरक आचार्य शकर के अनुसार ही किया गया है। इस विवेचना से यह बात आवश्य दिखायी जा सकती है कि आचार्य शकर गौडपाद से प्रभावित थे। आचार्य गौडपाद ने जगत्मिथ्या या वैतथ्य का प्रतिपादन करके अपने दर्शन की स्थापना की है। आचार्य शकर भी अपने दर्शन की स्थापना के लिए युष्मद्–स्मत् के सम्बन्ध को अध्यासिक और मिथ्या कहते हैं।

२. *''अध्यास और ख्यातिवाद'' :*

गत प्रकरण मे हमने भ्रम के सम्बन्ध मे उसके वेद और उपनिषद् मे भ्रम–विचार के जो सर्वप्रथम सकेत मिले हैं, उनका विवेचन किया है। उसके साथ–साथ और भी जो हमे भ्रम के सम्बन्ध सकेत मिलते हैं, उसका भी विवेचन किया है। इस प्रकरण मे हम इस विषय पर प्रकाश डालेगे, कि अध्यास और ख्यातिवाद का स्वरूप क्या है?

अध्यास क्या है?

आत्मा चेतन और देह जड है। जड चेतन इन दोनो के धर्म भिन्न, एक–दूसरे के विपरीत हैं। चेतन का धर्म प्रकाश अर्थात् ज्ञान और जड़ का धर्म जडता है। आत्मा और शरीर या विषयी और विषय दोनो विपरीत धर्म वाले होते हुए भी एक–दूसरे के धर्मो को एक–दूसरे मे मानना अज्ञान के ही कारण है। अज्ञान के कारण अध्यास और अध्यास के कारण शरीर इन्द्रिय के धर्मो को आत्मा के धर्म मान कर अज्ञानी पुरूष 'मैं कृश हूँ', 'मैं अन्धा हूँ' इत्यादि शरीरेन्द्रिय के धर्मो को आत्मा मे आरोपित करते हैं।[२२] भाष्यकार ने एव प्रकार अध्यास को 'मिथ्याज्ञान निमित्त' कहा है।[२३] विवरणकार प्रकाशात्मयति ने अध्याय का उपादन मिथ्या अज्ञान को ही कहा है। अन्य दोषो को अध्याय के निमित्त्कारण बतलाया है। इसी मिथ्याज्ञान का विग्रह करते हुए आचार्य पद्मपाद ने पंचपादिका में 'मिथ्या च तदज्ञान च मिथ्याज्ञानम्' कहा है अर्थात् अज्ञान मिथ्या है।[२४] यही मिथ्या अज्ञान अध्यास का कारण है। भाष्यकार का कथन है कि अनादि मिथ्याज्ञान के कारण चिदात्मा और जड़ –जेहादि

वस्तुओ मे जो विभेद है उसे भ्रान्तदर्शी भूल जाता है और सत्य मिथ्या को मिला करके दोनो के धर्मो को भी मिला कर अनुभव करता है। इसी सत्यानृत मिथुन को ही चिदचिद् ग्रन्थि या अध्यास कहते है। भाष्यकार की उक्ति की व्याख्या करते हुए भामतीकार वाचस्पति मिश्र कहते है कि मिथ्या अज्ञान के कारण जो सब जागतिक व्यवहार चल रहे है और जिन्हे लोक मे सत्य मान रहे है, वे सभी व्यहार अध्यासमूलक है।[२५] जब तब अध्यास है तब तक वे व्यवहार भी है अज्ञान अनादि है, अत अध्यास भी अनादि है। ये जितने भी 'मै और मेरा' व्यवहार है जड–चेतन के अविवेकमूलक हैं। जब तक आत्मा अनात्मा के विवेकज्ञान का उदय नहीं होगा तब तक अज्ञान का नाश नहीं होगा और अध्यासपूर्वक ही सभी व्यवहार चलेगे।

अध्यास शब्द का अर्थ है–'अधिकृत्य आस्ते' अर्थात् जिस वस्तु की प्रतीति हो रही है, वह वहॉ पर नही है, किन्तु वह अन्य एक वस्तु को अवलम्बन करके प्रतीत हो रही है। इस अध्यास का लक्षण आचार्य शकर ने ब्रह्मसूत्रभाष्य मे 'स्मृतिरूप परत्र पूर्वदृष्टावभास[२६] इस प्रकार दिया है। भाष्यकार के उक्त लक्षण मे 'अवभास' पद की व्याख्या करते हुए वास्पति मिश्र ने 'अवभासोऽध्यास' इस प्रकार अध्यास का सक्षिप्त लक्षण स्वीकार किया है। स्मृतिरूप, परत्र और पूर्वदृष्ट इन तीन पदो द्वारा लक्षण को अतिव्याप्ति आदि दोषो से मुक्त करके उसका विश्लेषण किया गया है, यही वाचस्पति क मत है।[२७] 'अवभास' पद 'अव' उपसर्गपूर्वक भास् धातु से घञ् प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। भास धातु का अर्थ है प्रकाश, ज्ञान ही एकमात्र स्वप्रकाश वस्तु है इसलिए भास धातु से भाववाच्य मे घञ् प्रत्यय करने पर भास का अर्थ होगा ज्ञान या प्रकाश। कर्मवाच्य मे उक्त प्रत्यय करने पर 'भास' से प्रकाशित वस्तु–अर्थात् ज्ञेय वस्तु समझी जाएगी। 'अव' उपसर्ग के द्वारा यहा पर अवसाद या अवमान समझना चाहिए। ज्ञान और ज्ञेय का अवसाद। अवसाद को प्राप्त होने वाला ज्ञान और ज्ञेय दोनो ही अवसन्न हैं। अवसाद का अर्थ है बोध। जो वस्तु या ज्ञान परक्षण मे बाधित हो, वह अवसन्न है। परभावी अन्य ज्ञान द्वारा पूर्व उत्पन्न ज्ञान का बाध होना 'अवसाद' है। शुक्ति–रजत ज्ञान होने पर परवर्ती 'नेद रजतम्' इस प्रकार बाधक यथार्थ–ज्ञान के उदय होने पर उक्त रजत–ज्ञान और ज्ञेय रजत की अनुवृत्ति नहीं होती। अब मत का अर्थ प्रातिभासिक रजत को दृष्टि मे रखकर किया गया है। इसका अर्थ है व्यावहारिक कार्यक्षमता का अभाव। जब तक शुक्ति मे रजत–विभ्रम होता है, तब तक रजत को लेने की प्रवृत्ति होती है, परन्तु ज्ञान के द्वारा उसके बाध होने पर रजत के लिए प्रवृत्ति नहीं होती, ज्ञान से उसका तिरस्कार हो जाता है।[२८] पूर्वोक्त

'अवसाद' और 'अवमान' द्वारा भास–अर्थात् रजत–ज्ञान और रजत–ज्ञेय दोनो ही मिथ्या है, यह सिद्ध होता है, क्योकि अद्वैतवाद के अनुसार ज्ञेय है और उस ज्ञेय विषयकज्ञान भी मिथ्या विषयक होने के कारण मिथ्या है। आचार्य ने अध्यास को मिथ्या कहा है।[२९] अध्यस्त विषयविषयक ज्ञान ही अध्यास है। उस अध्यास का कारण अनादि मिथ्या अज्ञान है। इस प्रकार उपादान के मिथ्या होने के कारण अध्यासज्ञान मिथ्या है और अध्यस्त विषय मिथ्या होने के कारण तद्–विषयकत्वेन भी अध्यासज्ञान मिथ्या है। अन्यथाप्रकाश को अध्यास और अन्यथाप्रकाश्य को अध्यस्त कहते हैं और अध्यास एव अध्यस्त दोनो ही मिथ्या हैं। शुक्ति–रजत के समान ही अद्वैतवाद के अनुसार व्यावहारिक रजत भी मिथ्या है, क्योकि व्यावहारिक एव प्रातिभासिक दोनो ही का मिथ्यात्व अभीष्ट है, इनमे से प्रातिभासिक रजत का मिथ्यात्व अन्य दार्शनिक भी मानते हैं। इस कारण प्रातिभासिक रजत को दृष्टान्त बनाकर व्यावहारिक पदार्थो की मिथ्यात्वसिद्धि की गई।

'अवभास' पद के साथ 'पूर्वदृष्ट' पद समासयुक्त हैं। 'भास' पद के समाान ही 'पूर्वदृष्ट' पद के दो अर्थ हैं। दृश् धातु से भावाच्य मे घञ् प्रत्यय करने पर पूर्ववर्ती दर्शन और कर्मवाच्य मे, घञ् करने पर पूव मे दृष्टवस्तु अर्थ होते हैं, अर्थ होगे पूर्ववर्ती दर्शन के समान दर्शन का ज्ञान (प्रकाश) और पूर्व मे दृष्ट ज्ञेयवस्तु के समान वस्तु की प्रतीति ही 'पूर्वदृष्टावभास'। इसके साथ 'परत्र' और स्मृतिरूप पदो को जोडने पर अर्थ होगा 'परत्र अर्थात् अन्य किसी अपेक्षाकृत सत्यवस्तु में पूर्वदृष्ट किसी वस्तु या ज्ञान के सस्कार के कारण जो प्रतीति है, वही अध्यास है'। इससे भ्रमज्ञान का स्वरूप और उसके विषय के स्वरूप का प्रकारान्तर से कथन हुआ, अर्थात् जगत्–प्रपच–विषयक भ्राति एव भ्राति के विषय का भी कथन हो गया। 'पूर्वदृष्टावभास' मे दृष्ट पद से दर्शनमात्र आवश्यक है। पूर्वदर्शन या पूर्वदृष्ट दृश्य सत्य हो, सत्य हो, इसका आग्रह नहीं है। प्रतीतिमात्र की आवश्यकता है। इस प्रकार पूर्व दृष्टावभास की यह अनादि परम्परा है। वाचस्पति मिश्र ने आरोप्य और आरोप को मिथ्या और आरोपाधिष्ठान को सत्य कहा है।[३०] ऐसा कहने का कारण आचार्य वचन है। भाष्यकार ने अध्यास को सत्य–मिथ्या का मिलन कहा है।[३१] भामतीकार ने भाष्यवचन का अनुसरण करके सत्य–अनृत पदों को क्रमश· आरोपाधिष्ठान और आरोप के साथ जोड़ा है। उनके अनुसार अधिष्ठान अर्थात् आरोप का विषय आपेक्षिक सत्य होता है। 'परत्र' पद से भाष्यकार ने आपेक्षिक सत्य अधिष्ठान की ही बात कही है, यही वाचस्पति मिश्र का तात्पर्य है। भाष्यकार के सत्य–अनृत मिथुनीकरण की व्याख्या में भामतीकार का यह आग्रह है कि 'परत्र' का अर्थ आपेक्षिक

सत्याधिष्ठान लिया जाय, शुक्ति–रजत–भ्रम मे और ब्रह्म-जगद्भ्रम मे ठीक बैठता है। शुक्ति–रजत–भ्रम मे रजत आरोपणीय है और रजत–ज्ञान आरोप है, दोनो ही मिथ्या–अनृत है क्योकि शुक्ति–अपेक्षया उसकी सत्ता न्यून है, अर्थात् प्रातिभासिक है। शुक्ति की सत्ता व्यावहारिक है, इसलिए आपेक्षिक सत्याधिष्ठान हुआ। इसी प्रकार ब्रह्म मे जगद्भ्रम की स्थिति मे जगत् की सत्ता व्यावहारिक है, अत मिथ्या है, एव ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक होने के कारण सत्य है, यही 'परत्र' पद से सत्याधिष्ठान अपेक्षित है, किन्तु अन्योन्याध्यास स्थल मे उक्त प्रकार के सत्य अनृत का निर्वाह नहीं हो पाता। देहादि मे आत्मा का अध्यास और आत्मा मे देहादि का अध्यास–अन्योन्याध्यास है। इस प्रकार के अध्यास स्थल मे जब देहादि मे आत्मा का अभ्यास होता है, उस स्थिति मे आरोपणीय वस्तु आत्मा है, वह अनृत नहीं है एव देहादि पदार्थ आत्मापेक्षया सत्य नही है। इस पर यदि आत्मा का अध्यास न मानकर सम्बन्ध का ही अध्यास माने तो भी अन्योन्याध्यांस का निर्वाह नहीं हो पाता, क्योकि सम्बन्ध भी व्यावहारिक है, देहादि का भी, अत सत्यानृतो का मिलन नहीं कहा जा सकता, न ही तादात्म्यसम्बन्ध विशिष्ट आत्मा को आरोपणीय मानकर विशेषण सम्बन्धमात्र को ही अनृत मान सकते, सत्यानृत के निर्वाह के लिए आत्मा को विशेषण के साथ आरोपणीय मानना पडेगा तभी सत्यानृत का मिथुन हो सकता है। इसी कारण वेदान्त–कल्पतरु–परिमलकार अप्पय दीक्षित ने सत्यानृत के वर्गीकरण को अधिष्ठान और आरोपणीय का वर्गीकरण नहीं माना है। उनका कहना है कि भाष्यकार के कथन का तात्पर्य मात्र विषम सत्ता से है। एक ही सत्ता मे अध्यास नहीं हो सकता। अध्यास के लिए विषमसत्ता का होना आवश्यक है। यह नही कि आरोपणीय ही अनृत हो और यह भी नहीं कि अधिष्ठान ही सत्य हो। जब देहादि मे आत्मा का अध्यास होता है तब आत्मा पारमार्थिक और देहादि व्यावहारिक हैं, अतः विषमसत्ता हुई। इस प्रकार अन्योन्याध्यास का भी निर्वाह हो जाएगा। शुक्ति–रजत–स्थल मे भी विषमसत्ताकत्व है, क्योंकि शुक्ति व्यावहारिक और रजत प्रातिभासिक है। अद्वैत–सिद्धिकार ने शुद्ध ब्रह्म को अध्यस्त या कल्पित नहीं माना है। उनके अनुसार वृत्तिरूप ज्ञान के कल्पित होने पर भी, उस वृत्ति मे वृत्यवच्छिन्न चेतन को अध्यस्त कहने पर भी उसमें रहने वाला शुद्ध चेतन कल्पित नहीं है।[32]

अध्यास लक्षण से इस 'परत्र' पद के द्वारा स्मृति मे अतिव्याप्ति का निवारण किया है, क्योंकि स्मृतिज्ञान के लिए परत्र–अर्थात् समक्ष की आवश्यकता नहीं पड़ती। कल्पतरुकार अमलानन्द स्वामी ने असन्निहितस्य परत्र प्रतीतिरध्यास[33] इस प्रकार अध्यास का लक्षण दिया है। असनिधान का

अर्थ है आरोप्य के अधिष्ठान मे परमार्थत आरोप्य का असत्व, न कि देशान्तरस्थित का असत्व। वैसा मानने पर अन्यथाख्याति का प्रवेश होगा जो कि अपसिद्धान्त है, अथवा असनिधान पद से सत्ख्याति का वारण किया गया है।[३४]

अध्यासवाद शून्यवाद नहीं है, एतदर्थ भी 'परत्र' अर्थात् साधिष्ठान भ्रम स्वीकार किया गया है, शून्यवादी भ्रम के लिए अधिष्ठान की आवश्यकता नही मानते, किन्तु अद्वैतवाद के अनुसार भ्रम सर्वदा किसी अधिष्ठान मे ही होता है, निरधिष्ठान भ्रम सभव नहीं है।[३५] स्मृतिज्ञान भ्रम नहीं है, स्मृतिज्ञान के लिए समक्षवस्तु अर्थात् अधिष्ठान की आवश्यकता नहीं है। एतदर्थ अध्यास लक्षण मे स्मृति–पद न रखकर 'स्मृतिरुप' पद का समावेश किया गया है, इसका अर्थ है स्मृति–पद के समान, न कि स्मृति।[३६] अब विचार्य यह है कि स्मृति के साथ समानताएँ कौन–कौन सी है जो कि अध्यास मे हैं? स्मृति जिस प्रकार सस्कारजन्य होती है, उसी प्रकार अध्यास मे भी सस्कार की आवश्यकता होती है, क्योकि जिसने पहले कभी सर्प न देखा हो, उसे सर्पभ्रम नहीं हो सकता, इसलिए पूर्वदृष्ट होने के लिए कहा गया है। पूर्वदृष्ट होने के साथ ही उसे सस्कार के रूप मे रहना चाहिए, तभी रज्जु को देखकर रज्जु की समानता के निमित्त से सर्प सस्कार उद्‌बोधित होते हैं और समुखस्य रज्जु मे सर्प की भ्रान्ति होती है, अत स्मृतिरूप मे सस्कार–जन्यत्व ही स्मृति के साथ समानता है।[३७] वस्तुत स्मृति और भ्रमज्ञान मे बहुत भिन्नता है। सस्कार–जन्यत्व होने से समानता है। भ्रमज्ञान मे सस्कार के साथ–साथ आगन्तुक दोष की भी आवश्यकता है, शुक्ति–रजत–भ्रम मे चक्षु मे काचकामादि आगन्तुक दोष है, जो कि उक्त भ्रम मे निमित्त बनते हैं, जिस प्रकार राम और श्याम दोनों को साथ मे भ्रमण करते देखने पर बाद मे यदि श्याम को देखते हैं तो राम का स्मरण हो आता है और उस स्मृतिज्ञान के उद्‌बोधक श्याम का ज्ञान होता है, उसी प्रकार शुक्ति–रजत–ज्ञान स्थल मे भी शुक्ति–खण्ड के चाकचिक्यादिदर्शन उद्‌बोधक है और दूरत्वादि दोष हैं।

इस प्रकार अध्यास का 'स्मृतिरूप. परत्र पूर्वदृष्टावभास' निर्दृष्ट लक्षण हुआ। इसमे 'सोऽय देवदत्त' अर्थात् पाटलिपुत्र में देखा हुआ आज बनारस में 'वही देवदत्त यह है', इत्यादि प्रत्यभिज्ञान मे भी अतिव्याप्ति दोष नहीं हैं, क्योकि उक्त प्रत्यभिज्ञान मे वही देवदत्त, इस समय भी संमुख में हो, तभी प्रत्यभिज्ञान होता है। भ्रम मे पूर्व दृष्ट सर्प रज्जु में नहीं होता, जिससे कि सर्प का प्रत्यभिज्ञान हो, अपितु सर्प स्मृति के समान होकर अर्थात् संस्कार से उद्‌बोधित होकर रज्जु मे न

होता हुआ भी दिखाई देता है, अत प्रत्यभिज्ञान से भिन्न है भ्रमज्ञान। इस अध्यास लक्षण के अवभास पद के अतिरिक्त अन्य पदो द्वारा भ्रमस्थल मे अन्य ख्यातिवादो का निराकरण करके अनिर्वचनीय ख्यातिवाद का समर्थन किया गया है क्योकि अवभास कहने से सत्ख्यातिवाद और परत्र कहने से निरधिष्ठानक असत्ख्यातिवाद का निवारण हो जाता है। सत्ख्याति और असत्ख्याति के निराकरण द्वारा अन्य ख्यातियो का भी निराकरण हो जाता है तथा अनिर्वचीय ख्याति की स्थापना हो जाती है। पचपादिकादि ग्रन्थो मे तथा भामती मे भी अनेक दृष्टान्तो सहित दस आचार्योक्त अध्यास लक्षण को घटाया गया है। पद्मपादाचार्य कहते हैं– जैसे कि जवाकुसुम के सान्निध्य से, स्फटिक स्वच्छ होने पर भी, उसके ससर्ग से उसके धर्म की प्रतीति स्फटिक मे होने लगती है, स्फटिक मे लोहितिमा मिथ्या है क्योकि स्फटिक मे लोहितिमा वस्तुत है नहीं, इसी प्रकार आत्मा में अहकारादि का उपराग भी अध्यास है।[३८] इसी प्रकार दर्पण मे मुख प्रतिबिम्ब दर्शन का भी उदाहरण दिया गया है। भामतीकार ने दृष्टान्तो से अध्यास को समझाने का प्रयास किया है।

हमने इत पूर्व यह कहा है कि भामतीकार 'अवभास' को भी अध्यास का लक्षण मानते हैं, कि भाष्यरत्नप्रकभाकर का इस विषय मे भामतीकार से मतभेद है। रत्नप्रभाकर ने 'परत्र अवभास' इतना ही अध्यास का लक्षण माना है। भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत लक्षण के अन्य पदो को इस लक्षण के उपपादनार्थ माना है।[३९] भामतीकार के अनुसार अवभास के दो अर्थ हैं– भाववाच्य घञ्–प्रत्ययान्त, कर्मवाच्च घञ्–प्रत्ययान्त। जिसका तात्पर्य है मिथ्याज्ञान और मिथ्यावस्तु अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय दोनो ही अध्यस्त है। शुक्ति–रजत–ज्ञान भी मिथ्या तथा शुक्तिरजतार्थ भी मिथ्या है, परन्तु भाष्यरत्न प्रभाकर ने अर्थ की मिथ्यात्वसिद्धि की है। उन्होंने अवभास मे कर्मवाच्य घञ्–प्रत्यय–मात्र माना है।[४०] रत्नप्रभाकर का लक्षण भाष्य के साथ अधिक सामजस्य रखता है, क्योकि भाष्यकार ने सर्वथापि अन्यत्र अन्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति[४१] सभी अध्यास लक्षणों मे अन्यत्र अन्य धर्म की अवभासता का व्यभिचार नहीं होता, इस कथन मे 'परत्र' और 'अवभास' पर जोर दिया गया है। रत्नप्रभाकर ने स्वय अध्यस्त अर्थात् मिथ्यावस्तु का लक्षण प्रस्तुत किया है– 'एकावच्छेदेन स्वससृज्यमाने स्वात्यन्ताभाववति अवभास्यत्वम् अध्यस्तत्वम्[४२] अर्थात् एक ही अश मे निज के साथ संसृष्ट करके जो प्रतीत हो, फिर भी अत्यन्ताभावयुक्त जो वस्तु, उसमें जो अवभासित हो, वही अध्यस्त है। यह अध्यस्त विषय के स्वरूप का लक्षण है, न कि अध्यासज्ञान के स्वरूप का। शुक्ति रजत मे 'इद रजतम्' इस प्रकार ज्ञान मे रजत 'इदं' के साथ ससृष्ट सा लगता है फिर भी 'इदं' में रजत का

अत्यन्ताभाव है। वह अत्यन्ताभाव युक्त वस्तु 'इद' मे प्रतिभासित हो, वह है 'रजत', वही अध्यस्त, अत मिथ्या है। यह लक्षण भी भाष्यकार के लक्षण के साथ सामजस्य रखता है।

३. वैदिक दर्शन (षड़-दर्शन) में भ्रम का विवेचन :

गत प्रकरण मे अध्यास और ख्यातिवाद के सम्बन्ध मे चर्चा करने के पश्चात् अब इस प्रकरण मे हम भ्रम के सम्बन्ध मे विभिन्न सैद्धान्तिक मतभेदो को व्यक्त करेगे।

भारतीय दर्शन मे बाह्य ज्ञान के सम्बन्ध मे प्राय मतभेद रहा है। विभिन्न दार्शनिको ने ज्ञान के सिद्धान्त को अलग–अलग रूपो मे व्यक्त किया है। यद्यपि इन सभी दार्शनिको ने बाह्य जगत् की अनुभूति मे उपस्थित भ्रम–स्थल की समस्या को हल करने का प्रयास किया है, लेकिन ये परमत को मानने को तैयार नहीं हैं। यही भ्रान्ति विषयक सिद्धान्त या ज्ञान का सिद्धान्त ही हमारे वैदिक दर्शन मे भ्रम के सिद्धान्त के नाम से प्रचलित है।[४३] सत्ता सम्बन्धी अपनी–अपनी धारणा के साथ ही भ्रम स्थान मे भी सैद्धान्तिक मतभेद आवश्यक है। बौद्ध दर्शन के भ्रम–सिद्धान्त आत्मख्याति और असत्ख्याति को लेकर आठ प्रकार की ख्यातिया ही प्राय प्रचलित रही हैं जिनमे से हम इस प्रकरण मे बौद्ध के भ्रम सिद्धान्त के अतिरिक्त अन्य छह प्रकार के भ्रमसिद्धान्तो या ख्यातिवाद की चर्चा करेगे। उन ख्यातियो के नाम है

क	अनविर्चनीय ख्याति	{शकर का मत}
ख	सत्ख्याति	{विशिष्टाद्वैत–वेदान्त का मत}
ग	विपरीत ख्याति	{कुमारिल का मत}
घ	अख्याति	{प्रभाकर का मत}
ड	अन्यथाख्याति	{न्याय का मत}
च	सदसत्ख्याति	{साख्य का मत}

विमुक्तात्ममुनि ने अपनी पुस्तक "इष्टसिद्धि" मे केवल तीन प्रकार की ख्यातियो {सत्ख्याति, असत्ख्याति, सदसत् निर्वचनीयख्याति} की ही चर्चा की है। भासर्वज्ञ ने तो अपनी पुस्तक 'न्यायभूषण' मे इन ख्यातियों की सख्या को बढा करके आठ तक पहुँचा दी है, जो इस प्रकार हैं .

१. निरालम्बनख्याति अख्याति (माध्यमिक)

२	असदवलम्बनख्याति	असत्ख्याति (माध्यमिक एकदेशी)
३	प्रसिद्धार्थख्याति	चार्वाक
४	अलौकिकार्थख्याति	अलौकिार्थख्याति भट्टोम्बेक प्रमुख
५	स्मृतिविप्रमोषख्याति	प्रभाकर
६	आत्मख्याति	सौत्रान्तिक वैभाषिक योगाचार
७	सदसत्वाद्यनिर्वचनीयख्याति	अद्वैतवेदान्ती
८	विपरीतख्याति	न्याय

परवर्ती काल मे रामानुज सम्प्रदाय का सत् ख्यातिवाद, माध्व का असत्ख्यातिवाद प्रसिद्ध हुए है। साख्य दर्शन द्वारा सद्ख्याति स्वीकृत है। इस प्रकार नव ख्यातिवादो की भ्रम मे चर्चा मिलती है, परन्तु इनमे से अद्वैत ग्रन्थो मे पचख्यातियो की ही अधिक चर्चा है।

भासर्वज्ञ ने उक्त मत को पूर्वपक्ष के रूप मे रखते हुए कहा है कि मरुस्थल मे जल ज्ञान मे जल की सत्ता नहीं है, क्योकि ऐसा होने पर जल का ग्रहण होना चाहिए। मरीचि भी जल का रूप धारण नहीं करती, क्योकि वे उससे भिन्न हैं। अत· निरालम्बन ही मरुस्थल जल है। इसी प्रकार चार्वाक के प्रसिद्धार्थख्याति मे भ्रम माना ही नहीं गया, क्योकि उनके अनुसार भ्रमस्थल मे भी तत्कालीन प्रमाणसिद्ध वस्तु की ही प्रतीति होती है। इन दोनो ख्यातियो के खण्डन मे उन्होने तर्क भी दिये है।[४४] इन दोनो के अतिरिक्त और छ ख्यातिवाद अत्यधिक चर्चित हैं।[४५] बौद्धो के भ्रम सम्बन्धी सिद्धान्त विज्ञानवादियो का आत्मख्यातिवादी मत एव शून्यवादियो के असत्ख्यातिवादी मत का विवेचन हम आगे चौथे अध्याय मे विस्तृत रूप मे करेगे। इसके अतिरिक्त भ्रम–स्वरूप के अन्य सिद्धान्तो की विवेचना हम क्रमशः करेगे।

अनिर्वचनीयख्याति

अद्वैतवेदान्तियो ने भ्रम की व्याख्या अनिर्वचनीयख्याति के द्वारा की है। अभी हमने यह दर्शाने का प्रयास किया कि भ्रम स्थल का विषय एवं ज्ञान दोनो ही अनिर्वचनीय हैं, अर्थात् भ्रमस्थल मे अनिर्वचनीय वस्तु एव तद् द्वारा उद्‌बोधित अनिर्वचनीय ज्ञान उत्पन्न होते हैं। अनिर्वचनीय वस्तु एवं ज्ञान की उत्पत्ति भ्रमस्थल मे क्यों मानी जाय– इस पक्ष मे युक्तियां दी गयी ख्यातिवादों के प्रत्याख्यान में एवं तदुपरान्त प्रदर्शित की जायेंगी। इस समय इस प्रसंग में अनिर्वचनीयता क्या है– विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि परवर्ती अद्वैताचार्यों ने इस पर अपने पर्याप्त विचार दिये हैं।

प्रसिद्ध अद्वैताचार्य चित्सुखाचार्य ने अनिर्वचनीयत्व का लक्षण करते हुए तत्त्व-प्रदीपिका मे पूर्व पक्ष की ओर से दो कोटियॉ प्रस्तुत की है। पूर्वपक्ष का कहना है कि "अनिर्वचनीयता" से सिद्धान्ती का तात्पर्य क्या (१) निरूक्ति विहरात से या (२) निरूक्ति निमित्त रहितता से है?[४६] दोनो ही पक्ष असगत है, क्योकि अद्वैतवादी जब रजत अनिर्वचनीय है, ऐसा कथन करते हैं तब निवर्चन होने के कारण भ्रमस्थलीय रजत की अनिर्वचनीयता नहीं रह पाती। द्वितीय विकल्प मे दो बाते हैं– निरुक्ति-निमित्तरहितता से तात्पर्य निरुक्ति के ज्ञान का अभाव अथवा अर्थ का अभाव? क्योकि ज्ञानाभाव से भी कथन नहीं हो सकता। यदि घट ज्ञान नहीं है तो घट का कथन सभव नहीं है। 'घटज्ञान नहीं' इतना कहने के लिए भी घटज्ञान की आवश्यकता है, अन्यथा वदतोव्याघात होगा, जैसे कि 'मम माता बन्ध्या'। अर्थ के अभाव से भी कथन नहीं बनता। यदि घट हीन हो तो उसका ज्ञान नही होगा, ज्ञान न होगा तो कथन नहीं हो सकता। इस प्रकार दो ही निमित्त हो सकते हैं, किन्तु ज्ञानाभाव नहीं माना जा सकता, क्योकि अद्वैतवेदान्ती भी रजत् आदि विज्ञान की निरुक्ति–निमित्तता स्वीकार करते है।[४७] अर्थ का अभाव स्वीकार करने पर असत् ख्याति प्रसग होगा, क्योकि विषयरूप से रजत् का अभाव स्वीकार करने पर शून्यवादी के समान निर्विषयक रजत् ज्ञान स्वीकार करना होगा। इससे शून्यवाद मे प्रवेश होगा। इसी प्रकार ज्ञानबाध्यत्व को अनिर्वाच्यत्व नही कहा जा सकता। ऐसा मानने पर सस्कार ज्ञान मे अतिव्याप्ति होगी, क्योकि उत्तर सस्कार द्वारा पूर्व सस्कार की निवृत्ति उत्तर सस्कार ज्ञान से होती है। बाध्यत्व को बाधक ज्ञान का विषय मानने पर अधिष्ठानभूत शक्ति एव ब्रह्म मे भी लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। इसी प्रकार 'प्रतिपन्नोपाधि मे निषेध्यत्व ही अनिर्वचनीयत्व है', इस लक्षण मे भी असगति पूर्वपक्ष की ओर से दिखाई गयी है, क्योकि जब अधिष्ठानज्ञान द्वारा माया की निवृत्ति से रजत् की भी निवृत्ति हो जाती है, तब निषेध्य नाम की वस्तु नहीं रह जाती, अर्थात् उसी उपाधि मे निषेध का निषेध्य नहीं रहता। इसके अतिरिक्त चित्सुखाचार्य ने पूर्वपक्ष की ओर से अनुमान आदि प्रमाणों का भी अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि मे अभाव दिखाया है।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि मे अनिर्वचनीयत्व के लक्षण के प्रसंग मे पूर्वपक्ष के रूप मे पूर्वोक्त विकल्पों को ही स्वल्प परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया है। साथ में अन्य भी विकल्प प्रस्तुत किये है।[४८] न्यायमकरन्दकार की व्याख्या भी इस प्रकार की है।[४९]

अनिर्वचनीयत्व में उक्त प्रकार पूर्वपक्ष करने के पश्चात् चितसुखाचार्य ने इस का एक युक्तिसगत लक्षण प्रस्तुत किया है। 'प्रत्येक सदसत्वाभ्या विचारपदवी न यत्। गाहते

तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिन'[५०], 'अर्थात् सत्व और असत्वरूप से जिसका विचार सभव नही है, दोनो कोटियो को मिलाकर भी जिसका विचार सभव नही वह अनिर्वाच्य है।[५१] सभी प्रकार के भ्रम ऐसे ही है, अत अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष नहीं है। निरुक्तिनिमित्तविरहता की भी आपत्ति असगत है, क्योकि निरुक्ति के निमित्त ज्ञान, अर्थादि के रहने पर भी सदसदादि प्रकारो से निरुक्ति सभव नही है, अत अनिर्वाच्यता तो है ही। अद्वैतसिद्धिकार का लक्षण भी उक्त लक्षण के समान है। चित्मुखाचार्य ने 'ज्ञानबाध्यत्व' लक्षण को भी अनिर्वाच्यत्व का निर्दोष लक्षण कहा है। उन्होने बाध का अर्थ 'प्रतिपन्नोपाधि मे अभावबोधन' किया है।[५२] इसी लक्षण को अद्वैतसिद्धिकार ने 'प्रतिपन्नोपाधौ बाध्यत्ववा'[५३] कहा है। सस्कार ज्ञान का आत्मा मे त्रैकालिक निषेध न होने के कारण उसमे अतिव्याप्ति नहीं है। अद्वैतसिद्धिकार ने 'सत्वरहितत्वे सति असत्वरहितत्वे सति सदसत्वरहितत्वमपि साधु' निष्कृष्ट लक्षण अनिर्वाच्यत्व का किया है, जिनके अनुसार सत्व असत्व दो कोटियो के अतिरिक्त दोनो को मिलाकर भी कथन सम्भव न होने के कारण अनिर्वाच्यत्व है। शुक्ति–रजत को यदि सत्रूप से नहीं कह सकते और असत् रूप से भी नहीं कह सकते तो सदसत् दोनो रूपो से कैसे कह सकते है? जो 'अ' भी नही और 'ब' भी नहीं अब 'अ+ब' कैसे हो सकता है? अत वह अनिर्वचनीय ही होगा। सदसत् दोनो का साथ मे मानने पर विरोध–नियम–भग हो जायेगा।[५४] अद्वैतसिद्धिकार ने मात्र 'बाध्यत्व' को भी अनिर्वाच्यत्व का लक्षण माना है।[५५] क्योकि अनिर्वचनीय रजतादि व्यावहारिक शुक्ति–ज्ञान द्वारा बाध्य हैं ही एव च घटादि भी तदधिष्ठान–चैतन्य के ज्ञान द्वारा बाध्य है, अत शुक्तिरजतादि एव घटादि अनिर्वाच्य पद्मार्थ हुए। इसके अतिरिक्त सद्ब्रह्म का बाध तो कभी होता नहीं, जोकि बाध्य हो, जो अलीक है अर्थात् जिसकी प्रतीति तक नहीं उसका बाध कैसे? अत आकाशकुसुम भी बाध्य नहीं हुआ। मात्र घटादि एव शुक्तिरजतादि मिथ्या पदार्थ ही बाध्य हुए, अत यह लक्षण निर्दोष है। अनिर्वाच्यत्व के उक्त सभी लक्षणो का समर्थन प्राचीनाचार्य आनन्द भट्टारक ने भी किया है।[५६]

बाध, प्रतीति होने के पश्चात् ही सभव है। प्रतीति होने वाले सभी पदार्थ बाध्य नहीं है इस प्रकार अबाध्य ब्रह्म एव अप्रातीतिक नरविषाण में बाध्यत्व नहीं जा सकता, अत· अनिर्वाच्यत्व ही बाध्यत्व है।[५७]

अनिर्वाच्यत्व मे प्रत्यक्षादि प्रमाण भी दिए जा सकते हैं। मिथ्यैव रजतभादित्यादि, प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भ्रमस्थलीय रजत के अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि' होती है। यहां पर अभावप्रत्यक्षवादी के

लिए ही यह उदाहरण है, जो लोग (मीमासकादि) अभाव को अनुपलब्धि प्रमाण ग्राह्य मानते है उनके प्रति अनुपलब्धि द्वारा अनुमान प्रमाण समझना चाहिए। यहॉ पर 'यह रजत है' और पश्चात् 'रजत नही है' इस प्रकार अनुभव–विरोध भी नही कहा जा सकता, क्योकि बाध काल मे रजत का त्रैकालिकाभाव होने पर भी त्रैकालिक व्यावहारिक रजत का ही अभाव है। पूर्वकाल मे प्रातिभासिक रजत का अभाव नहीं कहा जाता अत किसी प्रकार की असगति की बात नही है।[५८] आचार्य मधुसूदन ने एव चित्सुखाचार्य ने अर्थापत्ति प्रमाण भी अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि मे दिखाया है। यदि रजत सत् होता तो बाधित न होता। असत् होता तो प्रतीत न होता। बाधित और प्रतीत दोनो होते है, अत सद्सत्विलक्षण अनिर्वाच्यत्् की सिद्धि मे दिखाया है। यदि रजत सत् होता तो बाधित न होता। असत् होता तो प्रतीत न होता। बाधित और प्रतीत दोनो होते हैं, अत सद्सत्विलक्षण अनिर्वाच्य रजत है।[५९] इसी प्रकार आचार्य चित्सुख ने अनुमान प्रमाण प्रस्तुत किया है– विवादास्पदीभूत रजत अनिर्वचनीय है (प्रतिज्ञा) बाध्य होने से (हेतु) जो ऐसा नहीं, वह वैसा नही यथा–आत्मा, (उदाहरण) आत्मा अनिर्वाच्य नहीं है अतएव बाध्य भी नहीं है। यह व्यतिरेकी उदाहरण है और व्याप्ति भी व्यतिरेकी है, अर्थात् अनिर्वाच्य से विपरीत वस्तु बाध्य भी नही है। बाध्यत्व एव अनिर्वाच्यता की साहचर्यनियम व्याप्ति है। प्रातिभासिक शुक्तिरजत बाध्य है अत. अनिर्वाच्य भी होना चाहिए, क्योकि व्याप्ति के एक के होने का अर्थ दूसरे का भी होना है। प्रातिभासिक रजत शुक्तिज्ञानानन्तर नही रह सकता, उसका बाध होना अनिवार्य है, क्योकि उसका उपादान है शुक्ति-अज्ञान, वह शुक्तिज्ञान के होने के पश्चात् नहीं रह सकता है। ज्ञान होने पर भी अज्ञान के रह जाने का अर्थ दोनो के विरोध को मिटाना है, ऐसा नहीं हो सकता, अत शुक्तिज्ञान अनन्तर शुक्ति अज्ञानोत्पादित रजत का बाध निश्चित है। जब बाध निश्चित है, तब व्याप्ति बल से साध्य का होना भी निश्चित ही है। साध्य है अनिर्वाच्यत्व, वह शुक्तिरजत है। इसी प्रकार घटादि वस्तुए भी ब्रह्मज्ञान द्वारा बाध्य है, अत हेतु बल से साध्य अनिर्वाच्यत्व का उनमे भी होना आवश्यक है, अर्थात् घटादिवस्तुए भी अनिर्वाच्य हैं। न्यायमकरन्दकार ने भी इसी प्रकार अनिर्वाच्यत्व मे अनुमान प्रमाण प्रस्तुत किया है।[६०] अद्वैतसिद्धिकार ने श्रुति प्रमाणो को उद्धृत करके भी अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि की है। गौड ब्रह्मानन्द ने भी अपनी पुस्तक अद्वैतसिद्धान्त–विद्योतन मे श्रुति प्रमाणों द्वारा अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि की है।[६१]

इस प्रकार अनिर्वाच्यत्व क्या है जान लेने पर, अब अनिर्वचनीयख्याति क्या है, विचार करना आवश्यक है। ख्याति का अर्थ ज्ञान है। अनिर्वचनीयख्याति का अर्थ दो प्रकार है। प्रथम अनिर्वचनीय

की ख्याति अर्थात् अनिर्वचनीय वस्तु का ज्ञान। शकर मतानुसार ब्रह्मातिरिक्त सम्पूर्ण वस्तुए अनिर्वचनीय है, ऐसी अनिर्वचनीय वस्तुओ का ज्ञान भी अनिर्वचनीय है, अत दूसरा अर्थ हुआ जो ज्ञान अनिर्वर्चीय हो वही अनिर्वचनीयख्याति है, अर्थात् अनिर्वचनीय वस्तुविषयक ज्ञान भी अनिर्वचनीय है। जगत् की अनिर्वचनीय की व्याख्या के लिए भ्रमस्थलीय रजत की अनिर्वचनीयता की सिद्धि करनी है, क्योकि दृष्टान्तरूप से प्रातिभासिक वस्तु को ही लिया जा सकता है। प्रातिभासिक वस्तु की अनिर्वचनीयता की सिद्धिपूर्वक व्यावहारिक वस्तु की भी अनिर्वचनीयता की सिद्धि हो सकती है। इस आशय से शाकरवेदान्तियो ने भ्रमस्थलीय प्रातिभासिक वस्तु की व्याख्या के लिए अनिर्वचनीयख्याति स्वीकार की है। इस मत के अनुसार भ्रमस्थलीय शुक्तिरजत असत् नहीं है, क्योकि उसकी प्रतीति 'इद रजतम्' इस प्रकार होती है। असत् का अर्थ शाकरतवेदान्त के अनुसार अलीक है जो कि आकाशकुसुमादि है। आकाशकुसुमादि की प्रतीति इद रूप से कदापि कही भी नही होती। 'बन्ध्यापुत्रोऽस्ति', 'बन्ध्यापुत्रोयाति' ये वाक्य व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी तथ्यात्मक न होने के कारण तात्विक नहीं हैं। वाक्य या शब्द तथ्यात्मक होना चाहिए तभी तात्विक होगे। इसी. प्रकार भ्रमस्थलीय रजत सत् भी नहीं है, क्योकि सत्व त्रिकालाबाध्यत्व है। भ्रमस्थलीय रजत की उत्पत्ति शुक्तिविषयक अज्ञान से हुई है और शुक्तिविषयक ज्ञान से उसका परक्षण मे 'नेद रजतम्' यह रजत नहीं है करके बाध हो जाता है। शकर के अनुसार जिसका बाध होता है वह सत् नहीं। अत सत् नहीं असत् नही तब दोनों भी नहीं, सुतरा भ्रमस्थलीय रजत अनिर्वचनीय है।[६२] जिस प्रकार रजत अनिर्वचनीय है उसी प्रकार शुक्ति एव उसमे प्रतीत रजत का सम्बन्ध भी अनिर्वचनीय है तथा शुक्तिरजत ज्ञान भी अनिर्वचनीय है। यहां पर रजत नहीं है, नहीं कहा जा सकता। सत् है यह भी नहीं कहा जा सकता, अत. शुक्ति–रजत की अख्याति, या असत्ख्याति द्वारा व्याख्या नहीं हो सकती, न ही अन्यथाख्याति द्वारा व्याख्या सम्भव है क्योकि देशान्तरीय सत्यरजत की यहा पर सम्भावना नहीं हो सकती। इस कारण अनिर्वचनीय मिथ्यारजत की शुक्ति मे उत्पत्ति स्वीकार करनी होगी।[६३] भ्रमस्थलीय प्रातिभासिक रजत के समान स्वप्न भी अद्वैतमत में प्रातिभासिक है। प्रातिभासिकत्वेन स्वप्न एवं जाग्रत भ्रमस्थलीय रजत की सत्ता समान है। अद्वैतवेदान्त के इस अनिर्वचनीयख्यातिवाद को मण्डनमिश्र के अतिरिक्त सभी अद्वैताचार्यो ने स्वीकार किया है। मण्डनमिश्र ने भ्रम की व्याख्या में कुमारिल भट्ट स्वीकृत विपरीतख्याति प्राप्त की है। ऐसा उनके द्वारा लिखित ग्रन्थ विभ्रम विवेक एवं ब्रह्मसिद्धि से पता चलता है।[६४]

विपरीतख्याति के अनुसार 'इद रजत' इस ज्ञान मे इद प्रत्यक्ष और रजत स्मृति ज्ञान है। स्मृतरजत को जोकि प्रत्यक्ष नहीं है 'इद' मे प्रत्यक्ष करने का भ्रम होता है। भ्रान्त व्यक्ति इस प्रकार स्मृति को प्रत्यक्ष के साथ अभिन्न मानकर इद को रजत मान बैठता है, यही विपरीतज्ञान है, इसी को अन्यथाख्याति भी कहा है। मण्डनमिश्र के ग्रन्थ ब्रह्मसिद्धि के ऊपर वाचस्पति मिश्र ने टीका लिखी है। उसमे वाचस्पति मिश्र भी विपरीतख्यातिवादी से लगने लगते है, परन्तु भामती के टीकाकार अमलानन्द स्वामी ने तत्कृत टीका कल्पतरू मे वाचस्पति के अन्यथाख्यातिवादी होने का खण्डन किया है।[६५] भामती टीकाकार के रूप मे वाचस्पति के ऊपर अन्यथाख्यातिवादी होने का आरोप निराधार है, क्योकि भामती मे अनेक युक्ति और तर्को से उन्होने अनिर्वचनीयख्याति का ही समर्थन और सवर्द्धन किया है। मण्डन मिश्र के विपरीत ख्यातिवादी होने के दो कारण हो सकते हैं, एक कारण यह हो सकता है कि वे कुमारिल के अनुयायी मीमासक थे। दूसरा कारण यह है कि आचार्य शकर ने भाष्य मे कहा है– 'सर्वथाऽपि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासता न व्यभिचरति'। अर्थात् अन्य का अन्य मे अवभास होना यह बात सभी ख्यातिवादो मे है। इस आचार्य वाक्य का अर्थ मण्डन मिश्र के अनुसार विपरीतख्याति के साथ भी किया जा सकता है, जिसमे जो धर्म नहीं, उसमे उस धर्म का आरोप विपरीत ही हुआ। इसी मे सगति करते हुए मण्डन ने विपरीतख्याति स्वीकार की है।[६६] जो भी हो अन्य सभी शाकर–वेदान्ती "अतस्मिन् तद्बुद्धि" को अध्यास कहते हैं एव अध्यस्तज्ञान और वस्तु की व्याख्या मे अनिर्वचनीयख्याति स्वीकार करते हैं।

अनिर्वचनीयख्याति के अतिरिक्त अन्य ख्यातियो का भी भ्रम का सिद्धान्त व्याख्यायित किया गया है। यहा पर आचार्य रामानुज ने अपने तर्कों के आधार पर शंकर के भ्रम सिद्धान्त के सबल तर्को द्वारा अपना विरोध प्रस्तुत किया है जिसका कि विवेचन भी करना यहीं पर अति आवश्यक है।

रामानुजाचार्य ने अपने ग्रन्थ श्री भाष्य में अनिर्वचनीयख्याति विरोधी सबल तर्कों को प्रस्तुत किया है। इनका आक्षेप है कि अनिर्वचनीयता से तुम्हारा क्या तात्पर्य है? सद्–असद् विलक्षणता को मानते हो तो ऐसी वस्तु का कोई प्रमाण नहीं मिलता इसलिए वह अनिर्वचनीय तो है ही। कथन यह है कि सारी वस्तुएँ प्रतीति के आधार पर निर्धारित होती हैं। सारी वस्तुएँ सद् या असद् रूप मे ही होती है। सद्–असद् आकार वाली यदि सद्–असद् विलक्षण वस्तु को ही प्रमाणित करने लगेगी तो कोई भी वस्तु प्रतीति का विषय ही न रह जायेगी। इनका कहना है कि अनिर्वचनीय अज्ञान की प्रतीति किसी भी प्रकार नहीं हो सकती है। केवल प्रतीति या भ्रान्ति की बाधा से भी अज्ञान को

स्वीकार नही जा सकता, जो वस्तु प्रतीति या भ्रान्ति की बाधा के योग्य होती है, वह प्रतीयमान और विशेषोल्लेखनीय होती है। प्रतीति, भ्रान्ति या और भी किसी भी प्रकार की प्रतीति से किसी ऐसी वस्तु की कल्पना नही की जा सकती जिसके प्रकाश की उपलब्धि न होती हो। सद्–असद् अनिर्वचनीय अपूर्व को रजत माना जाता हो अथवा रजत के रूप मे इसकी कल्पना की जाती हो ऐसी बात नही है, अनिर्वचनीय कल्पना मे भी अन्य वस्तु मे अन्यथा ज्ञान अनिवार्य होता है अन्यथा ज्ञान के स्वीकारने से ही ख्याति, प्रवृत्ति, बाध, भ्रम आदि की उत्पत्ति होती है जिससे नितान्त अदृष्ट वस्तु की कल्पना होती है, जिसके फलस्वरूप ही वह कल्पित अनिर्वचनीयता होती है। उस समय वह अनिर्वचनीय रूप से प्रतीति नही होती अपितु वास्तविक रजत के रूप मे ही उसकी प्रतीति होती है। यदि अनिर्वचनीय प्रतीति हो तो भ्रान्ति और बाधा का प्रश्न ही नहीं उठता। भ्रमस्थल मे अन्यथा भान होने से तथा प्रतीति, वृत्ति, बाधा, भ्रम आदि की अनुपपत्ति से अनिवार्य शुक्ति ही रजत की आकृति मे अवभासित होती है, यह तो सबको मानना पडेगा।[६७] वे रजत की प्रतीति को रजतोत्पादक नही कह सकते, क्योकि उत्पत्ति के पूर्व उसकी प्रतीति सम्भव नहीं है। प्रतीति पहले निर्विषयक होती है, बाद मे रजतोत्पत्ति करके उस रजत को अपना विषय बनाती है, ऐसा तो बडे लोग ही कह सकते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियगत दोष, रजतोत्पादक हो, ऐसा भी समझ मे नही आता, क्योकि वह द्रष्टा पुरुष के आश्रय से ही हो सकता है। किसी वस्तु मे किसी अन्य वस्तु को पैदा कर देने की सामर्थ्य द्रष्टा पुरुष मे तो होती नहीं तथा इन्द्रियो मे भी ऐसी सामर्थ्य नहीं है, वे तो केवल ज्ञानोत्पादक ही होती है। विकृत इन्द्रियॉ भी नई वस्तु पैदा नहीं कर सकतीं, वे तो अपने कार्य (ज्ञान) मे ही वैचित्र्य प्रतीति कराती हैं। अनादि मिथ्या ज्ञान तो ऐसे उत्पादन का उपादान हो नहीं सकता।

रामानुज का आक्षेप है कि जब जागतिक सभी वस्तुए अनिर्वचनीय है तो सीप मे रजत शब्द का ही प्रयोग क्यो किया जाता है तथा रजत प्रतीति ही क्यों होती है सीप को घट, प्याला आदि क्यो नहीं कहा जाता, घट क्यो नहीं समझा जाता? यदि यह कहा जाय कि रजत आदि के सादृश्य से ऐसा होता है, तो यह कहना चाहिए कि "यह उसके समान है" यदि रजत आदि जाति के योग से उक्त प्रकार की प्रतीति होती है तो वह वास्तविक होती है या अवास्तविक? श्रीनिवासचार्य का भी आक्षेप है कि अनिर्वचयत्व–वाच्यत्व रहित कहेगे तब तो सर्वव्यवहार में विरोध होगा, ब्रह्म में भी तुम्हारे द्वार वाच्यत्व राहित्य कहने पर वह भी प्रपंचतुल्य ही हो जायेगा। सत्य असत्य रहितत्व कहने

पर तो तुम्हारे द्वारा अगीकृत शुक्तिरजतादि मे भी प्रातिभासिकत्व मे अनिर्वचनीयत्व की अनापत्ति होगी। सत्य अर्थ मे पारमार्थिक नहीं लेना चाहिए। वहाँ भी ब्रह्माणि का अति प्रसग होगा। ब्रह्म मे भी पारमार्थिक सत्व कश्चिद्धर्म तुम्हारे द्वारा मान्य है।[६८] यह अनिर्वचनीय स्वय सद् है या असद्? सद् होने पर कैसे उसकी असत्यप्रपचवृत्तिता होती है? असत्य होने पर उसका कर्त्ता कौन है? अनिर्वचनीय रजतादि की उत्पत्ति किस कारण से है? उसकी प्रतीति नहीं होती। उत्पत्ति के पूर्व वह सम्भव नहीं है। इन्द्रियो के द्वारा उनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं, क्योकि उनके ज्ञान के कारण होना सम्भव होता है। इन्द्रियगत दोष भी सम्भव नहीं, क्योकि उसके पुरुषाश्रयत्व होने से शुक्ति मे अनिर्वचनीय रजत के उत्पादकत्व का योग नहीं है। दुष्ट इन्द्रियो से भी यह सम्भव नहीं, क्योकि उनके भी स्वकार्यभूत ज्ञान ही विशेष कर होते हैं। यदि विषयगत दोष ही कारण माना जाय तो दोष विषय पुरुष उभयनिष्ठ है।[६९] विषय मात्र कहने पर पुरुष के सर्वथा निर्दोष होने से भ्रम असम्भव है। यदि विषय पुरुष उभयनिष्ठ है तब तो उभयनिष्ठ दोष से केवल विषय मे कार्योत्पादकत्व सम्भव नहीं।[७०]

वैष्णावाचार्य का भी आक्षेप है कि रजत की उत्पत्ति मे प्रतीति कारण है? अथवा इन्द्रिय कारण है? या इन्द्रियगत दोष कारण है? या दुष्ट इन्द्रिया कारण हैं? या विषयगत दोष कारण है? उत्पत्ति से पूर्वकाल मे प्रतीति के असम्भावित होने से 'प्रतीति ही शुक्ति रजत की उत्पत्ति का हेतु है।' इस प्रकार के प्रथम पक्ष को स्वीकार नहीं कर सकते हैं। इन्द्रिया तो ज्ञानमात्र मे ही कारण है। इसलिए इन्द्रिया उक्त रजतोत्पत्ति में कारण नही कही जा सकती हैं। अत. द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है। इन्द्रियगत दोष तो पुरुष में रहता है, वह शुक्ति रजत का उत्पादक कैसे हो सकता है? इसलिए तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है। दुष्ट इन्द्रियां तो स्वोत्पन्न ज्ञान में ही कुछ विशेषता कर सकती हैं। इसलिए दुष्टेन्द्रियां भी उक्त रजतोत्पत्ति का कारण नहीं हो सकती हैं। अत चतुर्थ पक्ष भी ठीक नहीं है। यदि पाचवा पक्ष स्वीकार करे अर्थात् विषयगत दोष को ही उक्त रजत का उत्पादक माने तो प्रश्न उठता है कि वह दोष विषयमात्र निष्ठ है? अथवा पुरुषनिष्ठ भी है? अर्थात् पुरुष और विषय उभयनिष्ठ है। प्रथम पक्ष को स्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि दोष का विषय मात्र मे रहने वाला मानने पर पुरुष निर्दोष हो जाता है। निर्दोष पुरुष को भ्रम नहीं हो सकता है। इसलिए प्रथम पक्ष मानने पर भ्रम ही असम्भावित हो जाता है। अन्त्यपक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि दोष को विषय और पुरुष दोनों में रहने वाला मानें तो उभयनिष्ठ दोष विषयमात्र

मे रहे हुए कार्य का उत्पादक कैसे हो सकता है? अर्थात् विषय और पुरुष उभयनिष्ठ दोष विषयरूप रजतनिष्ठ उत्पत्ति का ही हेतु कैसे बन सकता है? इसलिए पचमपक्ष भी नहीं माना जा सकता है। उक्त प्रकार के विकल्पो का समाधान न कर पाने के कारण अनिर्वचनीयख्याति की सिद्धि नही हो सकती है।

अख्यातिवाद

मीमासक प्रभाकर सम्प्रदाय के अनुसार सभी ज्ञान यथार्थ हैं। उनके अनुसार अयथार्थ ज्ञान है ही नही। शालिकनाथ ने प्रकरणपजिका मे प्रभाकर मत के ज्ञान सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है 'यथार्थ सर्वमेवेह विज्ञानम्।'[७१] इसी सिद्धान्त के अनुसार 'इद रजतम्' इसके पश्चात् जो 'नेद रजतम्' इस प्रकार निषेध बुद्धि है, इससे रजत का निषेध नहीं होता और न ही 'इद' का निषेध होता है, अपितु रजत के साथ इद के असम्बन्ध के ज्ञान न होने के कारण 'यह रजत है' इस प्रकार शब्दादिप्रयोगरूप व्यवहार का ही प्रतिषेध होता है।[७२]

प्रभाकर सम्प्रदाय का कहना है कि भ्रमवादी जो शुक्ति मे रजत का आरोप मानते हैं वह समीचीन नहीं है, क्योकि उक्त शुक्ति–रजत भ्रमस्थल मे रजत का आलम्बन शुक्ति नहीं हो सकती, ऐसा होने पर स्वानुभवविरोध होगा। भ्रमवादी जब रजत का आलम्बन शुक्ति को कहते हैं, उनसे प्रभाकरो का प्रश्न है कि 'आलम्बन' से भ्रमवादियो का क्या अभिप्राय है? क्या जिसकी सत्ता है, वह वस्तु ज्ञान का आलम्बन है? ऐसा कहने पर अतिप्रसग दोष होगा। ससार मे सद्वस्तु जहॉ भी है वह किसी भी ज्ञान का आलम्बन हो जायेगी, अर्थात् शुक्तिरजतज्ञान का आलम्बन घट भी होगा। घट भी सत् है। कोई भी वस्तु किसी भी ज्ञान का आलम्बन होगी। यदि भ्रमवादी इदं को कारणत्वेन रजतज्ञान का विषय मानते हैं तो भी समीचीन नहीं है, क्योकि ज्ञान के कारण इन्द्रियॉ भी होती हैं। प्रत्यक्षज्ञान के प्रति इन्द्रियॉ भी कारण हैं, अत इन्द्रियॉ भी रजतज्ञान का विषय क्यो न हो? यदि कहा जाए कि ज्ञान मे भासमानत्व ही ज्ञान का आलम्बनत्व है, तब तो शुक्ति रजतज्ञान का आलम्बन हो ही नहीं सकती, 'इदं रजतम्' मे 'शुक्ति रजतम्' की प्रतीति तो होती नहीं है, अर्थात् शुक्ति भासती नहीं है, अतः वह आलम्बन नहीं हो सकती।[७३] उक्त भ्रमस्थल में 'रजत' इस प्रकार का अनुभव होता है, 'शुक्ति' ऐसा नहीं होता, अतः अनुभव–विरोध होगा। चक्षुरादिइन्द्रिय यथार्थज्ञान उत्पन्न करने मे सहायक होती हैं न कि मिथ्याज्ञान को उत्पन्न करने में। दुष्टेन्द्रियां भी मिथ्याज्ञान

उत्पन्न करने मे समर्थ नहीं है, क्योकि दोष से दूषित होने पर भी केवडे का बीज बट के अकुर उत्पन्न करने मे समर्थ नहीं हो सकता। इसी कारण यह मानना पडेगा कि कारणगतदोष कारण मे कार्यजननशक्ति को ही व्याहत करते हैं, कारण मे नये कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति को नही उत्पन्न करते।[७४]

मीमासक प्रभाकरो का और भी कहना है कि ज्ञान यदि निजविषयक व्यभिचारी होता है अर्थात् ज्ञान द्वारा जो वस्तु जिस रूप मे प्रकाशित होती है वह यदि वैसी नहीं है, तब तो ससार मे किसी भी ज्ञान के ऊपर निर्भर नहीं किया जा सकेगा, क्योकि उक्त प्रकार से सभी ज्ञानो मे प्रामाण्यसशय होगा। फलत किसी भी वस्तु का स्वरूपनिर्णय करना असभव हो जायेगा, इसलिए प्रभाकरो के अनुसार जितने प्रकार के ज्ञान हैं, वे सभी यथार्थ हैं।[७५] भ्रम के प्रभाकरसम्मत स्वरूप का विवेचन करते हुए आचार्य शकर ने कहा है 'यत्रयदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम इति'। अर्थात् जिस वस्तु मे जिस वस्तु का भ्रम या अध्यास है, उन दोनो वस्तुओ मे जो परस्पर भेद है, उसका अग्रहण भी भ्रम है। भेद–अग्रहण के कारण ही भ्रम उत्पन्न होता है। दोनो वस्तुओ के भेद को भूलकर ही 'इद रजतम्' दोनो को मिलाकर भाषा–व्यवहार करते है, यही भ्रम है।[७६] यदि सभी ज्ञान यथार्थ है तब मीमासको के अनुसार 'इद रजत' इस भ्रम की व्याख्या किस प्रकार होगी? इस पर मीमासक प्राभाकरो का कथन है कि उक्त भ्रमस्थल मे एकज्ञान नहीं है अपितु दो यथार्थ ज्ञान है। एक रजत विषयक ज्ञान और दूसरा इद विषयक। इनमे से 'इद' यह समुखस्थित वस्तु को प्रकाशित करता है और 'रजतम्' स्मृति स्थित रजत को प्रकाशित करता है।[७७]

इद विषयक ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभवज्ञान है, क्योकि 'इद' का विषय 'शुक्ति' सामने ही विद्यमान होती है। चक्षुदोष के कारण सम्मुख मे स्थित वस्तु के विशेष रूप गृहीत नहीं हो पाते अर्थात् शुक्ति को शुक्तित्वावच्छिन्न शुक्ति के रूप मे न जानकर मात्र सामान्यरूप से, 'इदं' रूप से जानते हैं। द्रष्टा को 'कुछ देख रहा हूँ' एव प्रकार से ज्ञान होता है।[७८] दृष्ट 'इद' वस्तु मे चाक्चिक्य आदि अविकलरजत के समान हैं। इस कारण 'इद' के उक्त प्रकार से चाक्चिक्यादि सहित सामन्यदर्शन ही भ्रमदृष्टा के मन मे पूर्वानुभूत रजत के सुप्तसंस्कार जाग्रत कर देते हैं और उद्बुद्ध रजत सस्कार ही रजत स्मृति को उत्पन्न कर देते हैं। रजत की स्मृति यथार्थ है, किन्तु यहाँ पर रजत का आकार होना चाहिए 'तद्रजतम्', क्योंकि जहाँ पर रजत का प्रत्यक्षानुभव पूर्व मे हुआ था, उस देश मे स्थित उस रजत की स्मृति भी 'वह रजत' करके होनी चाहिए, जैसा कि हम किसी दूर देश

स्थिति किसी मिलने वाले को स्मरण करते हैं, उस स्मरण मे 'वह' सर्वनाम जुडा रहता है न कि यह। प्रस्तुत भ्रम की व्याख्या मे मीमासको का कहना है कि यहा पर स्मृति के मात्र एकाश का ही उदय हुआ है अर्थात् 'रजत' इस प्रकार की स्मृति होती है न कि वह 'रजत' इस प्रकार की। इसमे 'वह' यह अश भासता नहीं। इस प्रकार की स्मृति को मीमासको ने अस्फुट (प्रमुष्ट स्मृति) कहा है। जिस प्रकार 'इद' इस प्रत्यक्ष मे इद के विशेष धर्म शुक्तित्वादि का प्रत्यक्ष इन्द्रिगत दोषो के कारण नही होता उसी प्रकार स्मृति मे भी किन्हीं दोषो के कारण 'रजत' की स्मृति 'तद्' सहित न होकर मात्र 'रजत' इस रूप मे ही होती है।

इसलिए मीमासको के अनुसार 'इद रजतम्' यहा पर 'इद' का प्रत्यक्ष भी सत्यज्ञान है और 'रजतम्' की स्मृति भी सत्यज्ञान है। दोनो एकजातीय ज्ञान न होकर दो प्रकार के ज्ञान हैं। इन दो प्रकार के ज्ञानो मे जो जातिगत, आकरगत एवं विषयगत पार्थक्य है, भ्रान्त व्यक्ति उसे समझ नहीं पाता। भ्रान्त व्यक्ति के लिए दोनो ज्ञानो की ख्याति दो ज्ञानो के रूप मे नहीं होती,[७६] अपितु विशिष्ट एक ज्ञान के रूप मे प्रतीति होती है। तदनुकूल वह व्यवहार भी करता है। 'इद रजतम्' एव प्रकार से इद और रजत मे अभेद उपलब्धि करके भ्रान्त व्यक्ति उसे उठाने के लिए दौडता है। इस ज्ञान को वह रजत मे रजत के प्रत्यक्ष ज्ञान के समान सत्य समझा बैठता है।

भ्रमज्ञान के समर्थक दार्शनिक 'इद रजतम्' मे इद और रजतम् इस प्रकार के दो ज्ञान नहीं मानते, अर्थात् दो ज्ञानो की अख्याति या अग्रह स्वीकार नहीं करते। भ्रमस्थल मे वे लोग एक विशिष्ट–ज्ञान स्वीकार करते हैं। मीमासक प्रभाकर इसकी आवश्यकता नहीं समझते। उक्त प्रकार से प्रत्यक्ष और स्मृति– इन दो ज्ञानो की अख्याति मानने से ही उक्त भ्रम की व्याख्या हो जाती है, इसलिए विशिष्टज्ञानरूप एव तृतीयज्ञान मानने की मीमासक आवश्यकता नहीं समझते। यहां पर और भी एक बात समझने की है कि जिस प्रकार उक्त भ्रम में इदं और रजत इन दो ज्ञानो की अख्याति होती है, उसी प्रकार ज्ञानद्वय के विषय 'इदम' और 'रजत' इन दोनो विषयों का पार्थक्य भी भ्रान्तदर्शी के ज्ञान मे नहीं भासता। ज्ञानद्वय की अख्याति के समान दोनो ज्ञेयो की पृथक्ता की भी अख्याति होती है।

किन्तु 'पीत' शंख' एव प्रकार भ्रमस्थल में ज्ञानद्वय का भेदाग्रहमात्र होता है, ज्ञानद्वय के विषयो का भेदाग्रह नहीं होता, अर्थात् उनके विषयों का भेद ज्ञात रहता है।[८०] इस प्रकार के भ्रम मे पित्तरोग से दूषित नेत्रो से जब शंख पीला दिखाई देता है तब नेत्र रश्मियों में स्थित पीतद्रव्य

गृहीत नहीं होता, किन्तु उस पीत–द्रव्य का गुण पीतवर्ण गृहीत होता है। इसी प्रकार शख के प्रत्यक्ष मे भी शख का ही प्रत्यक्ष स्वरूपमात्र से होता है। दोषवश शख के श्वेतवर्ण का ग्रहण नहीं होता। इस प्रकार पीतताज्ञान और शखज्ञान मे भेद का ग्रहण नहीं हो पाता, जिस कारण 'पीत शख' इस प्रकार का भ्रम होता है। यहाँ पर पीतताज्ञान और शखज्ञान स्वरूपत भिन्न होते हुए भी दोनो का भेदाग्रह होता है, किन्तु दोनो मे विषयगत भेद का ग्रहण होता है। मात्र ज्ञानगत भेदाग्रह होता है।[८१] 'पीत शख' इस भ्रम मे पीपताज्ञान और शखज्ञान दोनो ही अनुभवस्वरूप है। 'इद रजतम्' के समान एक अनुभव और दूसरा स्मृतिज्ञान नहीं हैं। 'पीत शख' इस प्रकार के शब्द व्यवहार की व्याख्या करते हुए अख्यातिवादी मीमासको का कहना है कि यथार्थज्ञानस्थल मे पीत पुष्प को देखते समय हम पीत और पुष्प को एक ही साथ तादात्म्य समझते हैं। वस्तुत दोनो परस्पर भिन्न हैं, परन्तु भेद का ग्रहण नहीं होता। हम यह भूल जाते हैं कि पीत वर्ण इस पुष्प के साथ अभिन्न नहीं है। जिस प्रकार 'पीत पुष्प' इस यथार्थ ज्ञान मे पीत–वर्ण और उसके आधार पुष्प के असम्बन्ध की प्रतीति हमे नहीं होती, उसी प्रकार 'पीत सख' मे भी पीतता एव उसके प्रतीतिस्थलरूप आधार शख के बीच मे जो भेद है, जोकि किसी प्रकार सम्बन्धित नहीं है, उसकी प्रतीति नहीं होती। नेत्रादि के दोष के कारण पीतता और शख मे सम्बन्ध की ही प्रतीति होती है। 'पीतपुष्प' इस प्रकार के यथार्थ ज्ञान मे जिस प्रकार के दो ज्ञान हैं, उसी प्रकार 'पीत शख' मे भी दो ज्ञान हैं, अत यथार्थ ज्ञान और तथाकथित भ्रम ज्ञान मे अख्यातिवादी के अनुसार अन्तर नहीं है। अससर्गाग्रहरूप सादृश्य दोनों ज्ञानो मे है अर्थात् पीत वर्ण और शख परस्पर भिन्न होने पर भी एक से लगने लगते हैं। इसी कारण अभेदबोधक 'पीत· शख' इस प्रकार के शब्द प्रयोग और व्यवहार होते हैं। 'पीत· शख·' अख्यातिवादी के अनुसार अनुभावात्मक ज्ञानद्वयों मे भयाग्रह का उदाहरण है।

अख्यातिवादी के अनुसार और भी वक्तव्य यह है कि भ्रमवादी जिसे भ्रम कहते हैं वह भ्रम नहीं, अपितु यथार्थज्ञान ही है। अख्यातिवाद मे भ्रम है ही नहीं, यह बात पूर्व मे कही गई है। विचार करने पर सभी भ्रमो के उदाहरण यथार्थज्ञान को ही सिद्ध करेगे। 'नेदं रजतम्' इत्यादि बाध भी अख्यातिवादी के अनुसार 'इद रजतम्' आदि शब्द प्रयोगमूलक व्यवहार का ही बाध करता है। ज्ञान सर्वदा सत्य और अबाधित रहता है। बाधकप्रत्यय को बाधक, ज्ञान के बाध करने के कारण नहीं कहा जाता, अपितु व्यवहार के बाधक होने के कारण बाधक–प्रत्यय कहा जाता है। भ्रमस्थल के इद और रजत के अबाधित रहने पर भी व्यवहार के बाध होने के कारण गौणरूप से उक्त ज्ञानों को भी बाधित कहा जाता है।

अख्यातिवादी 'सभी ज्ञान यथार्थ हैं' इसके समर्थन मे अनुमान का प्रयोग इस प्रकार करते है 'यह रजत है', इत्याकारक व्यवहार का कारणीभूतज्ञान यथार्थ है (प्रतिज्ञा) क्योकि यह ज्ञान है (हेतु) जो–जो ज्ञान होता है, वही–वही यथार्थ होता है, जैसे उभयवादी सम्मत घटादि का ज्ञान (उदाहरण)। उक्त भ्रमस्थल के ज्ञान मे भी ज्ञानत्व हेतु है (उपनय) अत 'यह रजत' इत्याकार व्यवहार का कारणीभूत ज्ञान यथार्थ है। (निगमन)।"[८२]

अख्यातिवाद का प्रत्याख्यान

प्रभाकर मीमासको के इस अख्यातिवाद की आलोचना नैयायिको और अद्वैतवेदान्तियो ने की है। भामतीकार ने प्रथम नैयायिको के पक्ष से ही अख्यातिवाद के खण्डन मे युक्तिया प्रस्तुत की हैं। अख्यातिवाद के विरुद्ध युक्तिया देते हुए भामतीकार का कहना है कि भ्रान्तव्यक्ति सामने दृष्ट वस्तु की ओर प्रवृत्त होता है। उसे यह निश्चय है कि सामने रजत है, अत. अख्यातिवादी का यह कहना कि उक्त भ्रम मे ग्रहण स्मरण दो ज्ञान हैं और दोनो का अग्रहण भी भ्रम है, समीचीन नहीं है।[८३] माधवाचार्य ने कहा कि भ्रान्त व्यक्ति 'इद' के ज्ञान के बाद उसे रजत मानकर उठाने के लिये प्रवृत्त होता है। यदि इद के रूप मे उसे रजत ज्ञान न होकर शुक्ति का 'ग्रहण' होता तब वह व्यक्ति उसे उठाने के लिये प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि उसको रजत का ज्ञान हुआ है और उसी ज्ञात रजत को ही उठाने का प्रयत्न करता है, रजत ही उसका अभीष्ट है। शुक्ति न उस व्यक्ति के लिये साध्य है न साधन।[८४] अत. यह बात सिद्ध है कि शुक्ति का 'ग्रहण' भ्रान्त व्यक्ति को रजत के लिये प्रवृत्त नहीं करा सकता, न ही रजत का 'स्मरण' सामने स्थित वस्तु मे प्रवृत्ति करा सकता है, क्योकि स्मरण सर्वदा अनुभवाधीन होता है। रजत का स्मरण पूर्वदृष्ट रजत मे ही प्रवृत्ति करा सकता है न कि सामने। और जब रजत का स्मरण होगा उसके साथ 'तत्ता' (अर्थात् वह रजत जो कल दुकान मे देखा था) का भी स्मरण होगा। 'तत्ता' पूर्वानुभूत रजत मे ही प्रवृत्त करायेगी।[८५] इस प्रकार अख्यातिवाद में प्रवृत्ति की व्याख्या नहीं बन पाती। पंचपादिकाविवरणकार प्रकाशात्मयति अख्याति का खण्डन करते हुए अख्यातिवादी से प्रश्न करते हैं कि यह अख्याति क्या है? क्या ख्याति का न होना अख्याति है अर्थात् ज्ञान का न होना ही अख्याति है? ख्याति अभाव को ही अख्याति नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर अतिप्रसंग होगा अर्थात् उक्त कथन के अनुसार एकमात्र सुषुप्ति को ही भ्रम मानना पड़ेगा। सुषुप्ति में किसी प्रकार की ख्याति नहीं होती।[८६] जाग्रत एव स्वप्न मे किसी प्रकार का भ्रम हो ही नहीं पायेगा। इस प्रकार अख्यातिलक्षण की अतिव्याप्ति

सुषुप्ति मे और अव्याप्ति जाग्रतस्वप्न मे होगी।[८७] प्रश्न मे विवरणकार ने दूसरा विकल्प किया है कि 'क्या अख्याति का अर्थ' अन्य वस्तु को चाहने वाले व्यक्ति की अन्य वस्तु मे प्रवृत्ति का कारण विज्ञान, ही है? ऐसा मनने पर 'इद रजतम्' इस भ्रम के अव्यवहित उत्तरक्षण मे 'नेदं रजतम्' ऐसा जिसका बाध हो जाता है, उस भ्रमस्थल मे भ्रम का लक्षण नहीं जायेगा, क्योकि वहां पर प्रवृत्ति न होने के कारण प्रवृत्तिकारणत्व नहीं सिद्ध होता। अथवा जहा पर भ्रम होने पर आलस्य के कारण प्रवृत्ति नही होती वहॉ पर भ्रम नहीं माना जा सकेगा।[८८]

तृतीय विकल्प करते हुए उन्होने कहा कि क्या तब अविविक्त अनेक वस्तुओ का विज्ञान ही अख्याति है? इसमे भी दोष है, क्योकि इस विकल्प मे विविक्तत्व के अभाव का प्रतियोगीभूत जो विविक्तत्व है, वह क्या भेदज्ञान है? अथवा अभेद का अज्ञान ही विविक्तत्व है? या इतरेतराभावभेद द्वित्वादिसख्याविशिष्टज्ञान विविक्तत्व है? इनमे प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है, क्योकि 'इद' सामन्य और 'रजतम्' विशेष इन दोनो का भेदग्रह स्पष्ट होने के कारण दोनो का अविवेक असभव हो जायेगा। इसी प्रकार प्रथम विकल्प मे भेदग्रह की सिद्धि होने पर उसके निषेधस्वरूप भेदाग्रह सभव नहीं। इसी प्रकार तृतीय पक्ष मे भी विवरणकार ने अनेक दोष दिये हैं।

यदि अख्यातिवादी अससर्ग (सम्बन्धाभाव) के आग्रह को ही अविवेक कहते है तो भी अद्वैतवेदान्ती का कहना है कि यदि अससर्गअग्रह ग्रहण और स्मरण दो ज्ञानो का मानेगे तो 'अह मनुष्य' यह प्रतीति भ्रम नहीं मानी जा सकती, क्योकि यहा पर दोनो ही ज्ञान अनुभवात्मक हैं, अत उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी। यदि किन्हीं दो ज्ञानो का अससर्गअग्रह अविवेक है तब, 'खण्डो गौ.' 'शुक्ल पट' इन ज्ञानो मे भी भ्रमत्व हो जायेगा, अत अतिव्याप्ति होगी, क्योकि अससर्ग की प्रतीति इन दोना ज्ञानो मे नहीं होती।[८९] इस प्रकार विवरणकार के अनुसार अख्यातिवाद भ्रमस्थल की व्याख्या नहीं दे सकता। मण्डनमिश्र का कहना है कि अख्यातिवादी ग्रहण और स्मरण मे अससर्ग अग्रह को ही भ्रम मानते हैं, यह समीचीन नहीं है, क्योकि भ्रमस्थल मे भ्रान्त व्यक्ति रजत को प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त होता है और रजत के न मिलने पर –'नेदं रजतम्' इस प्रकार का वह निषेध करता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति और निषेध से सिद्ध होता है कि भ्रमस्थल मे भाववस्तु ही प्रवर्तक है, अग्रहण वस्तु के लिये प्रवर्तक नहीं हो सकता, क्योकि अग्रहण अभाव है, अभाव प्रवर्तक नहीं होता और प्रतिषेध भी प्राप्त का ही होता है।[९०]

नैयायिको की ओर से अख्यातिवाद पर आक्षेप उठाते हुए वाचस्पति मिश्र कहते है कि 'इद' और 'रजतम' इन दो ज्ञानो का और इन दो ज्ञानो के विषय 'इद' वस्तु पर 'रजत' इनके परस्पर भेदाग्रह ही भ्रान्त व्यक्ति को रजत प्राप्ति के लिये प्रवृत्त कराते है, यह युक्तिपूर्ण नहीं है, क्योकि बुद्धिमान व्यक्ति ज्ञानपूर्वक ही कर्म मे प्रवृत्त होता है। अज्ञानपूर्वक कोई भी कार्य नहीं करते।[६१] सुषुप्ति मे जीव को ज्ञान नही रहता, अत ज्ञानाभाव के कारण उस अवस्था मे जीव मे किसी प्रकार प्रवृत्ति या चेष्टा भी नही देखी जाती। जाग्रत एव स्वप्न मे ज्ञान रहता है एव प्रवृत्ति, चेष्टा आदि भी वहा देखी जाती है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान प्रयत्न का कारण है, अत 'इद' और 'रजतम्' इनके भेदज्ञान का अभाव किसी भी प्रकार से रजतार्थी के रजतग्रहण मे प्रवृत्ति का कारण नही बन सकता। इस पर अख्यातिवादी का कहना है कि हम उक्त दो ज्ञानो और दोनो के विषयो के परस्पर भेदज्ञान के अभाव को ही रजतग्रहण मे प्रवृत्तिकारण नहीं कहना चाहते, अर्थात् अख्यातिवाद का कहना है कि ज्ञानाभाव को हम प्रवृत्ति मे कारण नहीं मान रहे हैं, अपितु भेदज्ञान के अभावज्ञान को ही कारण मानते हैं। इससे अज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति—असभववाला दोष हमारे मे नहीं लगता, क्योकि हम भी ज्ञानपूर्वक ही प्रवृत्ति कह रहे है। अख्यादिवादी और भी आगे कहते हैं कि उनके मतानुसार जिस प्रकार 'इद रजतम्' इस प्रकार के सत्य रजतानुभवस्थल मे इद और रजत मे भेदबुद्धि नहीं होती, भेदबुद्धि का अभाव ही रहता है, ठीक उसी प्रकार मिथ्या रजत मे भी वस्तुत 'इद' और 'रजत' मे भेद रहने पर भी चक्षु आदि के दोष के कारण वह भेद गृहीत नहीं होता, अपितु भेदाग्रह ही प्रतीत होता है। दोनो मे भेदाग्रह होने के कारण एव सत्य रजतज्ञान तथा मिथ्या रजतज्ञान मे सादृश्य के कारण मिथ्याज्ञान भी सत्यज्ञान के समान व्यवहारहेतु हो जाता है।[६२] इस प्रकार रजतार्थी रजतग्रहण करने मे प्रलुब्ध हो जाता है। इस प्रकार पूर्वोक्त आपत्ति अख्यातिवाद मे उठायी नहीं जा सकती।

इस पर नैयायिको की ओर से भामतीकार प्रश्न करते हैं कि अख्यातिवादी सत्यमिथ्याज्ञान के जिस सादृश्य के कारण भ्रमस्थल मे रजतार्थी के व्यवहार और प्रवृत्ति आदि की सिद्धि दिखाना चाहते हैं, उस सादृश्य का स्वरूप क्या है? यदि कहा जाए कि भ्रमस्थल के 'इद' और 'रजतम्' इन दो ज्ञानो के साथ 'इदरजतम्' इस प्रमाज्ञान का सादृश्य है, अतएव उक्त प्रमाज्ञान के सादृश्य होने के कारण भ्रमस्थल मे भी शब्द व्यवहार एव प्रवृत्ति आदि देखी जाती है, तो भी समीचीन नहीं है, क्योकि उक्त सादृश्य कभी भी व्यवहारादि का सम्पादन करने में समर्थ नहीं होगा। इसके लिये

वाचस्पति मिश्र और न्यायमकरन्दकार ने एक दृष्टान्त देकर समझाया है कि 'गवय नामक अरण्यप्राणी गौ के सदृश्य है' ऐसा सादृश्य ज्ञात होने पर भी गवय देखकर गवय को गौ समझकर गौग्रहण की प्रवृत्तिया 'गौ' इस प्रकार के सत्य गौ के व्यवहार गवय मे नहीं हुआ करते।[६३] राम श्याम के सदृश है और इस प्रकार सादृश्यबोध होने पर भी राम को देखकर श्याम को जो बाते कहनी थी वे राम को नहीं कहते, इसीलिए यह बात युक्तियुक्त है कि सादृश्यबुद्धि कभी भी व्यवहार–प्रवृत्ति आदि सम्पादन मे पर्याप्त नहीं है।

अख्यातिवादी के अनुसार जब भ्रमस्थल मे 'इद' और 'रजतम्' ये दो ज्ञान एकत्र सत्यज्ञान 'इद रजतम्' के समान है– बतलाये जाते हैं, तब उक्त भ्रमस्थल के उक्त दो ज्ञानो को दो ज्ञान समझ करके कहा जाता है। इस प्रकार जब अख्यातिवादी के अनुसार भ्रमस्थल मे दो ज्ञानो को भ्रान्त व्यक्ति जानता है तब भेदाग्रह नहीं रहा और तन्निबन्धन भ्रम भी सिद्ध नहीं हो सकता।

सत्य और मिथ्याज्ञान मे भेदज्ञान के अभाव के कारण जो सादृश्य है, वह सादृश्य अज्ञात रहकर व्यवहार और प्रवृत्ति आदि का सपादन नहीं कर सकता, क्योकि बुदिमान व्यक्ति ज्ञानपूर्वक ही कर्म मे प्रवृत्त होता है। भ्रान्त व्यक्ति भ्रमस्थलीय रजत को रजत समझकर ही उसके आहरण मे प्रवृत्त होता है। रजत यदि भ्रान्त व्यक्ति के ज्ञान का विषय न हो तो उसे प्राप्त करने की चेष्टा नहीं हो सकती, इसलिए यह कहना होगा कि भेदबुद्धि के अभावहेतु जो अज्ञात सादृश्य उत्पन्न होता है, वह अन्य किसी ज्ञान को उत्पन्न करके ही रजतार्थी के व्यवहार और प्रवृत्ति का सपादन करता है, और वह ज्ञान है अनुपस्थित रजत को सम्मुख मे देखना। रजत का स्मरण ही प्रवृत्ति आदि का कारण है, ऐसा कथन भी समीचीन नहीं है, क्योकि मात्र स्मरण प्रवृत्ति का जनक नहीं हो सकता। रजतार्थी व्यक्ति सम्मुख मे स्थित इदं पदार्थ को ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता देखा जाता है। वह सामने कुछ न देखकर मात्र स्मरण से ही सामने दौडता नहीं है। इस विषय मे किसी को भी विवाद नहीं है। पुरोवर्ती इद को रजत के रूप मे देखकर पाने की अभिलाषा भ्रान्त व्यक्ति की होती है, क्योकि प्रवृत्ति के पूर्व इच्छा होती है, इच्छा और प्रवृत्ति का विषय एक होता है।[६४] स्मरण का ज्ञान और इद मे इच्छा और प्रवृत्ति मानने पर अन्य का ज्ञान, अन्य की इच्दा, और अन्य मे प्रवृत्ति प्रसग हो जायेगा।[६५] इसलिए अख्यातिवादी को यह मानना होगा कि पुरोवर्ती वस्तु में दो ज्ञान प्रवर्तक नहीं हो सकते, किन्तु एक स्वतन्त्र विशिष्टज्ञान ही उसमें प्रवर्तक है। यह बात 'इदं रजतम्' इस सामानाधिकरण्य से भी समझी जा सकती है। उक्त सामानाधिकरण्य में 'इदं रजतम्' करके इदं

को ही रजत समझा गया है। पुन अख्यातिवादी का कहना है कि पुरोवर्ती वस्तु को रजत करके न जानने पर भी 'यह रजत नही है' एव रूप से भ्रमकाल मे नहीं जानते, अत रजत शब्दव्यवहार तथा प्रवृत्ति आदि का सम्पादन हो जाता है। इस पर अद्वैतवादी कहते हैं कि जब भ्रान्त व्यक्ति पुरोवर्ती वस्तु को रजत करके नहीं जानता तब वह उसकी उपेक्षा ही करेगा, क्योकि रजतरूप मे जानना ही प्रवर्तक है, न कि न जानना। इस प्रकार 'इद' को 'रजत नहीं है' न जानने पर भी 'रजत है' न जानने के कारण प्रवृत्ति नहीं बनेगी। वस्तुत अनुभव मे यही देखा जाता है कि रजत को लेने के लिए प्रवृत्ति होती है, अत मीमासको का पक्ष समीचीन नहीं है,[६६] अत रजत पुरोवर्ती वस्तुविषयक है।

न्यायमकरन्दकार ने इस बात को अनुमान के रूप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया है– विवादास्पदीय भूत रजतविज्ञान सामने स्थित रजत–विषयक है (प्रतिज्ञा) क्योकि रजतार्थी उसमे नियम से प्रवृत्त होता है (हेतु) उभयवादीसम्मत सत्यरजतविज्ञानवत् (उदाहरण)।[६७]

भ्रान्तव्यक्ति के रजत का विषय सामने स्थित शुक्ति ही है न कि स्मरणात्मक रजत। इसी को माधवाचार्य ने सर्वदर्शन सग्रह मे अनुमान के रूप मे प्रस्तुत किया है– विवादास्पद शुक्तिभाग रजतज्ञान का विषय है (प्रतिज्ञा) क्योकि रजतार्थी की प्रवृत्ति बिना व्यवधान के उसी की ओर होती है (हेतु) क्योकि रजत–शब्द का जो समानाधिकरण दूसरा शब्द इदं है उसका वाच्य शुक्ति ही है, जैसे वास्तविक रजत (उदाहरण)।

इस पर मीमासको की ओर से शका है कि रजत का ज्ञान आदि सीपी पर आधारित हो जाय तो अनुभव का विरोध होगा? अद्वैतवेदान्ती का उत्तर है कि अनुभव–विरोधवाली बात समीचीन नहीं है। मीमासको से यह पूछा जाए कि अनुभवविरोध कहॉ पर है? उनका उत्तर होगा या तो शुक्तिशकल को आधार मानने पर अनुभवविरोध होगा या इदमश को आधार मानने पर। शुक्तिशकल को शुक्तित्वावच्छिन्न शुक्ति के रूप मे रजतज्ञान का आलम्बन अद्वैतवादी नहीं मानते, अत उक्त पक्ष से दोष नहीं दिया जा सकता। दूसरा पक्ष इदमंश को रजतज्ञान का आधार मानना है। 'इदम्' को रजत–ज्ञान का आधार न मानने पर अद्वैत मत मे नहीं अपितु अख्यातिवाद मे भी अनुभव–विरोध होगा। इद के चाक्चिक्यादि से जिसका ज्ञान होता है, भ्रान्त व्यक्ति उसका ज्ञान 'इदं' आधार मे ही करता है, अर्थात् वह ज्ञान इदंविषयक ही होता है, यह अनुभव सिद्ध है, क्योंकि भ्रान्त व्यक्ति इदं की ओर ही रजत कह कर अगुली से निर्देश भी करता है और लेने के लिए भी इद की ओर ही जाता है।[६८]

दोष कार्योत्पादन की स्वाभाविक शक्ति का केवल प्रतिबन्ध कर सकते हैं, विपरीत कार्योत्पादन मे समर्थ नहीं होते– इस अख्यातिवादी द्वारा उठाये गए आक्षेप की भी शकर ने आलोचना की है। शकर यह बात मानने को तैयार नहीं होते कि दोष नये कार्य का उत्पादन करने मे असमर्थ है। इसके स्पष्टीकरण मे शकर कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं और उन उदाहरणो के माध्यम से यह समझाने का प्रयास करते हैं कि दोष भी नये कार्यउत्पादन कर सकते हैं। उदाहरण के रूप मे दावाग्नि से जले हुए वेत्र बीच से केले के पेड की उत्पत्ति देखी जाती है। दूषित अर्थात् जलकर दूषित वेत्र बीज मे अन्य वस्तु केले के पेड को उत्पन्न करने की शक्ति होती है, ऐसा शकर का कहना है।[९९] यदि कहा जाए कि जल पाने पर वह वेत्र बीज रहा ही नहीं, अत वेत्र बीज कदलीकाण्ड की उत्पत्ति के कारण नहीं सिद्ध हुआ, उचित नहीं, क्योकि कच्चे घडे को पकाने के बाद रक्त हो जाने पर उसे घडा ही कहते हैं। श्याम घट पक जाने पर अन्य नहीं हो जाता, क्योकि घटत्व तो रक्त घट मे भी है। इसी प्रकार वेत्रबीजत्व तो जले हुए वेत्रबीज मे भी है, अत. जले हुए वेत्रबीज से ही कदली की उत्पत्ति माननी पडेगी। उसी प्रकार दूसरा उदाहरण शकर ने भस्मकदोष से दूषित जठराग्नि का दिया है। उसमे बहुत अन्न पचाने की सामर्थ्य हो जाती है। इससे भी शकर दोषो मे नये कार्योत्पादनसामर्थ्य की सिद्धि करते हैं।[१००] और भी मीमासकमत मे ज्ञान यथार्थ व्यवहार के कारण होने पर भी दोष के कारण अयथार्थ व्यवहार के प्रयोजक हैं, अर्थात् 'इद' 'रजत' दोनो ज्ञान ग्रहण स्मरण के रूप मे सत्य होने पर भी दोषवश एक ज्ञान से व्यवहृत होने लगते हैं। इसका अर्थ हुआ दोष नया व्यवहार उत्पन्न कर सकते हैं, अर्थात् मीमासकों को भी दोषो मे विपरीत कार्यजननशक्ति माननी पडेगी।

इस प्रकार 'यथार्था सर्वे प्रत्यया' इस मीमासको द्वारा प्रस्तुत अनुमान मे भी अद्वैतवेदान्तियो ने बाधित नामक हेत्वाभास दोष दिया है, अर्थात् उक्त अनुमान प्रत्यक्ष से बाधित हो जाता है–जैसा वह्नि अनुष्ण सिद्ध करने का अनुमान प्रत्यक्ष सिद्ध वह्नि की उष्णता के अनुभव से बाधित होता है, उसी प्रकार भ्रमस्थल का रजत शुक्ति के ज्ञान से 'यह रजत नहीं है' करके बाधित हो जाता है, अत भ्रमस्थलीय रजत बाध्य होने से मिथ्या है। उसका प्रत्यय भी मिथ्या है।[१०१]

अख्यातिवादी मीमांसको ने भ्रम स्वीकार नहीं किया है, जैसाकि पिछले पृष्ठों में हमने विचार किया है। सभी ज्ञान चाहे वह तथाकथित भ्रमस्थलीय शुक्ति रजत ज्ञान हो, चाहे यथार्थरजत का ज्ञान हो, सत्य हैं। विशेषकर यह सिद्धांत कि 'विषयाभाव के कारण ज्ञान मिथ्या है', वस्तुवादी

दार्शनिको का है क्योकि वस्तुवादी दार्शनिक बिना विषय के ज्ञान नहीं मानते। बिना घट के घट ज्ञान की कल्पना भी उनके अनुसार नहीं की जा सकती। यही तर्क इन दार्शनिको ने आत्मख्यातिवादी के विरोध मे प्रस्तुत किया है। मीमासक भी तत्वमीमासा मे यथार्थवादी है, अत ज्ञान के लिए उनके मत मे भी विषय अवश्य होना चाहिए। यथार्थ प्रत्ययो मे तो ज्ञान का विषय सामने होता ही है, अयथार्थ प्रत्ययो मे भी दो सत्य ज्ञानो को और उनके सत्य ज्ञानो के विषयो को उन्होने माना है, अर्थात् उनके अनुसार 'इदं रजतम्' इस भ्रमस्थल मे रजतज्ञान स्मृतविषयक होने के तथा स्मृतविषयक पूर्वानुभूत विषय होने के कारण, पूर्वानुभूत विषय यथार्थ विषय होने के कारण, सत्य है। इधर 'इद' सत्य है, यह तो न्याय–वेदान्तिक दार्शनिक भी स्वीकार करते हैं, मीमासक भी। अब प्रश्न यह रह जाता है कि क्या भ्रम और यथार्थ मे कोई अन्तर है ही नहीं? अख्यातिवादी के अनुसार कोई भी सैद्धातिक अन्तर नहीं है। तार्किक पक्ष मे दोनो समानज्ञान हैं, किन्तु व्यवहार मे अन्तर है। व्यवहार मे तथाकथित भ्रम का रजत काम नहीं देता, अत· वह भ्रम है। सत्य–रजत काम देता है, वह सत्य है। निस्सन्देह ज्ञान अपने तार्किक पक्ष मे कभी भ्रामक नहीं हो सकता। लेकिन ऐसा हो सकता है कि वह व्यवहार मे काम दे या न दे। यदि वह व्यवहार मे काम देता है तो प्रमाण है और यदि काम नहीं देता तो अप्रमाण है।[१०२] अन्य भ्रमवादी दार्शनिक भी भ्रम की व्याख्या मे व्यवहार को अर्थात् व्यवहार मे विसवाद और अविसवाद को ही भ्रम और यथार्थ की कसौटी मानते है। मात्र अन्तर इतना है कि शकर वस्तु और ज्ञान दोनो का बाध मानते हैं, जबकि प्रभाकर मात्र व्यवहार तथा भेदाग्रह का बाध मानता है। प्रभाकरों के अनुसार भेदाग्रह का बाध भेदग्रह से हो जाता है। उक्त दोनो ज्ञानो मे या ज्ञान विषयो मे भेद तो था तद्बुद्धि नहीं थी। भेदग्रह बुद्धि द्वारा भेदाग्रह बुद्धि के बाधित होने पर उस बुद्धि (भेदाग्रह बुद्धि) को मिथ्या कह सकते हैं और उसका बाधपूर्वक व्यवहारादि का भी बाध हो जाता है, अत भेद रहने पर भी भेदाभाव के रूप मे दोनो ज्ञानो, विषयो को समझाना, एक प्रकार से विपरीत समझना ही हुआ। इस प्रकार इसे विपरीतख्याति भी कह सकते हैं। भासर्वज्ञ ने न्यायभूषण में दो सद्वस्तुओ के भेद रहते हुए भी अभेदरूप मे ग्रहण करने की विपरीतख्याति कहा है।[१०३] इस प्रकार संसर्ग न होने पर भी संसर्ग मानकर प्रवृत्त होना भ्रम को सिद्ध करता है और उस विपरीतता का बाध होने पर वस्तु–द्वयों या वस्तुद्वयविषयक ज्ञानद्वयों का बाध न होने पर भी ससर्ग के बाध होने पर तथा ससर्ग बुद्धि के भी बाध होने पर किसी हद तक अख्यातिवाद मे भी भ्रम सिद्ध होता है, अत· अख्यातिवादी का यह दावा कि "सभी प्रत्यय यथार्थ है", यह कथन भ्रम की कसौटी–प्रवृत्ति और बाध में यथार्थ नहीं बैठता। या तो प्रवृत्ति और बाध को

भ्रम की कसौटी स्वीकार न करे या फिर भ्रम स्वीकार करे– दोनो मे से प्रभाकरो को एक स्वीकार करना होगा। प्रभाकरो के अनुसार सभी ज्ञान यथार्थ है अर्थात् अयथार्थ ज्ञान है ही नही किन्तु अप्रामाणिक ज्ञान है क्योकि प्रभाकरो ने ज्ञान के दो भेद किए हैं– प्रमाणिक ज्ञान और अप्रमाणिक ज्ञान। प्रामाणिक ज्ञानो मे प्रामाण्य स्वत आता है और अप्रामाणिक ज्ञानो मे अप्रामाण्य परत आता है। इसका अर्थ हुआ सभी ज्ञान यथार्थ होते हैं किन्तु कुछ ज्ञान यथार्थ होते हुए भी आप्रामाणिक होते है, जबकि न्यायवैशेषिक वेदान्तादि दर्शनो मे यथार्थानुभव को प्रमाण और अयथार्थनुभव को भ्रम कहा है। मीमासक प्रभाकरो की यह बात समझ मे नहीं आती कि अप्रामाणिक ज्ञान यथार्थ कैसे होते है? व्यावहारिक दृष्टि मे प्रभाकरो की अख्याति से भ्रम की पूर्ण व्याख्या नहीं हो पाती, क्योकि भ्रम की व्याख्या उसे अस्वीकार करके की गई।

अन्यथाख्याति (न्याय)

भ्रम को न्यायदर्शन मे विपर्यय कहा गया है। विपर्यय का लक्षण करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है– 'मिथ्याध्यवसायो विपर्यय'।[१०४] अर्थात् विपरीतार्थ निश्चय या जो जहॉ पर नहीं वहॉ उसको समझना ही विपर्यय है। नैयायिको ने भ्रम की व्याख्या अन्यथाख्याति द्वारा की है। उनके अनुसार भ्रमस्थल मे वस्तु अन्यथा या विपरीत रूप मे प्रकाशित होती है। आचार्य शकर ने नैयायिको के अनुसार भ्रम की व्याख्या करते हुए अध्यासभाष्य मे कहा है– "यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते।"[१०५] भामतीकार ने इसका अर्थ करते हुए कहा है "यत्र अर्थात् जहा पर शुक्ति आधार में, जिसका रजत का अध्यास होता है, उसी शुक्ति के विपरीत धर्मकल्पना करना ही अध्यास है।"[१०६] न्याय के अनुसार शुक्ति में जो भ्रान्त व्यक्ति को रजतज्ञान होता है, वह केवल शुक्तिज्ञान नहीं, और न केवल रजतज्ञान ही। यहा पर इन दोनो से पृथक् एक तृतीय ज्ञान है। यह तृतीय ज्ञान एक विशिष्टज्ञान है। इस ज्ञान का विशेष्य है "इद रजतम्" मे से "इदमंश" और विशेषण 'रजतम्' है। इसी को न्यायमत मे भ्रमज्ञान कहा जाता है। एव प्रकारक भ्रमज्ञान मे प्रथम चाक्चिक्ययुक्त वस्तु के साथ चक्षु का संयोग होता है। दोनो के रहने के कारण उक्त चाक्चिक्ययुक्त वस्तु के विशेष धर्म शुक्तित्व का ग्रहण नहीं हो पाता। इसके बाद रजत और पुरोवर्ती द्रव्य में सादृश्यज्ञान रजतस्मृति को उत्पन्न कर देता है। इसके पश्चात् स्मृति का विषय उस रजत के साथ पुरोवर्ती द्रव्य का एक तादात्म्यसम्बन्ध दोष के कारण गृहीत होता है। न्याय के अनुसार यही भ्रम है। भ्रम के कारण शुक्ति मे तदभिन्नरूप से गृहीत रजत है। उसमें सत्य रजत के

समान इष्टसाधनता ज्ञान होने लगता है अर्थात् उसे प्राप्त करने की इच्छा होती है। इच्छा के बाद ग्रहण करने के लिए प्रवृत्ति होती है।[१०७] इस ज्ञान मे पुरोवर्ती वस्तु एव रजत दोनो ही सत्य वस्तुएँ है। मात्र तादात्म्यससर्ग अर्थात् सम्बन्ध ही परस्पर मे आरोपित है।[१०८]

अब प्रश्न यह होता है कि भ्रमस्थल मे 'रजत को प्रत्यक्ष कर रहा हूँ', इस प्रकार अनुभव होता है,[१०९] ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आवश्यक होता है, जैसे 'घट को देखता हूँ' मे घट के साथ चक्षु का सयोग सन्निकर्ष होता है, तभी घट का प्रत्यक्षज्ञान होता है। इसी प्रकार यदि शुक्तिरजत प्रत्यक्ष होता तो उसमें भी इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आवश्यक होगा, परन्तु उक्त स्थान मे रजत का प्रत्यक्ष कैसे होता है? इसके समाधान मे नैयायिको ने ज्ञानलक्षणानामक अलौकिक सन्निकर्ष की बात कही है। नैयायिक भी यह बात स्वीकार करते हैं कि प्रत्यक्ष के लिए सन्निकर्ष आवश्यक है। शुक्तिरजत प्रत्यक्ष मे लौकिक अन्य सन्निकर्ष सभव नहीं है, अत. इस समस्या का समाधान ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से ही सभव है। भ्रमस्थल में भ्रम उसी को होता है जिसने पहले उस पदार्थ को देखा हो। देखी हुई वस्तु संस्कार के रूप मे आत्मा मे स्थित सस्कारो के उद्‌बुद्ध होने के कारण पूर्वदृष्ट वस्तु की स्मृति होती है। वह स्मृति ही ज्ञान है। पूर्वदृष्ट वर्तमान में स्मर्यमाण वस्तु का स्मृतिरूप एक प्रकार सम्बन्ध मन के साथ होता है। उसके बाद उस सम्बन्धयुक्त मन के साथ चक्षु आदि इन्द्रियो का सम्बन्ध होता है। इस प्रकार स्मर्यमाण वस्तु के साथ इन्द्रिय का एक परम्परा सम्बन्ध होता है। इसको न्याय की भाषा मे, 'स्वसयुक्त मनोजन्यस्मृतिविषयत्वरूप सम्बन्ध' कहा जाता है। ज्ञान–लक्षणासन्निकर्ष द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से, 'इद रजतम्' मे भी 'सुरभिचन्दनम्' के ज्ञान के समान स्मर्यमाण रजत संयुक्त मन और मन से संयुक्त चक्षु इन्द्रिय के रजत का प्रत्यक्ष हो जाता है।[११०] इस विशिष्ट–ज्ञान का विशेष्य 'इदम्' और विशेषण, 'रजतम्' तथा दोनो के सम्बन्ध को वैशिष्ट्य एव उक्त ज्ञान को विशिष्टज्ञान कहा जाता है, अर्थात् 'इदं रजतम्' मे रजत प्रकारक इद विशेष्यक विशिष्टज्ञान है। यह विपर्यय इसलिए है क्योंकि इस ज्ञान में प्रमाज्ञान का लक्षण नहीं घटता। प्रमा यथार्थ ज्ञान को कहा गया है। यथार्थ ज्ञान का अर्थ है 'तद्वतितत्प्रकारक ज्ञान', अर्थात् यथार्थ रजत मे 'इद रजतम्' का ज्ञान, क्योंकि इसमें रजत विशेष्य में रजतत्ववाला रजत का ज्ञान होता है, किन्तु भ्रमस्थल में रजताभाववति शुक्ति में रजतत्ववाला ज्ञान होता है; इसलिए यह भ्रम है। 'तदभाववति तत्प्रकारक ज्ञान' को अयथार्थ या भ्रम ज्ञान कहा है।[१११]

प्रमाज्ञान होने के लिए शुक्ति में शुक्तित्वप्रकारक ज्ञान होना चाहिए, अतः रजताभावस्थल शुक्ति में रजतत्वप्रकारक ज्ञान विपर्यय या मिथ्याज्ञान है। उक्त प्रकार ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष से जब

भ्रमस्थल मे 'इद रजतम्' इस प्रकार रजत का प्रत्यक्ष होता है, तब पूर्वानुभूत रजत मे इष्टसाधनता का स्मरण हो आता है, अर्थात् रजत जो काम की वस्तु है, स्मरण हो आता है। साथ मे इद मे अभिन्नरूप मे दृष्टरजत का भी इष्टसाधनत्व अनुमित होता है। अनुमान का रूप होगा–

१ रजत द्वारा सपादन करने योग्य कार्य सम्मुख मे उपस्थित वस्तु से भी हो सकता है– (प्रतिज्ञा)।

२ क्योकि सम्मुख मे उपस्थित वस्तु मे भी रजत का कारण रजतत्त्व है (हेतु)।

३ जिसमे भी रजत का धर्म रजतत्त्व होता है, वही रजत द्वारा सपादन योग्य कार्यसपादन मे समर्थ होता है। जिस प्रकार मेरे हाथ मे स्थित रजत (दृष्टात)।

४ इस रजत मे भी रजतत्त्व है (उपनय)।

५ अत सम्मुखस्थ वस्तु रजत का प्रयोजनसपादनसमर्थ है, इसमें सदेह नहीं (निगमन)।

इसमे यह सिद्ध हुआ कि रजतार्थी व्यक्ति को जो पुरोवर्ती विषयकज्ञान होता है, वह रजतज्ञान से पृथक्ज्ञान नहीं है, अपितु वह ज्ञान पुरोवर्ती द्रव्याभिन्नतया रजतविषयक होता है। इस बात को अन्यथाख्यातिवादी एक अनुमान के द्वारा सिद्ध करते हैं। न्यायमकरन्द मे आनन्द बोध ने जो अनुमान नैयायिको की ओर से प्रस्तुत किया है, उसका रूप निम्न प्रकार है

भ्रमस्थलीय रजतज्ञान पुरोवर्ती वस्तु विषयक है (प्रतिज्ञा)।

क्योकि यह रजतार्थी व्यक्ति को नियमित रूप से इसके ग्रहण मे प्रवृत्त कराता है (हेतु)।

जो ज्ञान जिस व्यक्ति को जिस विषय मे नियमत प्रवृत्त कराता है, वह तद्वस्तु विषयक होता है– जैसे उभयवादीसिद्ध यथार्थ रजतज्ञान। यह भी वैसा ही है (उपनय)।

अत भ्रमस्थलीय रजतज्ञान पुरोवर्ती वस्तु विषयक है (निगमन)।[११२]

अन्यथाख्याति का खण्डन

शाकर वेदान्तियो ने न्याय के अन्यथाख्यातिवाद को स्वीकार नहीं किया है। भामती प्रस्थान उव विवरणप्रस्थान दोनों में युक्तितर्कों से अन्यथाख्याति का खण्डन किया गया है। शंकर ने न्याय के अलौकिक सन्निकर्ष को खण्डन का केन्द्रबिन्दु बनाया और पूर्ण शक्ति के साथ उसका

प्रत्याख्यान किया है।[११३] विवरणकार ने अन्यथाख्याति मे अन्यथात्व क्या है? प्रश्न उठाया है। उन्होने अन्यथा के तीन सम्भावित विकल्प किये हैं– ज्ञान मे अन्यथात्व, ज्ञान की फलप्रकटता मे अन्यथात्व या ज्ञानविषयक का अन्यथात्व?[११४] प्रथम पक्ष मे ज्ञान रजताकार का ज्ञान है। उसके अन्यथात्व का अर्थ है आलम्बन दूसरा हो– अर्थात् रजतज्ञान का आलम्बन शुक्ति हो, ऐसा सम्भव नहीं है, क्योकि अन्याकार ज्ञान का अन्य आलम्बन नहीं बन सकता, जिस प्रकार का ज्ञान होता है, वही ज्ञान का आलम्बन भी होता है।[११५]

इस प्रकार फल मे अन्यथात्व भी नहीं बन सकता, क्योकि स्फुरण ही यहॉ पर फल है और वह वस्तुनिष्ठ होता है, अत रजतज्ञान के स्फुरणरूप फल मे रजत को ही होना चाहिए। ज्ञान विषय या वस्तु मे अन्यथात्व मानने पर देशान्तरीय रजत जो कि शुक्तिवस्तु मे अन्यथाभाव को प्राप्त करता है, उसमे क्या कारण है पूछा जाएगा। देशान्तरीय रजत और शुक्ति दोनों अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं फिर भी देशान्तरीय रजत शुक्ति मे किस सम्बन्ध में भासता है? इन समस्याओं का समीचीन समाधान अन्यथाख्यातिवादी के पास नहीं है, अत विवरणकार के अनुसार अनिर्वचनीय ही रजत शुक्ति रजतभ्रम मे स्वीकार कर लेना चाहिए।[११६]

शकर का कहना है कि विश्लेषण करने पर बोध द्वारा अन्यथाख्यातिवाद सिद्ध नहीं होता, क्योकि भ्रमस्थल मे उक्त रजतज्ञान परोक्ष नहीं है यह पूर्व ही कहा गया है। उक्त स्थल मे रजत का चक्षु द्वारा साक्षात्कार होता है और इसी कारण उसे देशान्तरीय रजत का ज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योकि नेत्र द्वारा व्यवहित वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं है।[११७] विशेषण एवं विशेष्य इन दोनो के सन्निकर्ष बिना विशिष्ट का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। विशेष्य के साथ सन्निकर्ष एवं विशेषणज्ञान दोनो के विशिष्टज्ञान की सामग्री रहने पर भी विशेषण के साथ इन्द्रिय संप्रयोग के अभाव मे विशिष्टज्ञान मानने पर दण्डहीन पुरुष में भी 'दण्डी' इस प्रकार का विशिष्ट प्रत्यक्षज्ञान होने लगेगा।[११८] ऐसा होता नहीं है, क्योकि पूर्वकाल मे दण्डविशिष्ट को देखने पर इस समय दण्डहीन पुरुष मे 'दण्डी' है ऐसा ज्ञान नहीं होता। 'दण्डी' ज्ञान के लिए दण्ड विशेषण भी इस समय मे पुरुष के साथ ही इन्द्रिय का विषय होना चाहिए, तभी 'दण्डी' यह साक्षात्कार हो सकता है। इसी प्रकार शुक्ति में देशान्तरीय रजत के प्रत्यक्ष होने के लिए देशान्तरीय के साथ इन्द्रियसंप्रयोग अवश्य आवश्यक है। ऐसा देशान्तरीय रजत के साथ सम्भव नहीं है अतः अनिर्वचनीयरजतोत्पत्ति स्वीकार करनी पड़ेगी।

शकर का कहना है कि नैयायिक के अनुरोध से 'सुरभिचन्दनम्' इन ज्ञान मे अलौकिक प्रत्यक्ष के समान 'इद रजतम्' भ्रम की व्याख्या उक्त ज्ञानलक्षणो से नहीं हो सकती,[११] क्योकि ज्ञानलक्षणा का उक्त दृष्टात समीचीन नहीं है। उक्त 'सुरभिचन्दनम्' दृष्टान्त मे भी शकर ज्ञानलक्षणा स्वीकार नहीं करते, क्योकि 'सुरभि' नासिका का विषय है। वह चाक्षुष नहीं हो सकती (चन्दन चाक्षुष है)। सुरभि विशेषण के साथ चाक्षुषता न होने के कारण उसका अनुमान होता है, कभी किसी समय मे चन्दन को उठाकर सूघा गया है और दूसरे समय मे जब चदन को देखते हैं तो 'सुगन्धि चन्दम्' यह अनुमित होता है। यदि यहॉ पर ज्ञान लक्षणासन्निकर्ष माना जायेगा तो अनुमान का उच्छेद हो जायेगा।[१२०] 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमितिज्ञान अनुमान द्वारा होता है। हेतु के साथ साध्य की व्याप्ति के स्मरण से अथवा साध्यव्याप्ति के उद्‌बुद्ध सस्कार से अनुमितिज्ञान होता है। साध्य की व्याप्ति के स्मरण होने पर व्याप्तिज्ञान एव प्रत्यक्ष सामग्री वह्नि की अनुमिति न होकर प्रत्यक्ष होना चाहिए। पर्वत के साथ नैत्रसयोग और वह्निस्मृति के कारण 'पर्वतो वह्निमान्' एव प्रकार प्रत्यक्षज्ञान होना चाहिए। जहां पर एक ही विषय मे अनुमिति सामग्री एव प्रत्यक्ष सामग्री, दोनो है, वहॉ पर उस विषय का अनुमान न होकर प्रत्यक्ष होता है, क्योकि प्रत्यक्ष सामग्री अनुमिति सामग्री से बलवती होती है[१२१] और सर्वत्र अनुमिति मे पक्षादि कुछ भाग का प्रत्यक्ष होता ही है। स्मृताश को यदि ज्ञानलक्षणा द्वारा इस प्रकार प्रत्यक्ष मान लिया जाए तब कहीं भी अनुमान को अवकाश नहीं मिलेगा। इस प्रकार न्याय के अनुसार अनुमान–प्रमाण स्वीकार अकारणक होगा। इस पर यदि अन्यथाख्यातिवादी कहे कि प्रत्यक्षज्ञान की विषयता से अनुमिति ज्ञान की विषयता विलक्षण है, क्योकि प्रत्यक्ष विषय मे परिमाणादि का सदेह नहीं होता, अनुमिति के विषय में परिमाणादि का सदेह होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान अपरोक्षताज्ञान है, अनुमिति ज्ञान परोक्षता का ज्ञान है। दोनो में अपरोक्ष ज्ञान का सम्पादक प्रत्यक्ष एव परोक्षज्ञान का सम्पादक अनुमान है। इस पर शंकर का समाधान यह है कि लौकिक प्रत्यक्ष की विषयता अनुमिति से विलक्षण अवश्य है, किन्तु 'सुगन्धादि चन्दनम्' इत्यादि ज्ञान सुगन्धादि अश मे अलौकिक है, अत· उसका ज्ञान अनुमिति के समान है। जिस प्रकार अनुमिति के ज्ञान मे उत्कर्षादि भी अनिर्णीत होते हैं, उसी प्रकार सुगन्ध के भी उत्कर्षादि अनिर्णीत होते हैं। 'सुगन्धिचन्दनम्' में ज्ञानलक्षण द्वारा सुगन्ध सहित चन्दन का प्रत्यक्ष मानने पर भी सुगन्ध चन्दन मे कियत्परिमाण है? उक्त प्रकार प्रत्यक्ष से नहीं कहा जा सकता, अतः दोनों की विषयता में अन्तर नहीं है, अतः अनुमान का निष्फल होना निश्चित है। इसी प्रकार जहाँ पर पुरुष में 'पुरुषोनवा' एवं प्रकार संदेह होता है एवं 'पुरुषत्व व्याप्यकरादिवानयम्' इस प्रकार परामर्शज्ञान होता

है, और पुरुष के साथ नेत्रसयोग भी है, अत उक्त स्थल मे अनुमानसामग्री परामर्श एव प्रत्यक्ष सामग्री पुरुषसहित नेत्र सयोग दोनो है, परन्तु यहा पर अनुमिति न होकर प्रत्यक्षज्ञान ही होता है, अत एक स्थान मे दो ज्ञानो की सामग्री रहने पर प्रत्यक्ष सामग्री के प्रबल होने से 'पर्वतो वह्निमान्' मे भी अनुमिति सामग्री के विद्यमान रहते हुए भी अलौकिक सम्बन्धरूप सामग्री द्वारा वह्नि का प्रत्यक्ष ही होगा,[१२२] अतएव ज्ञान लक्षणा अलौकिक सम्बन्ध से प्रत्यक्षज्ञानोत्पति स्वीकार करने पर अनुमान प्रमाण की व्यर्थता निश्चित है।

यहाँ पर नैयायिको का कहना है कि यद्यपि भिन्न विषय स्थल मे प्रत्यक्ष सामग्री की अपेक्षा अनुमान सामग्री प्रबल है और समान विषय स्थल मे अनुमिति सामग्री की अपेक्षा प्रत्यक्षसामग्री प्रबल है, तथापि समान विषय स्थलो मे लौकिक प्रत्यक्ष सामग्री अनुमिति सामग्री की अपेक्षा प्रबल होने पर भी अलौकिक प्रत्यक्ष सामग्री अनुमिति सामग्री की अपेक्षा सर्वथा दुर्बल है, अतएव पर्वत मे अनुमिति सामग्री द्वारा अलौकिक सामग्री के बाध होने पर अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति सम्भव होने के कारण उसके व्यर्थत्व का प्रश्न नही उठता। इस पर शकर का कहना है कि न्याय का यह पक्ष भी समीचीन नहीं है, क्योकि ऐसा होने पर जहा स्थाणु मे 'स्थाणुर्वा' एव प्रकारक सदेहानन्तर 'पुरुषत्य–व्याप्यकरादिमानयम्' इस प्रकार भ्रम होता है और 'पुरुष एवायम्' इस प्रकार भ्रम प्रत्यक्ष होता है, वहाँ पर न्याय के अनुसार अनुमिति होनी चाहिए न कि प्रत्यक्ष, क्योकि उक्तस्थल मे स्थाणु मे पुरुषत्व का प्रत्यक्ष होने के कारण यद्यपि भ्रमप्रत्यक्ष और भ्रमप्रत्यक्ष की अलौकिक सामग्री भी उनके मत मे है, तथापि अनुमिति सामग्री की अपेक्षा अलौकिक प्रत्यक्ष सामग्री को दुर्बल मानने पर उक्त स्थल मे अनुमिति होनी चाहिए और यदि उक्तस्थल मे पुरुषभ्रम अनुमितिरूप स्वीकृत हो जाय तब उत्तरकाल मे 'पुरुष साक्षात्करोमि' इस प्रकार का जो अनुव्यवसाय होता है वह नहीं होना चाहिए। 'पुरुष अनुमिनोमि' ऐसा अनुव्यवसाय होना चाहिए, अत मानना होगा कि उक्तस्थल मे भी लौकिकप्रत्यक्ष सामग्री के समान ही अलौकिकप्रत्यक्ष सामग्री भी अनुमिति सामग्री की अपेक्षा प्रबल है। इस प्रकार अनुमिति स्थल मे भी ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्षोत्पत्ति होने पर अनुमान प्रमाण निष्फल होना निश्चित है।

पुनश्च शकर का कहना है कि 'इद रजतम्' मे ज्ञान प्रत्यासत्ति द्वारा रजत का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं, क्योंकि उक्तस्थल के रजत का दर्शन उक्त स्थल में ही सर्वप्रथम हुआ है। इससे पूर्व उक्त शुक्तिरजत को देखा नहीं गया, अतः पूर्व अननुभूत वस्तु का स्मरण नही हो सकता। स्मरण न

होने पर ज्ञान प्रत्यासत्ति असम्भव है। जो वस्तु जिस अवच्छेद से अनुभूत होती है, वह उस अवच्छेद से ज्ञानप्रत्यासत्तिरूप होगी।[१२३]

ज्ञानलक्षणा द्वारा भ्रान्तिज्ञान की व्याख्या सम्भव नहीं है, क्योकि उससे प्रत्यक्ष होने के बाद जो अनुव्यवसाय होता है उससे यह ज्ञात हो जाता है कि उक्तस्थल मे सुरभि के प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय का उल्लेख नही होता, अर्थात् 'चक्षु द्वारा सुरभि को देख रहा हूँ', ऐसा ज्ञान नहीं होता, अपितु सामान्य ज्ञान होता है, सुरभि को जान रहा हूँ, इस प्रकार। यह बात न्याय को भी स्वीकार है। यदि ज्ञान लक्षणा द्वारा प्रत्यक्ष के अनुव्यवसाय का रूप सामान्य है तब इसमे 'इद रजतम्' की व्याख्या कैसे सम्भव है? क्योकि शुक्तिरजत भ्रम मे रजत को चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष कर रहा हूँ, ऐसा अनुव्यवसाय होता है। न्यायमत के अनुसार 'रजत को जान रहा हूँ', ऐसा अनुव्यवसाय होना चाहिए, अत रजत की चक्षुर्ग्राह्यता की सिद्धि के लिए अनिर्वचनीय रजतोत्पत्ति स्वीकार करनी पडेगी, और दोष को भी प्रत्यासत्ति नहीं कह सकते, क्योकि विशेषण रजताश मे उसकी हेतुता नहीं है, वह यथार्थ है।[१२४] प्रवृत्ति द्वारा भी अन्यथाख्याति की सिद्धि नहीं हो सकती। अन्यथाख्यातिवाद मे देशान्तर मे स्थित रजत के लिए देशान्तर मे प्रवृत्ति होनी चाहिए, किन्तु प्रवृत्ति शुक्तिदेश मे होती है, अत शुक्ति मे अनिर्वचनीय रजतोत्पत्ति स्वीकार किये बिना उपाय नहीं है। यदि नैयायिक यह कहे कि रजत–ज्ञान का विषय शुक्ति है तो यह समीचीन नहीं है, क्योकि अन्याकार ज्ञान अन्यालम्बनज्ञानविरुद्ध है। ज्ञान हो रहा है रजत का और उसका आलम्बन शुक्ति नहीं हो सकती।[१२५] इसी प्रकार बाधबुद्धि द्वारा भी अन्यथाख्याति सिद्ध नहीं हो सकती। शुक्ति रजत ज्ञान के पश्चात् 'यह रजत नहीं' इस प्रकार बाधबुद्धि होती है। 'इद रजतम्' इस निषेध ज्ञान द्वारा ज्ञात होता है कि इस निषेध के पूर्व रजत का आरोप हुआ था। यदि संसर्ग का आरोप होता तो 'यहा रजतत्व नहीं' ऐसा बाध होता, परन्तु 'रजत नहीं है' ऐसा बाध होता है। इससे सिद्ध होता है कि रजततादात्म्यप्रतीति होती है और उसी का बाध होता है। बाध के लिए यहाँ पर अनिर्वचनीय रजतोत्पत्ति माननी पडेगी। नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत अनुमान 'विवादपद रजतम्' इत्यादि मे न्यायमकरन्दकार ने सिद्धसाधनता दोष दिया है, क्योकि इदंकारास्पदअनिर्वाच्य रजतावभास तो सामने अद्वैतवादी को भी अभीष्ट है।[१२६] यदि रजत को इद मे अविद्यमान माना गया तब तो उक्त अनुमान का दृष्टान्त साध्यविकल है। इस प्रकार शंकर ने अन्यथाख्याति का खण्डन करके अनिर्वचनीय ख्याति की स्थापना की है।

न्यायदर्शन आत्मा, अनात्मा दोनो पदार्थों को सत्य मानना है, इसी कारण नैयायिको ने भ्रमस्थल मे अन्यथाख्याति स्वीकार की है। न्याय के अनुसार भ्रमस्थल के अधिष्ठान एव आरोप्य दोनो सत्य हैं। भ्रममात्र मे ज्ञानलक्षणा की कल्पना से भी भ्रान्त व्यक्ति के रजतदर्शन की व्याख्या नही हो सकती, क्योकि ज्ञानलक्षणा एक अलौकिक अप्रसिद्ध सन्निकर्ष है। इससे इन्द्रिय के साथ स्मृत वस्तु के दर्शन की बात अनुभवविरुद्ध है। अनुभव विरोधी बाते किसी भी दर्शन मे स्वीकृत नहीं है। यदि हुई भी है तो उनकी अनुभव के साथ सगति बैठाने का प्रयास किया गया है।

आचार्य शकर ने भ्रमस्थल मे अन्य मतो का उल्लेख करके उन सभी मतो मे अन्य की 'अन्यधर्मावभासता व्यभिचरित नहीं है', यह सिद्ध किया है,[१२७] अर्थात् कुछ दार्शनिको ने अन्य की अन्य मे अवभासता को स्वसिद्धान्तो मे स्वीकार किया ही है, जैसाकि बौद्धविज्ञानवादी और शून्यवादी भ्रम को अन्य की अन्य मे अवभासता के रूप मे ही स्वीकार करते हैं, क्योकि शून्यवाद मे असत् शुक्ति मे असत् रजत की ख्याति एव विज्ञानवाद मे अवस्तुशुक्ति मे आत्मवस्तु या विज्ञान की ख्याति ही अन्य की अन्य मे अवभासता है। अवभास का बाध हुआ करता है, अत· ख्याति और बाध द्वारा अनिर्वचनीय वस्तु की स्थिति को स्वीकार करना ही पडेगा। इसी प्रकार न्याय मे देशान्तरीय वस्तु की ख्याति असम्भव होने के कारण प्रातीतिक वस्तु स्वीकार करनी पडेगी, अन्यथा भ्रम ही सम्भव नहीं होगा। मीमासक प्रभाकर के मत मे यद्यपि भ्रम स्वीकृत नहीं है, तथापि युक्ति द्वारा पराहत होकर उन्हे भी स्वीकार करना ही होगा।

भ्रमस्थलीय वस्तुस्वरूप एव ज्ञान की व्याख्या करने के लिए पूर्वाक्त पचख्यातिवादो के अतिरिक्त विज्ञानभिक्षु आदि साख्याचार्य सदसद्ख्याति, रामानुज एव निम्बार्क सत्ख्याति स्वीकार करते हैं।

सत्ख्याति (रामानुज)

सत्ख्याति के प्रवर्तक रामानुजाचार्य हैं। इनके मत मे सभी ज्ञान सत्य ही हैं, भ्रम होता ही नहीं।[१२८] अर्थात् सभी यथार्थ है, क्योंकि जगत् के सभी पदार्थ सर्वात्मक हैं। अपने इस मत की पुष्टि वेदवेत्ता विद्वानो (नाथमुनि एवम् द्रविणचार्य आदि) के इस मत से कि श्रुति, स्मृति, शास्त्रानुसार सभी वस्तुएं ब्रह्मात्मक होने से यथार्थ सत्य हैं,[१२९] से की है। 'इद रजतम्' इत्यादि भ्रम स्थलो में सत्ख्याति के समर्थन में आचार्य रामानुज का कहना है कि पञ्चीकरण के सिद्धान्तानुसार यह सिद्ध

है कि सभी वस्तुओ मे सभी वस्तुए मिश्रित हैं, जिसे हम पृथ्वी कहते है, उसमे जल, वायु, अग्नि, आकाश के भी अश विद्यमान हैं। पृथ्वी के अश अधिक होने के कारण उसे पृथ्वी कहा जाता है, अत पृथ्वी मे अन्य भूतो का अभाव नहीं है। इसके लिए त्रिवृत्करण श्रुति का प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि महत् से लेकर पञ्च महाभूतपर्यन्त सभी तत्त्व परस्पर सयुक्त होकर और परस्पर आश्रित होकर अण्ड का उत्पादन करते हैं, इत्यादि वाक्यो से विष्णु पुराण मे यही बात कही गयी है कि त्रिवृत्करण (अथवा पञ्चीकरण प्रक्रिया से भी) मे किसी एक भूत का आधिक्य होने के कारण नाम भेद की प्रवृत्ति होती है।[१३०]

इस ख्यातिवाद के पूर्व हमने जिस प्रकार अख्यातिवादी मीमासक के इस विचार को कि 'इद रजतम्' इत्यादि भ्रम स्थलो मे एकविशिष्ट भ्रमज्ञान को नहीं स्वीकार करते, ठीक उसी प्रकार रामानुज सम्प्रदाय भी भ्रमस्थलो मे वस्तुत भ्रम स्वीकार नहीं करते। मीमासक उक्त भ्रमस्थल मे एक प्रत्यक्ष और दूसरा स्मृति इस प्रकार दो ज्ञानो की अख्याति द्वारा ही भ्रम की व्याख्या करते हैं। मीमासक के ही समान आचार्य रामानुज ने भी श्रीभाष्य में 'यथार्थ सर्वविज्ञानमिति वेदविदामतम्'[१३१] इस मत का अनुसरण किया है। 'इद रजतम्' इत्यादि भ्रमस्थलो मे सत्ख्यातिवाद के समर्थन में रामानुज का कहना है कि पचीकरण के सिद्धान्तानुसार यह सिद्ध है कि सभी वस्तुओ मे सभी वस्तुए मिश्रित हैं। जिसे हम पृथ्वी कहते हैं, उसमे जल, वायु, अग्नि, आकाश के भी अश विद्यमान हैं।[१३२] पृथ्वी के अश अधिक होने के कारण उसे पृथ्वी कहा जाता है, अत पृथ्वी मे अन्यभूतो का अभाव नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार समुपस्थित का ही ज्ञान होता है, अर्थात् सत् की ही ख्याति होती है। मरीचिका मे जल दिखाई देने के कारण उसे धोखा नहीं समझना चाहिए, क्योकि मरीचिका के रेत पृथ्वी हैं। इन रेतो मे जल आदि अन्यभूतो का भी सम्मिश्रण है। अनुपात मे अन्यभूतो के अश कम हैं, पृथ्वी का भाग अधिक है, इस कारण मरीचिका में पानी का दिखाई देना किसी अनुपस्थित वस्तु का दिखाई देना नहीं है, अपितु ऐसी वस्तु का दिखाई देना है जो नेत्रो के समाने उपस्थित है। रामानुज ने पंचीकरण के इस सिद्धान्त का और भी व्यापक अर्थ लिया है, क्योकि पचभूतो के परस्पर योगिक होने के साथ–साथ उनसे बने घट–घटादि पदार्थो मे भी परस्पर दो (२) के अशो का योग माना गया। 'शुक्तिरजत्' भ्रम में उनके अनुसार शुक्ति में रजत् के अवयव विद्यमान हैं, परन्तु अनुपात में रजतावयव की अपेक्षा शुक्ति अवयव अधिक हैं। इसी कारण दोषरहित चक्षुवाले उसे शुक्ति ही समझते हैं। शुक्ति में रजत् की सादृश्यता का कारण है उसमें रजत् के अश होना। सादृश्य द्रव्य के अश को ही कहते हैं;[१३३] इसलिए 'इद रजतम्' भ्रम में भी अनुपस्थित

का ज्ञान नहीं होता। चक्षुदोषादिवश शुक्ति के अवयवो के आधिक्य होने पर भी प्रतीति न होकर रजत् की ही प्रतीति होने लगती है और रजतार्थी रजत् को पाने के लिए प्रवृत्त भी होता है।[१३४] असफल प्रवृत्ति होने के कारण उसे मिथ्या समझते हैं। 'नेद रजतम्' इस प्रकार बाध मे रामानुज के अनुसार मात्र प्रवृत्ति का बोध होता है, न कि रजत् का।

रामानुज पीतशख–भ्रम की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि पीलापन नेत्रो मे होता है। पीलिया से ग्रसित रोगी के नेत्रो का पीलापन शख तक किरणो के साथ पहुँच जाता है, और शख के श्वेतपन को ढक लेता है, इसीलिए शख पीला दीखता है। यहा पर भी पीलापन सत्य है, अत· सत् की ख्याति होती है।[१३५] रामानुज का मानना है कि सिद्धान्तत ज्ञान सत्य का होता है, और ज्ञान का विषय भी सत्य होता है, किन्तु व्यवहार मे अर्थात् गृहीत अर्थ मे ज्ञान को सत्य होने के लिए उसे उपयोगी भी होना चाहिये। मरुस्थल मे जल देखते हैं तो उसमे जल अवश्य है किन्तु वह जल व्यवहारोपयोगी नहीं है, इस अर्थ मे उसे मिथ्या कहा जा सकता है।

रामानुज जी का यह मानना है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से सभी ज्ञान सत्य हैं और उनके विषय भी सत्य हैं किन्तु भ्रमज्ञान और सत्यज्ञान के व्यावहारिक अन्तर को भी मानते हैं। व्यवहार मे भ्रमज्ञान को माने बिना कोई उपाय नहीं है, क्योंकि भ्रमकालीन सर्प और सत्यसर्प मे अन्तर किये बिना लोक व्यवहार नहीं चल सकता। अत· रामानुज के अनुसार भ्रमात्मक ज्ञान व्यावहारिक शर्त को पूरा नहीं करता, इस कारण सत्य ज्ञान से कुछ भिन्न है। इसका तात्पर्य यह माना जा सकता है कि सत्यज्ञान सत्य और व्यावहारिक है। भ्रमज्ञान सत्य और अव्यावहारिक है। रामानुज की व्याख्या से यह निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान सब समय यथार्थ सत्ता का ही होता है, ऐसी बात नहीं, ज्ञान आशिक भी होता है, जैसे– रज्जुसर्प का ज्ञान। आशिक ज्ञान कभी भी सत्यज्ञान नहीं हो सकते हैं, क्योकि एक पूर्ण इकाई का ज्ञान यदि अशत हो तो उसे यथार्थ ज्ञान नहीं कहा जा सकता। यदि पाच सौ रूपये के नोट को कोई सौ रूपया कह दे तो यह यथार्थ ज्ञान नहीं होगा। अतः ऐसा ज्ञान अपूर्ण होने के कारण अयथार्थ है। ज्ञान को सत्य होने के लिए **'व्यवहारानुगुण्य'** भी होना चाहिए। यह बात सिद्ध करती है कि सभी ज्ञान यथार्थ भी हैं और मिथ्या या भ्रमात्मक भी, क्योंकि सभी ज्ञान अपूर्ण हैं, अत· भ्रमात्मक हैं। सभी ज्ञानों में आंशिक सत्यता है, अतः रज्जुसर्प भी सत्य ज्ञान है।

उपर्युक्त तथ्यों को देखने पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि रामानुज के मत में भी सत्यमिथ्या ज्ञान मे भेद होने के कारण रज्जुसर्प ज्ञान में किसी न किसी प्रकार का भ्रमात्मक ज्ञान

आ ही जाता है, चाहे वह व्यावहारिक शर्त पूरा न करने से ही क्यो न उत्पन्न हो गया हो। यतीन्द्रमतदीपिका के अनुसार सत्य वह है जो यथार्थ वस्तु को प्रस्तुत करता है और जो क्रियात्मक रूप मे उपयोगी है।[१३६]

अन्यसम्प्रदाय द्वारा सत्ख्याति का स्वरूप

निम्बार्क सम्प्रदाय को मानने वाले प्रमुख आचार्य श्री पुरुषोत्तम प्रसाद ने भ्रम की व्याख्या मे रामानुज की प्रक्रिया का ही अनुसरण किया है। उन्होने पजीकरण प्रकिया द्वारा 'सर्वत्र सब हैं' इस प्रक्रिया की व्याख्या द्वारा सत्ख्याति का ही समर्थन किया है। तदनुसार शुक्ति मे रजतभ्रम काल मे असत् या अनिर्वचनीय रजत् का भान नहीं होता, अपितु रजत् का उत्पादन तेजसाश शुक्ति मे विद्यमानतया उसमे रजत् की प्रीति होती है। शुक्ति का ज्ञान दोषो के कारण नहीं हो पाता। इस प्रकार सत् की ख्याति की व्याख्या मे श्रुति कथित मृद् घटादि दृष्टान्त भी घटित हो जाते हैं। इसी कारण, कारण के ज्ञान से कार्य का भी ज्ञान सिद्ध हो जाता है। यदि सर्वत्र सब न हो तो कारण के ज्ञान से कार्य का ज्ञान सभव नहीं। इस प्रकार सभी ज्ञान यथार्थ है। श्री माधवमुकुन्द का कहना है कि एक स्थान मे अवस्थित वस्तु का अन्यत्र आरोप ही भ्रम है।[१३७] आरोप के कारण दोष : सादृश्यज्ञान, सस्कारादि हैं। अनन्तरामदेवाचार्य ने वेदान्त तत्वबोध मे कहा है 'सद्वैतुकाख्याति सत्ख्यातिरिति' अर्थात् भ्रम के निमित्त दोषादि सत्य हैं, अत इसे सत्ख्याति कहा जाता है। यदि इस व्याख्या के अनुसार सत्ख्याति कहा जाय तब तो सभी ख्यातिया सत्ख्याति ही मानी जानी चाहिए, क्योकि सभी ख्यातिवादी दोषादि निमित्तो से भ्रम होता है, या मानते हैं। अत मात्र दोष आदि के होने के कारण सत्ख्याति नहीं मानी जा सकती, अपितु भ्रम के विषय के सत्य असत्य होने पर ही 'सत् या असत्ख्याति भेद' सभव है। अत अनन्तरामदेवाचार्य जी की सत्ख्याति की परिभाषा अयुक्त प्रतीत होती है।

यहाँ पर भ्रमस्थलीय शुक्तिरजत् की व्याख्या असत्ख्याति और सत्ख्याति द्वारा नहीं की जा सकती है। अतः अनिर्वचनीय ख्याति द्वारा उसकी व्याख्या करके तत्कालीन प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति स्वीकार कर लेनी चाहिए। प्रातिभासिक रजत् की उत्पत्ति मानने पर ही उक्त रजत् की प्रतीति सभव है। भ्रमस्थल में रजत् की उत्पत्ति न मानने पर शून्यवादी के समान असत् रजत स्वीकार करना होगा। असत् का अर्थ वेदान्तियों ने अलीक ही लिया है, सांवृत्तिकसत् नहीं लिया है। विज्ञानवादी की आत्मख्याति के अनुसार भी रज्जु में रजत् असत् ही है, यद्यपि वह आन्तर

विज्ञान रूप मे अन्यत्र सत् है। इसी प्रकार अन्यथाख्यातिवादी के अनुसार भी उक्त स्थल मे रजत् असत् है, अन्यत्र देशान्तर मे सत् है, अत उक्त प्रकार से विज्ञानवादी असत्ख्यातिवादी, सत्ख्यातिवादी हुए एव अन्यथाख्यातिवादी भी असत्ख्याति+सत्ख्यातिवादी या सद्सत्ख्यातिवादी की व्याख्या अव्यावहारिक है। अख्यातिवादी तो भ्रम को ही नहीं मानते, अत. उनका मत ही अव्यावहारिक है। इन कारणो से तथा निर्विषयक ज्ञान न होने के कारण भ्रमस्थलीय रजत् की प्रतीति ही उक्त स्थल मे रजत विषय की उपस्थिति सिद्ध करती है। वह रजत प्रातिभासिक ही हो सकता है, व्यावहारिक या पारमार्थिक नहीं। वेदान्त के अनुसार ज्ञान सर्वदा वस्तु तन्त्र होता है।[१३८] अत भ्रमकाल मे होने वाला रजतज्ञान रजत विषय को सिद्ध करता है। भ्रमात्मक रजत के बाध होने पर भ्रमदर्शी व्यक्ति 'भ्रम के रूप मे रजत देखा था', ऐसा अनुभव करता है 'कुछ भी नहीं देखा था', ऐसा अनुभव नहीं करता।

भ्रम की व्याख्या के द्वारा अद्वैत वेदान्ती (अनिर्वचनीयख्यातिवादी) तत्त्वमीमासा की समस्या का समाधान करते हैं। जिस प्रकार भ्रमस्थलीय रजत अलीक नहीं है, अपितु प्रातिभासिकत्वेन, एव बाध्यत्वेन मिथ्या है, उसी प्रकार व्यावहारिक रजत् भी ब्रह्मज्ञान द्वारा बाध होने तक सत्य है, एव बाध होने के पश्चात् असत् है, अत व्यावहारिक रजत भी सत् से भिन्न है, क्योकि उसका बाध होता है, अत व्यावहारिक रजत् भी सत् से भिन्न है, क्योकि उसका बाध होता है। असत् से भिन्न है, क्योकि उसकी प्रतीति होती है, सदसत् दोनो साथ मे विरोध के कारण सभव नहीं है।

सदसत्ख्याति (सांख्य)

भ्रमस्थलीय वस्तु स्वरूप एव ज्ञान की व्याख्या करने के लिए पूर्व मे हमने पाचख्यातियो की चर्चा की है। अब विज्ञानभिक्षु आदि साख्याचार्यो ने भ्रम की व्याख्या मे सदसत्ख्याति का समर्थन किया है।[१३९] इन साख्याचार्यो का मत है कि 'इद रजतम्' इस प्रकार भ्रम के विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि चक्षुदोष के कारण शुक्तित्वरूप विशेष धर्म की प्रतीति न होने के कारण इदरूप से शुक्ति का जो ज्ञान होता है, वह प्रमा ज्ञान या यथार्थ ज्ञान है, क्योंकि वह ज्ञान सत्य वस्तु का ज्ञान है, अत ज्ञान भी सत्य है। रजतज्ञान सत्य नहीं है, क्योंकि 'इदम्' में रजत अनुपस्थित है। जो वस्तु जहाँ पर अनुपस्थित होती है, उस वस्तु का वहाँ पर ज्ञान सत्य नहीं हो सकता है। रजतज्ञान असत् का ज्ञान होने के कारण असत् है। भ्रमस्थल में सर्वत्र यही दशा है। सत् और असत् दोनों प्रकार के ज्ञान होते हैं, इसलिए भ्रमस्थल का रजत असत् और 'इदं' सत् हैं।

रजत अन्यत्र सत् है यह ठीक है, किन्तु 'इदम्' मे वह आरोपित हुआ है, इसलिए सत् नहीं हो सकता। 'यहॉ रजत नहीं है' ऐसा कहने पर बाधबुद्धि का विषय भी असत् रजत ही है। यदि कहा जाय कि सदसत् एकाधिकारण मे दोनो कैसे रह सकते? इसके उत्तर मे विज्ञानभिक्षु का कहना है कि जैसे स्फटिक लौहित्य मे बिम्बात्मना लौहित्य सत् होता है, और स्फटिकगत प्रतिबिम्बात्मना असत् होता है, वैसे ही यहॉ पर भी सभव है। जिस प्रकार रजत दुकान मे स्थित सत् और शुक्ल अध्यस्तरूप से असत् है, ठीक उसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपञ्च भी स्वरूपत. सत् और चैतन्याध्यस्तरूप से असत् है। सदसत्ख्याति मे असत् का ज्ञान माना गया है, इसीलिए यह मत हमें समीचीन प्रतीत नहीं होता है, क्योकि असत् विषयक ज्ञान स्वीकार करने पर आकाशकुसुम का भी ज्ञान स्वीकार करना पडेगा, इसीलिए असत् की ख्याति असभव कल्पना लगता है। इदम् अश तो भ्रम है ही नहीं। आचार्य मण्डन मिश्र जी ने कहा है कि– 'एकान्तसत्वे का भ्रान्तिरसत्वे कि प्रकाशताम्'।[१४०] अर्थात एकान्त सत्व हो तो भ्रम ही नहीं है। एकान्त असत्व हो तो ख्याति ही नहीं, इस प्रकार साख्य का यह सिद्धान्त भ्रमज्ञान को ही उडा देता है। लेकिन एक विशेष बात यह है कि साख्य के इस सिद्धान्त मे कोई नवीनता नहीं है। शुक्ति को सत् और रजत को असत् तो माध्वसम्प्रदाय के दार्शनिक का भी मानना है। अन्तर इतना ही है कि साख्याचार्यो ने दोनो ज्ञानों को मिलाकर 'सदसत्ख्याति, नाम रख दिया है। यह सिद्धान्त बौद्धो के असत्ख्याति एवम् आत्मख्याति के अनुसार भ्रम की व्याख्या करने मे उपयुक्त नहीं लगता है। इस प्रकार बौद्धो के मत को ही मानते हुए आचार्य शकर भी साख्याचार्यो के इस भ्रम सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यह भ्रम सिद्धान्त की व्याख्या करने मे समुचित रूप से असमर्थ है।

४. भ्रम-सम्बन्ध में कुछ वैष्णव-दार्शनिक मत :

(क) माध्य (द्वैतवाद)

वैष्णव वेदान्तियो मे सर्वप्रथम तो रामानुज जी का नाम आता है, तथा उसके पश्चात् माध्व (द्वैतवादी) एवं निम्बार्क आदि आचार्यो ने भ्रम का निरूपण अपने–अपने तर्कों के साथ किया है। रामानुज के मतो का हमने सतर्क विवेचन पूर्व में किया है। यहाँ पर माध्व और निम्बार्क आदि के मतो का विवेचन अपेक्षित है।

माध्व सम्प्रदाय के आचार्य परमपण्डित श्री व्यासराज ने न्यायामृत नामक ग्रन्थ मे अपने तर्को द्वारा अन्य मतो का खण्डन युक्ति तर्को के द्वारा किया है। श्री व्यासराज जी का मत है कि माध्व आचार्य लोग किस प्रकार से भ्रमस्थलीय वस्तु को असत् कहते हैं, इसको हमने भ्रम के सिद्धान्त मे बतलाने का प्रयास किया है। मध्वाचार्य के अनुसार भ्रमस्थलीय रज्जु–सर्प आकाश–कुसुम के समान अलीक है। ये शकर के समान प्रातिभासिकत्व को स्वीकार नहीं करते, न ही रामानुज के समान उक्त स्थल मे रज्जु–सर्प के अवयवो को स्वीकार करते है। इसी के कारण रज्जु–सर्प वाला दृष्टान्त ही माध्व के अनुसार साध्य–विकल है। माध्व के अनुसार कार्यरूप जगत् ईश्वरसृष्ट है, अतः वह भ्रम नहीं है। जगत् ईश्वर–परतन्त्र है। स्वतन्त्र सत्ता एकमात्र ईश्वर की ही है।[१४१] श्रुति आकाशादि की सृष्टि का कथन करती है, अत. सृष्टि को हम भ्रम नहीं कह सकते हैं। माध्व भी शुक्ति–रजत की अर्थक्रियाकारित्व को नहीं मानते हैं। इसलिए शुक्ति–रजत असत् यानी अलीक है, किन्तु व्यावहारिक जगत् की वस्तुए अर्थक्रिया मे समर्थ है, अत वे सत्य हैं।[१४२]

आचार्य शंकर का कहना है कि सबसे पहले एक तो हम बाह्य वस्तुओं का अस्तित्त्व इसलिए अस्वीकार नहीं कर सकते हैं क्योकि हमे बाह्य वस्तुओ की चेतना होती है। प्रत्यक्षीकरण की सभी प्रक्रिया मे चाहे वह स्तम्भ हो, दीवाल हो, पट या घट हो, वस्तुओ के प्रत्यय के साथ ही बाह्य वस्तुओ की सत्ता का भी ज्ञान होता है। जिस वस्तु की हमें चेतना होती है, उसका अस्तित्त्व अवश्य होना चाहिए।[१४३] आचार्य शकर बाह्य वस्तुओं के ज्ञान की सम्भावना स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार प्रत्यक्ष भी ज्ञान का प्रामाणिक साधन होता है। यहा पर शकर का विचार विज्ञानवादी बौद्ध के प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे दिये गये मत से भिन्न मत का प्रतिपादन करता है। उनका विचार है कि यदि वस्तुए प्रमाणो के द्वारा ज्ञेय होने का अपना गुण त्याग देती हैं तो ज्ञान के सभी साधन अपने आप विलीन हो जायेंगे।[१४४]

दूसरे, यह तथ्य बाह्य वस्तुए चेतना से अलग अस्तित्व रखती हैं, चेतना की प्रकृति के आधार पर आवश्यक रूप से स्वीकार करना पडेगा। शंकर के मतानुसार, कोई भी व्यक्ति जब किसी खम्भे या दीवाल को देखता है तो उसे केवल अपने प्रत्यक्षीकरण की ही चेतना नहीं होती बल्कि सभी लोगो को अपने प्रत्यक्षीकरण की वस्तुओं जैसे खम्भे और दीवाल आदि की भी चेतना होती है। जो लोग बाह्य वस्तुओं के अस्तित्त्व का विरोध करते हैं वे स्वयं उनके अस्तित्व के साक्षी हैं, क्योकि वे कहते हैं कि चेतना की आन्तरिक वस्तुए बाह्यवत प्रतीत होती हैं। यदि वे जगत् के

अस्तित्व को स्वीकार न करते हो तो वे 'बाह्यवत् प्रतीत होना' कैसे कह सकते हैं? यह कोई नहीं कहता कि श्याम बन्ध्या मा का पुत्र प्रतीत होता है। यहा पर शकर ने बाह्य वस्तुओ की प्रतीति की चेतना का तर्कीय विश्लेषण किया है। वे इस बात की ओर सकेत करते हैं कि वस्तुओ का बाह्य अस्तित्व एक वास्तविक तथ्य स्वीकार किये बिना उसकी व्याख्या करना संभव नहीं है। जयतीर्थ ने वादावली ग्रन्थ मे श्री व्यासराज के ही समान भ्रम के लक्षणो का खडन किया है। जयतीर्थ के अनुसार अभेद स्वाभाविक नहीं है, किन्तु भेद ही स्वाभाविक है एव सत्य है।[१४५] जयतीर्थ जी का कहना है कि नानात्व या भेद मुक्ति मे भी होता है।[१४६] भेद आविद्यक नहीं है, जिससे कि उसे भ्रमात्मक ज्ञान कहा जा सकता है। यदि अज्ञान के बिना भेद नहीं दिखाई देता तब तो ईश्वर को अज्ञान नहीं, अत जीव से अभिन्न होकर जीव के सुख–दु खो से ईश्वर भी सुखी–दु खी होने लगेगा। जयतीर्थ ने भेदसत्यत्व का अनुमान प्रस्तुत किया है– 'विमतो भेद पारमार्थिक' असद्व्यतिरिक्तत्वात् ब्रह्मवत्'। ब्रह्म जिस प्रकार असत् से भिन्न होने के कारण सत् है, पारमार्थिक है, उसी प्रकार भेद भी उसी हेतु से परमार्थ है, सत्य है।

माध्व आचार्यो ने 'नेह नानास्ति', 'एकमेवाद्वितीयम्' आदि श्रुतियो का अर्थ सजातीय भेद निरसन परक से किया है। माध्व के अनुसार 'एक विज्ञान से सर्वविज्ञान' का कथन करने वाली श्रुति कार्य जगत् को मिथ्या नहीं बतलाती क्योकि सत्य के द्वारा मिथ्या भ्रम का ज्ञान नहीं हुआ करता है। कभी भी शुक्ति–रजत मे शुक्ति ज्ञान से रजत का ज्ञान नहीं होता, किन्तु रजत मिथ्या है, ऐसा ज्ञान होता है, अर्थात् रजत अभाव का ही ज्ञान होता है।[१४७] जिस प्रकार किसी क्षेत्र विशेष के विशिष्ट व्यक्ति को जान लेने पर उस क्षेत्र का ज्ञान हो जाता है, उसी के समान यहा पर भी एक कारणतत्व के जानने पर उसके अधीन सभी सादृश्य वस्तुओ का ज्ञान हो जाता है।[१४८]

इस प्रकार ऊपर के सभी वर्णनो से हमे यह ज्ञात होता है, कि माध्व का विचार स्पष्ट हो जाता है। माध्व ने अपने विचार को रखते समय विज्ञानवाद का एवम् शंकर के विचारो का भी अवलोकन किया है। तत्पश्चात् माध्व जी–जगत तथा ईश्वर को सत्य मानते हैं, फिर भी उनके अनुसार द्रव्य की संज्ञा पूर्ण पदार्थ को ही मिल सकती है। जिस प्रकार डॉ० राधाकृष्णन कहते हैं– ''वास्तविक अर्थो मे द्रव्य–सज्ञा केवल ऐसे ही पदार्थ के लिए प्रयुक्त हो सकती है जो अपने आप में पूर्ण हो जिसका निर्धारण भी अपने से ही हो और जिसकी व्याख्या भी पूर्ण रूप से अपने ही द्वारा हो सके। माध्व इस विषय को जानते हैं कि इस प्रकार की यथार्थता केवल सर्वोपरि आत्मा के ही

अन्दर है।"[१४६] सभी विचारो तथा तथ्यो पर विचार के उपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि माध्व के दर्शन मे ईश्वरेतर पदार्थों की सत्ता का स्वल्प अवमूल्यन दिखायी पडता है। लेकिन इनके अनुसार विज्ञानवादी व शकर के साथ तुलना करने पर हम कह सकते हैं कि माध्व ने वस्तुओ का अनित्य होना तो कहीं तक माना है लेकिन वे भ्रमात्मक नहीं हो सकती हैं। हमने पूर्व मे ही यह निवेदन किया है कि माध्व 'भ्रम' शब्द या 'मिथ्या' शब्द का अर्थ अलीक वस्तु आकाश–कुसुम आदि के लिए प्रयोग करते हैं, न कि घटादि सापेक्ष तथा अनित्य वस्तुओ के लिए हैं। माध्य के दर्शन मे शकर के अनिवर्चनीय या सदसद् विलक्षणत्व का कोई स्थान नहीं है, क्योकि इनके अनुसार सदसत् भिन्न असत् होता है। असत् भिन्न सत् होता है। इसलिए इन दोनो के बीच कोई अनिर्वचनीय नाम की वस्तु नहीं हो सकती है।

(ख) निम्बार्क :

निम्बार्काचार्य के अनुसार तीन तत्त्व स्वीकार किये गये हैं। प्रथमत· ईश्वर, द्वितीयत –जीव, और तृतीयत –जगत्।[१५०] लेकिन इसके बावजूद निम्बार्काचार्य ने इन तीनो तत्त्व को सत्य माना है। इनके अनुसार सृष्टि मिथ्या या भ्रमात्मक नहीं है, क्योकि यह ईश्वर की शुक्ति का परिणाम है। सृष्टि ईश्वर–सकल्पसृष्ट है। ईश्वर ने ईक्षण द्वारा सृष्टि की है।[१५१] ईश्वर से जीव–जगत् भिन्न और अभिन्न दोनो हैं। ब्रह्म कारण है, जीव–जगत कार्य है। ब्रह्म शक्तिमान है, जीव–जगत् शक्ति है। ब्रह्म स्वय जीव–जगत् का अशी है और जीव–जगत् ब्रह्म के अश हैं। कार्य–कारण से अभिन्न है, क्योकि कार्य कारणरूप हैं। कारणभिन्न कार्य की उपलब्धि सम्भव नहीं। फिर भी कार्य कारण से कार्यात्मना भिन्न भी हैं, क्योकि कार्य की अर्थक्रिया भिन्न होती है। इसी के कारण निम्बार्क के दर्शन का दूसरा नाम स्वाभाविक भेदाभेदवाद है।

निम्बार्क वेदान्त मे शकर वेदान्त स्वीकृत 'विवर्तवाद' का कोई स्थान नहीं, क्योकि निम्बार्क के अनुसार कार्यजगत् ब्रह्म का विवर्त न होकर ब्रह्म की शक्ति का परिणाम है। इस विषय मे रामानुज और निम्बार्क एकमत हैं। ब्रह्मसूत्र (२।१।१४) के भाष्य में निम्बार्काचार्य ने कार्य के कारण से अभिन्नत्व की व्याख्या की है, किन्तु कार्यकारण से अभिन्न का अर्थ अत्यन्त भिन्न नहीं है,– क्रिया है।[१५२] कारण से कार्य की सत्ता अभिन्न होने के कारण ही कार्य मिथ्या नहीं है। कारण सत् होने पर कार्य भी सत् होगा। निम्बार्क सत्कार्यवादी हैं। सत् कार्य के अनुसार कारणगुण कार्य में आते

हैं, अत यदि कारणरूप ब्रह्म सत् है, कार्य जीव–जगत् भी सत् है। छान्दोग्य के 'एक विज्ञान से सर्व विज्ञान' भी इसी कारण सार्थक हैं। कार्य मिथ्या हो और कारण सत् हो तो कारण के ज्ञान से कार्य का ज्ञान सम्भव नहीं हो सकेगा, क्योकि विरुद्ध स्वभाव की एक वस्तु के ज्ञान से विरुद्ध की दूसरी वस्तु का ज्ञान कैसे सम्भव है? मृत्तिका से घटादि कार्य अभिन्न हैं अत मृत्तिका के ज्ञान से कारणात्मक कार्य घटादि वस्तुओ का ज्ञान सम्भव है। इसी प्रकार ब्रह्म विज्ञान से ब्रह्मकारणक जीव–जगत् का भी ज्ञान सम्भव है। घटादि कार्य सम्पूर्ण रूप से अलीक होने पर मृत्तिका के ज्ञान से घटादि का ज्ञान असभव होने के कारण उक्त श्रुतिवाक्य निरर्थक हो जाता है। इसलिए जगत् पूर्णरूप से मिथ्या या अस्तित्वहीन नहीं है। वेदान्त कौस्तुभ–प्रभाकार केशवकाश्मीरी का तर्क है कि जगत् यदि मिथ्या या अध्यस्त होता तब मिथ्यावस्तु के परिपालन का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति मे ईश्वर मे जगत्नियतृत्वादि बाते किस प्रकार सम्भव हो सकती हैं? ब्रह्म सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ ब्रह्म के लिये मिथ्यावस्तु के परिपालन मे प्रवृत्ति सम्भव नहीं। श्रुति मे जगत् परिपालनादि बाते कही गई हैं, वे सत्य हैं, क्योकि श्रुतिवाक्य मिथ्या नहीं हो सकते। इसी से सिद्ध होता है कि जगत् मिथ्या या अध्यस्त नहीं हैं।[१५३] केशवकाश्मीरी का कहना है कि जगत्कार्य यदि शुक्ति–रजत के समान मिथ्या हैं तब तो कारण–ज्ञान से कार्यज्ञान सम्भव नहीं है, क्योकि सत्य कारणज्ञान से ही सत्य कार्यज्ञान सम्भव है। शुक्ति–रजत मे शुक्तिज्ञान से रजतज्ञान नहीं होता, अपितु शुक्ति–ज्ञान से रजत–ज्ञान बाधित होता है। इसी प्रकार जगत्–मिथ्यात्ववादी के मत मे ब्रह्मज्ञान से जगत् कार्यज्ञान सम्भव नहीं, क्योकि अद्वैत के अनुसार ब्रह्मज्ञान से जगत्प्रपच बाधित हो जाता है। ऐसी स्थिति मे 'वाचारम्भण' श्रुति का अर्थ निरर्थक तो नहीं हो सकता। जगत्प्रपच सत्य न होने पर 'एक विज्ञान' श्रुति के अर्थ की सगति सम्भव नहीं।[१५४] केशवकाश्मीरी का तर्क है कि यदि जगत् मिथ्या है तब अद्वैत के अनुसार वेदान्तशास्त्रविचारादि व्यर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार मोक्ष की भी सिद्धि नहीं होती।

विवर्तवाद का खण्डन करते हुए वेदान्तरत्नमजूषाकार श्रीपुरुषोत्त्माचार्य ने कहा है कि यदि श्रुति का तात्पर्य जगत् को ब्रह्म का विवर्त सिद्ध करना ही होता तब उक्त वाचारम्भण श्रुति मे 'विवर्त' या 'भ्रान्ति' शब्द का उल्लेख होता। सृष्टि के विषय में कहीं पर भी श्रुतिवाक्यों मे शुक्ति–रजत या मृगतृष्णोदकादि के दृष्टात नहीं दिखते। विवर्त या भ्रान्ति शब्द का भी उल्लेख नहीं दिखता। इसके विपरीत उक्त वाचारम्भण श्रुति में मृत्पिण्ड और विकार शब्दों का प्रयोग है। श्रुति में विशेषकर 'विकार' शब्द के प्रयोग से कार्यजगत् कारण का सत्य परिणाम सिद्ध होता है।[१५५] इसी

प्रकार पुरुषोत्तमाचार्य आगे कहते हैं कि यदि घटादि कार्यमय जगत् सम्पूर्णभाव से मिथ्या है तब मिथ्याभूत अर्थात् अलीक कार्य का आरोप नहीं हो सकता। पूर्वानुभूत कार्य का अनुभव करता है। जो सम्पूर्ण भाव से अलीक है उसका पूर्वानुभव सभव नहीं। और पूर्वानुभव के बिना उसका अध्यास या आरोप नहीं हो सकता।[५६] निम्बार्कमतानुसार जगत् ब्रह्म के शक्तिविक्षेपरूप परिणाम हैं। यह ब्रह्म का स्वरूपपरिणाम नहीं है।

उपर्युक्त विचारो से सिद्ध होता है कि निम्बार्क दार्शनिकगण विवर्तवाद या जगन्मिथ्यात्ववाद के घोर विरोधी हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय के परवर्ती आचार्य माधवमुकुन्द ने 'परपक्षगिरिब्रज' नामक ग्रन्थ मे शकर द्वारा प्रतिपादित भ्रम या मिथ्या का घोर प्रतिवाद किया है। उन्होने उक्त ग्रन्थ मे शकर के प्राय प्रमुख सिद्धान्तो का तर्कों द्वारा खण्डन किया है। शकर आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मिथ्यात्व–या भ्रमात्मक लक्षणो का वैसा ही खण्डन किया है जैसा कि द्वैताचार्य व्यासराज ने 'न्यायामृत' ग्रन्थ में किया है। मिथ्या के पंचलक्षणो के खण्डन मे माधवमुकुन्द ने जो तर्क दिये हैं वे सभी तर्क न्यायामृतकार के तर्क के समान हैं।

प्रपच जगत् की स्थिति का सत्यता के विषय मे हमने निम्बार्काचार्यों के विचारो को देखा है। प्रदर्शित विचारों से स्थिति स्पष्ट हो जाती है कि निम्बार्काचार्यगण जगत् की सत्ता के विषय मे क्या दृष्टिकोण रखते हैं। उनके अनुसार जगत् मिथ्या नहीं है, किन्तु खण्डनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि निम्बार्काचार्यगण मिथ्या शब्द से अलीक अर्थ लेते हैं। ऐसा करके निम्बार्काचार्यों ने शकर के साथ अन्याय किया है, क्योकि शंकरवेदान्त यह स्पष्ट घोषणा करता है कि 'मिथ्या' का अर्थ अलीक नहीं है, अपितु सदसत्–विलक्षण है। अलीकत्व का तो प्रश्न ही नहीं उठता। प्रश्न रह जाता है केवल त्रिकालाबाध्य ब्रह्म और उत्पत्ति–विनाशशील विकारी घटादि वस्तुमय जगत् का। इन दोनो को क्या एक श्रेणी मे रखा जाय या भिन्न–भिन्न श्रेणियों मे? निम्बार्क–वेदान्ती अलीक आकाशकुसुमादि के अतिरिक्त स्वतन्त्रस्वरूप ब्रह्म और परतंत्र तथा विकारादि से ग्रस्त जगत् को एक ही श्रेणी मे रखते हैं। ऐसा करके भी निम्बार्काचार्य को स्वतन्त्र और परतन्त्र सत्ता का विभाजन तो करना ही पड़ता है, क्योंकि निम्बार्क के अनुसार भी जीव–जगत् की सत्ता परतन्त्र सत्ता है, ब्रह्म की सत्ता स्वतत्र।[५७] सत्ताभेद न मानते हुए भी निम्बार्क यह मानते हैं कि जीव–जगत् ब्रह्म पर आश्रित हैं।[५८] जो आश्रित है उसकी सत्ता आश्रय की ही सत्ता है, फिर भी वह आश्रय के समान–श्रेणी का तत्त्व कैसे हुआ? कार्य जगत् ब्रह्म का परिणाम है। परिणाम विकार को कहा जाता

है। ब्रह्म स्वय अविकृत रहता हुआ परिणाम लाभ करता है। इससे तो ब्रह्म और परिणामी जगत् मे स्वभाव से महान अन्तर हुआ। जगत् मे देखा जाता है– जो परिणामी कारण बनता है वह विकृत होता है, जैसे दूध से दधि बनता है। एक बार जो दूध दधि के रूप मे परिणत हो जाता है, पुन· उस दधि से सार रूप मे विशुद्ध दूध नहीं निकल सकता, अत शकर मे कारण की विशुद्धता की रक्षा के लिये ही विवर्तवाद को माना गया है। विवर्तवाद के अनुसार कारण की शुद्धता मे वैसा ही प्रभाव नहीं पडता जैसा रज्जु–सर्प की अभिव्यक्ति से या प्रतीति से रज्जु की शुद्धता पर किसी प्रकार प्रभाव नहीं पडता। विवर्तवाद भी तो सत्कार्यवाद है, अत शकराचार्य ने आरम्भणाधिकरण मे वाचारम्भण श्रुति की व्याख्या करते समय सत्कार्यवाद का पूर्णरूप से निर्वाह किया है।[१५९] सत्कार्यवाद के अनुसार कारण से कार्य अन्य नहीं। यही कारण से कार्य की अनन्यव्याख्या शकराचार्य ने भाष्यटीकाओ मे दी है, और अनन्यतया कार्य कारण रूप से सत् है, ऐसा कहा गया है ऐसी ही व्याख्या उक्त आरम्भण सूत्र की निम्बार्कभाष्य मे की है, अत घटादि कार्य के कारणानन्यत्वेन अलीक मानने का प्रश्न शाकर वेदान्त मे नही उठता, ऐसी स्थिति मे निम्बार्काचार्यो का शकर के कार्य-कारणवाद मे आक्षेप अनुपन्न हो जाता है। जहॉ तक कारण से भिन्न रूप कार्य की बात है वह रज्जु–सर्पवत् मिथ्या है। कारण–भिन्नरूप से कार्य के मिथ्यात्व को निम्बाकाचार्य को भी स्वीकार करना पडेगा, क्योकि कारण से भिन्न स्वतन्त्ररूप कार्य व्यावहारिक जीवन मे भी दिखायी नहीं देता। मृत्तिका से भिन्न घटादि की उपलब्धि कैसे सम्भव हो सकती है? ब्रह्म से भिन्नरूप जगत् की उपलब्धि कैसे सम्भव है? यदि कारण मृत्तिका से एकान्त भिन्न घट को समझा गया तब ऐसी स्थिति मे उक्त घट कार्य को मिथ्या ही नहीं अलीक कहा जायेगा। ब्रह्माधीन नहीं, ब्रह्म से भिन्न स्वतन्त्र रूप से जीव–जगत् का अस्तित्व निम्बार्क वेदान्ती भी नहीं मानते या मान सकते, क्योकि वे सत्कार्यवादी (परिणामवादी) हैं। वेदान्तदर्शन निम्बार्कभाष्य के व्याख्याकार स्वामी सन्तदास बाबा ने स्पष्ट कहा है कि "ब्रह्म से भिन्न एव स्वतन्त्र वस्तु कह कर जो बोध है वही भ्रम और मिथ्या है। ब्रह्मज्ञान होने से यह भ्रम विनष्ट होता है और जगत् ब्रह्म ही है, ऐसा बोध होता है।"[१६०] उन्होंने आगे और भी जोर देकर कहा है कि जगत् ब्रह्म भिन्न है, ऐसा समझना ही भ्रम है। 'ब्रह्म से भिन्न रूप से जगत् का अस्तित्व ही नहीं है।' वाचारम्भरण श्रुति द्वारा यही उपदिष्ट हुआ है।[१६१] इस प्रकार निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य ही इस बात को स्वीकार करते हैं कि कारणव्यतिरेक कार्य मिथ्या है। यही बात अद्वैत में कही गयी। अद्वैत का भी यही तात्पर्य एवं कथन है कि कारण–व्यतिरेक कार्य मिथ्या है। शंकरभाष्यरत्नप्रभाकर ने इसलिये कहा है 'कार्यस्य

कारणादभिन्नसत्ताकत्वम्' कारण से कार्य की सत्ता अभिन्न है। इसी प्रकार न्यायनिर्णयकार ने भी कहा है— कि कारण के भाव होने पर ही कार्य का भाव होता है, अत. कारण से कार्य अनतिरिक्त है। निरपेक्ष और सापेक्ष मे शकर ने सत्ताभेद स्वीकार किया है, क्योंकि निरपेक्ष ब्रह्म के साथ सापेक्ष के स्वभाव का मेल नहीं खाता है। इसीलिए सापेक्ष की व्यावहारिक सत्ता और निरपेक्ष की पारमार्थिक सत्ता मानी गई, अत आचार्य शकर ने कभी भी व्यावहारिक वस्तुओ को अलीक नहीं कहा है। निम्बार्क जिसे परतत्र सत्त्व कहते हैं, उसी को शकर ने मिथ्या शब्द से अपने दर्शन मे अभिहित किया है।

अरविन्द :

श्री अरविन्द के अनुसार सत् सवोपरि और शाश्वत है। यह असीमित और अपने स्वरूप मे अप्रमे है सीमित मन उसे नहीं जान सकता है।[९२] श्री अरविन्द ने सर्वांगाद्वैत तत्त्व ब्रह्म को मानकर जगत् की व्याख्या अपने अनुसार की है। 'दिव्य जीवन ग्रन्थ' मे श्री अरविन्द ने विशुद्ध आत्मनाद और विशुद्ध जडवाद दोनो का प्रत्याख्यान किया है। अपने स्वरूप मे ब्रह्म विषय–विषयीभाव से परे हैं, फिर भी अरविन्द के अनुसार जो कुछ भी है वह सब समग्ररूप से ब्रह्म के अन्दर ही है। काश्मीर शैव–दर्शन के ही समान श्री अरविन्द भी परम–सत् मे विकृति को स्वीकार किये बिना ही जगत् की व्याख्या देते हैं। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार एकमात्र शिव ही परमतत्त्व है। इस दर्शन को प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी कहते हैं। वह परमतत्त्व एक है, वह द्वितीयरहित है। परमशिव स्वतन्त्र हैं। वह सत् और चित् है। सम्पूर्ण विश्व परमशिव के अन्दर है, अत शिवमय ही सम्पूर्ण विश्व है।[९३] श्री अरविन्द के अनुसार विषय–विषयीरूप सम्पूर्ण सृष्टि सत् कारण मे पहले ही से विद्यमान थी, क्योंकि कारण में जो वस्तु नहीं है, उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अतः श्री अरविन्द सत्कार्यवादी हैं।[९४] सत्कार्यवाद मे कारण व्यतिरिक्त कार्य नहीं माना जाता है। श्री अरविन्द अपने समग्राद्वैत सत् के सिद्धान्त को औपनिषदीय सिद्धान्त कहते हैं। उपनिषदों मे श्री अरविन्द के अनुसार केवल निषेधात्मक पद्धति से ही ब्रह्म का वर्णन नहीं है, अपितु भावात्मक पद्धति से भी वर्णन है।[९५] श्री अरविन्द ने 'सर्व खल्विदं–ब्रह्म' की व्याख्या के द्वारा नानात्व को समग्रात्मक परमतत्व के अन्तर्भूत करके उसको निषेध की स्थिति से निकालना चाहते हैं। इसी कारण अरविन्द ने शंकर के जगत्–मिथ्यात्व का प्रत्याख्यान किया है। अरविन्द का कहना है कि विषय–विषयी में से विषय को भ्रम कहने पर विषयी भी भ्रम हो जायेगा, क्योंकि दोनों एक दूसरे के सापेक्ष हैं, इसी कारण अरविन्द

ने विषयनिष्ठ विज्ञानवाद का प्रत्याख्यान किया है। अरविन्द को शकर के द्वारा दी गई जगत् की व्याख्या न करके उसकी उपेक्षा कर दी गई है। श्री अरविन्द ने शाकरवेदान्त मे स्वीकृत माया या अविद्या का प्रत्याख्यान किया है। माया या अविद्या के विरुद्ध दिये गये उनके तर्क नये नहीं हैं, क्योकि रामानुज ने श्रीभाष्य मे वे तर्क शकर के मायावाद के विरूद्ध प्रस्तुत किये थे।

श्री अरविन्द के अनुसार कार्य–जगत् कारण रूप से सत् और सत्–कारण से होने के कारण कार्यरूप मे भी कार्य जगत् सत् हैं। सत् से निकली हुई वस्तु असत् नहीं हो सकती। 'सत् से निकली हुई वस्तु' इसी पर शकर–वेदान्ती ने आपत्ति उठाई है, क्योकि शाकर–वेदान्त मे सत् की कूटस्थता एव एकत्व बनाये रखने के लिए कार्य–जगत् को सत् से निकला हुआ न कह कर सत् का विवर्त कहा गया है। शकर सत् कार्यवादी होने पर भी विवर्तवादी हैं।

विवर्तवाद के अनुसार कार्य कारणाभिन्न है अर्थात् परमार्थत कार्य कारण ही है। व्यवहार में कार्य कारण से भिन्नतया प्रतीत होने लगता है, अत कारण भिन्न होने से कार्य मिथ्या है, प्रातीतिक है। कारण ज्ञान से बाध्य है। इस प्रकार शाकरवेदान्ती भिन्नरूप से प्रतीत कार्य–जगत् का नेति–नेति करके निषेध करते हैं, और शाकरब्रह्म की सिद्धि हो जाती है। अरविन्द समग्रग्राही परम सत् के अन्दर कार्यजगत् को उसके गुण के रूप मे स्थापित कर देते हैं, साथ मे गुण परमसत् सम्बन्धित है किन्तु परम सत् को गुण सीमित नहीं कर सकते। परम सत् मे गुणमय जगत् अर्थात् कार्यमय जगत् का निषेध करने पर अरविन्द के अनुसार वह सीमित हो जायगा, क्योंकि निषेध और विधान दोनो ही परम सत् को सीमित करते हैं।[१६६] शकर वेदान्त के अनुसार परमार्थत· परम–सत् ब्रह्म मे नानात्व या किसी प्रकार का भेद नहीं हो सकता, क्योकि ऐसा मानने पर अद्वैत की सिद्धि नहीं होगी। अरविन्द परम–सत् मे निर्गुणत्व–सगुणत्वादि विरूद्ध धर्मो को स्वीकार करते हैं। एक ही सत् वास्तविक अर्थ में सृष्टि मे अनुस्यूत और उससे परे भी है। शांकर वेदान्त के अनुसार ब्रह्म में पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टिकोणों के भेद से जगत् कारणत्व और कारण–कार्यभावातीतत्व भी रह सकते हैं। एक ही दृष्टिकोण से विरुद्ध धर्मो को परम सत् मे मानने पर तार्किक विरोध नियम का उल्लघन होता है। अरविन्द का कहना है कि हमारा मन सीमित है। परम–तत्त्व का ज्ञान समग्ररूप से हमारे मन को नहीं हो सकता, इसी कारण सीमित मन की दृष्टि से वहाँ पर विरूद्ध धर्मो का कथन स्वविवरोधी लगता है। अतिमानस तत्त्व तक पहुँचकर देखने पर वहाँ सभी चीजों का समन्वय दिखाई देगा, कोई विरोध उस स्थिति में नहीं रहेगा। अतिमानस की स्थिति से देखने पर विरोधों का अन्त हो जाता है।

अरविन्द के अनुसार अतिमानस द्वारा ज्ञान साधारण मन के ज्ञान का बाध कर देता है, और तब समग्र परम–सत् का ही दर्शन होता है। यदि अतिमानस ज्ञानावस्था मे विश्वदर्शन की स्थिति बदल जाती है तब उसके द्वारा जागतिक अन्य ज्ञानो के बाध होने पर उस दृष्टिकोण से मन द्वारा देखा गया जगत् असत्य हो जाता है। इस प्रकार शाकर के ही समान अरविन्द का अतिमासतत्त्व एक प्रकार पारमार्थिक दृष्टि ही है। अरविन्द परमसत् सच्चिदानन्द के विचार द्वारा जगत् के विकास की व्याख्या देना चाहते हैं। जबकि शकर के दर्शन मे जगत् को व्यावहारिक सत्य या पारमार्थिक मिथ्या मानने पर भी विकास की व्याख्या हो जाती है।

पाद-टिप्पणी

१ ऋग्वेद सहिता १०/११/१६१/१ चतुर्थ खण्ड/मैक्समूलर स० चौखम्भा, वाराणसी १६६६।

२ जगतो मूलकारण तदसच्छशविषणवन्निस्याख्य नासीत् उभयविलक्षणमनिर्वाच्यमेवासीत्/ऋग्वेद सहिता · १०/११/१२६/१ चतुर्थ खण्ड सायण भाष्य/मैक्समूलर सम्पा० चौखम्भा सस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, १६६६।

३ वही–१०/११/१२६/१३६।

४ परमात्मा प्रतिरूप प्रतिबिम्बरूप सन् सर्वाणि शरीराणि बभूव। ऋग्वेद सहिता, ६/४/४७/१८ चतुर्थ खण्ड सायण भाष्य।

५ छान्दोग्योपनिषद् शकरभाष्य आनन्दगिरि टीका ८/३/१ आनन्दाश्रम, पूना १८६०/पृ० ४२०।

६ छान्दोग्योपनिषद् शाकरभाष्य, ६/४/१ पृ० ३१६ आनन्दाश्रम पूना, १८६०

७ वही ६/२/१ पृ० २६७, २६८

८ वही ७/२४/१ पृ० ६०, ४००

६ मुण्डकोपनिषद् भाष्य २/२/११ पृ० ३३, ३४ आनन्दाश्रम पूना, १८६६ श्वेताश्वतरोपनिषद भाष्य ४/१० पृ० स० ५७/आनन्दाश्रम, पूना, शकाब्द, १८११

१० बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य ४/४/१६ पृ० ६८२/आनन्दाश्रम, पूना, १६२७

११ महायान सूत्रालकार–पृ० ६३/असग/सम्पा० एम० लेवी, पेरिस १६०७

१२ विशिका–पृ०–१

१३. विज्ञप्तिमात्रमेवेदसदर्थावभासनात्/यदवत् तैमिरिकस्यास्त केशोण्डूकादिदर्शनम्। १ कारिका–१, पृ०–१

१४ माध्यमिकशास्त्र–प्रसन्नपदा टीका–१६१

१५ असन् गौरश्शवात्मना अनश्वो गौरसन्नश्वो गवात्मना न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका, पृ० ४३०, तथा ४३१

१६ छान्दोग्यभाष्य–६/२/१

१७ ब्रह्मसूत्रभाष्य–५५७ (नियज सागर) १६३८

१८ बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन–द्वितीय भाग, पृ० १०३२ (उद्धृत)

१६ भूत न जायते किंविंदभूत नैव जायते। विबदन्तो द्वया द्ववेषमजाति ख्यापयन्ति ते/गौड़पाद का० ४/४ पृ० १५६

२० वैतथ्य सर्वभावना स्वप्न आहुर्मनीषिण . / माण्डूक्यकारिका २/१ पृ० ६५/गौड़पाद आनन्दाश्रम पूना, १६२१

२१. चित्तकाला हि ये अन्तस्तु द्वयकालाश्च ये बहि·। मा० कारिका २/१४, पृ० ७६

२२ भाष्य भामती, पृ० १०

२३ ब्रह्मसूत्रशाकरभाष्य, पृ० १६

२४. पचपादिका० पृ० २६

२५ भाष्यभामती पृ० १६ निर्णय सागर, बम्बई, १६३८
२६ ब्रह्मसूत्रशाकरभाष्य, पृ० १७–१८ निर्णय सागर १६३८
२७ भाष्यभामती, पृ० १८, १६, ३० निणर्य सागर, १६३८
२८ अवसाद उच्छेद अवमाने यौक्तिकतिरस्कार । वेदान्तकल्पतरु, पृ० ११८, निर्णय सागर, १०३८
२६ अध्यासो मिथ्येति। ब्रह्मसूत्रशाकरभाष्य, पृ० १५
३० तत्र पूर्वदृष्ट स्वरूपेण सदप्यारोपणीयतयानिर्वाच्यमनृतम्। आरोपविषय सत्यमाह परत्रेति। भाष्यभामती–पृ० १८
३१ सत्यानृते मिथुनीकृत्य। ब्रह्मसूत्रशाकरभाष्य–पृ०१८
३२ अद्वैतसिद्धि–मधुसूदन, निर्णय सागर, १६१७
३३ वेदान्तकल्पतरु, पृ० १६
३४ असनिधान चारोप्यस्याधिष्ठाने परमार्थतोसत्व न देशान्तरसत्वमिति नापसिद्धान्त । अथवा सनिधानेन सत्ख्यातिरिह वारिता। वेदान्त–कल्पतरु पृ० १६, २१
३५ कल्पतरू–परिमल पृ० २०
३६ स्मृते रूपमिव रूपमस्य, न पुन स्मृतिरेव। पचपादिका, पृ० ४१
३७ अदृष्टादिसमुद्बोधितसस्कारविशेषसहकार्यनुरूप मिथ्यार्थविषय ज्ञानमुत्पादयति। पचपादिका, पृ० ५६ (मद्रास १६५८)
३८ पचपादिका, पृ० १०० (मद्रास १६५८)
३६ अत्र परत्रावभास इत्येव लक्षणम्। शिष्ट पदद्वय तदुपपादनार्थम्। भाष्यरत्नप्रभा, पृ० १८
४० अवभास्यत इत्यवभासो रजताद्यर्थ. तस्यायोग्यमधिकरण परत्रपदार्थ । वही।
४१ ब्रह्मसूत्रशाकरभाष्य, पृ० ३२
४२ भाष्यरत्न प्रभा, पृ० १८
४३ सामान्यत ख्याति का अर्थ होता है ज्ञान, लेकिन व्यवहार मे भारतीय दर्शन मे भ्रम के सिद्धान्तो को ख्यातिवाद कहा गया है। यहाँ पर इसका प्रयोग इसी अर्थ मे हुआ है कि भ्रम विषयो की जानकारी किस प्रकार होती है।
४४ न्यायभूषण पृ० २६, २७
४५ प्रमेय कमल मार्तण्डकार प्रभाचन्द्र ने अख्यातिवाद को चार्वाक का मत बतलाया है। साख्य भास्करादि को प्रसिद्धार्थख्यातिवादी एव प्रभाकर को स्मृति प्रमोषख्यातिवादी कहा है।
प्रमेयकमलर्माण्ड, पृ० ४८, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १६४१
४६ ननु किमिदमनिर्वचनीयत्व कि निरुक्तिविरह, कि वा निरुक्तिनिमित्तविरह? तत्त्वप्रदीपिका, पृ० ७५
४७ रजतादिज्ञानस्य निरुक्तिनिमित्तस्य मायावादिभिरभ्युपगमात्। तत्त्वप्रदीपिका, पृ० ७५
४८ अद्वैतसिद्धि, पृ० ६२०, ६२१
४६ न्यायमकरन्द, पृ० १११, आनन्दबोध, चौखम्बा, १६०७
५० तत्वप्रदीपिका, पृ० ७६
५१ सत्वेवासत्वेन च विचारसहत्वे सति सदसत्वेन च यद्विचार न सहते तदनिर्वाच्यम्। वही
५२ बाधो हि नाम प्रतिपन्नोपाधावभावबोधनम्। तत्वप्रदीपिका, पृ० ७८
५३ अद्वैतसिद्धि, पृ० ६११
५४ It is obviously absurd to characterise it as both for that would go against the law of contradiction Istasiddhi, introduction. xxiv, Baroda. 1933.
५५ बाध्यत्वमेव लक्षणमस्तु, अद्वैतसिद्धि., पृ० ६२६
५६ न्यायमकरन्द, पृ० १२४. १२५
५७ न्यायमकरन्द, पृ० ११६
५८. न्यायमकरन्द, पृ० ११७, ११८
५६. विमत रूप्यादि सच्चेन्न बाध्येत, असच्चेन्न प्रतीयेत, बाध्यते प्रतीयतेऽपि, तस्मात् सदसद्विलक्षणत्वादनिर्वचनीयम्। अद्वैतसिद्धि, पृ० ६३

६० न्यायमकरन्द, पृ० २२४

६१ अद्वैतसिद्धान्तविद्योतन–पृ० २५, ब्रह्मानन्द सरस्वती, सरस्वती भवन, बनारस, १६३४

६२ भामती एव वेदान्तकल्पतरुपरिमल–पृ० २३, २४, इष्टसिद्धि, पृ० ३६

६३ तस्माद् भ्रमस्थले रजतादिक जायते इत्यवश्य वाच्यम्। अद्वैतसिद्धान्तविद्योतन पृ० २५, २३

६४ तस्मादवश्यप्रतिषेध्यप्राप्तये विपरीतख्यातिरुपासनीया। ब्रह्मसिद्धि, पृ० १४३, मण्डनमिश्र मद्रास, १६३७
वेदान्तप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञा (मण्डन प्रस्थान परीक्षा) पृ० १६१, सच्चिदानन्द–सपादक, नरसी–पुरम १६६४
विभ्रमविवेकभूमिका, पृ० 11 भी

६५ स्वरूपेण मरीच्यम्भो मृषा वाचस्पतेर्मतम्।
अन्यथाख्यातिरिष्टास्येत्यन्यथा जगृहुर्जना ।। वेदान्तकल्पतरु, पृ० २४

६६ वेदान्तप्रक्रिया प्रत्यभिज्ञा (मण्डन प्रस्थान परीक्षा), पृ० १६१

६७ श्रीभाष्य, पृ० ११६–६७

६८ पारमार्थिक सत्व नाम कश्चिद्धर्मस्त्वयेष्यते तस्य निर्धर्मकत्वेन त्वयागीकारात्। – यती० दीपिका, प्रकाश ११।

६६ विषयगतो दोष कारणमिति चेत्स कि विषयमात्रनिष्ठो विषयपुरुषोभय निष्ठो वा। – यती० दीपिका, प्रकाश ११

७० आद्ये पुरुषस्य सर्वथा निर्दोषत्वेन भ्रमासभव।
अन्त्ये तूभयनिष्ठ दोषस्य केवलविषये कार्योत्पादकत्वा सभव। – यती० दीपिका, प्रकाश ११

७१ प्रकारण पजिका ४११, शालिकनाथ, चौखम्भा, १६०३

७२ न चैष रजतस्य निषेध नचैदन्ताया किन्तु विवेकाग्रहप्रसजितस्य रजतमिदमिति रजतव्यवहारस्य। भामती, पृ० २६

७३ नहिरजतनिर्भासस्य शुक्तिकालम्बन युक्तम् अनुभवनिरोधात, न खलु सत्तामात्रेणालम्बनम् अतिप्रसगात इत्यादि भामती, पृ० २७

७४ भामती, पृ० २७, न्यायमकरन्द, पृ० ६०

७५ तथा च–यथार्था सर्वे विवादास्पदीभूता प्रत्ययया प्रत्ययत्वात्सप्रतिपन्नसमीचीनप्रत्ययवद्। न्यायमकरन्द, पृ० ६५
सर्वज्ञान समीचीनमास्थेयम्–भामती, पृ० २७

७६ ब्रह्मसूत्र शकर भाष्य भामती, पृ० २७

७७ तथा च रजत इदमिति च द्वे विज्ञाने स्मृत्युभवरूपे। भामती पृ० २७

७८ वेदान्तकल्पतरु, पृ० २७

७६ रजतमिदमिति नैक ज्ञान किन्तु द्वे एते विज्ञाने। प्रकरणपजिका–५। पृ० ४३

८० सर्वदर्शनसग्रह, पृ० ८१६

८१ प्रकरणपजिका ४/४८–५१, भामती, पृ० २७

८२ यथार्था, सर्वे विप्रतिपन्ना सदेहविभ्रमा, प्रत्ययत्वात् घटादि प्रत्ययवत्। भामता, पृ० २७, सर्वदर्शनसग्रह, पृ० ८२३
विवरण प्रमेयसग्रह, पृ० ६८–६६

८३ अस्ति तावद्रजतार्थिनोरजतमिदमिति प्रत्ययात्पुरोवर्तिनि द्रव्ये प्रवृत्ति–तदेतन्न तावदग्रहणस्मरणयो स्तद्गोचरयोश्च मिथो भेदाग्रहमात्राद्भवितुमर्हति भामती, पृ० २७,२८

८४ सर्वदर्शनसग्रह, पृ० ८२४

८५ नाऽपि रजत स्मरण पुरोवर्तिनि प्रवृत्तिकारणम्, तस्यानुभव पारतन्त्र्यतयानुभवदेश एव प्रवर्तकत्वात्। वही

८६ शकर के अनुसार सुषुप्ति में भी अज्ञान की ख्याति होती है, अत दोष यह दोष परमत के अनुसार दिया गया है। विवरणप्रमेय सग्रह टिप्पणी, पृ० १०२

८७ केयमख्याति. इति, न तावत्ख्यात्यभावमात्रम्, अनम्युपगमादतिप्रसगाच्च। पंचपादिकाविवरण, पृ० १३१, मद्रास १६५८ सुषुप्तेभ्रमप्रसंगात् जाग्रतश्च असम्भवात् नायंपक्ष. सम्भवति। विवरणतात्पर्यदीपिका, पृ० १३१, मद्रास १६५८

८८ अन्यार्थिनोऽन्यत्र प्रवृत्तिहेतु. ज्ञानमिति चेत् यत्र तर्हि न प्रवृत्ति झटिति बाधश्च तत्र कथं भ्रान्तिः। वही

८६ प० विवरण, पृ० १३२, १३३ (मद्रास)
विवरण प्रमेयसग्रह, पृ० १०४, १०५

९० नेद रजतम् इति प्रसक्तप्रतिषेधरूपा प्रतीति नाग्रहणेऽवकल्पते प्रसगाभावात्। न खल्वग्रहण कस्यचित् प्रसजकम्, अभावो हि स। ब्रह्मसिद्धि, पृ० १४३

९१ भामती, पृ० २८

९२ भामती, पृ० २८

९३ न हि गोसदृशोगवय इति ज्ञान गवार्थिन गवये प्रवर्तयति, भामती, पृ० २८
नोखलु गोसन्निभे गवय इत्यवभासो गवार्थिनागवये व्यवहारकारणभाव भजते, न्यायमकरन्द, पृ ६८

९४ जानाति, इच्छति तत प्रवर्तते इति न्यायेन ज्ञानेच्छा–प्रवृत्तीना समानविषयत्वेन भावयम्। सर्वदार्शन सग्रह, पृ० ८२६

९५ न्यायमकरन्द, पृ० ७१

९६ वही, पृ० ७१

९७ विवादाध्यासित रजतविज्ञा पुरोवर्तिवस्तुविषय रजताथिनस्त्रनियमेन प्रवर्तकत्वादुभयवादास्पदरजतविज्ञानवत्। न्यायमकरन्द–पृ० ७१। भामती पृ० २८–३०

९८ सर्वदशनसग्रह, पृ० ८३३, ८३४

९९ दावदहनदग्धवेत्रबीजादपि कदलीकाण्डोत्पत्तिदर्शनात्। न्यायमकरन्द, पृ० ७५

१०० भस्मकदोषदूषितस्य जाठरजातवेदसो बहुतराहारदादहहेतारुपलम्भात्। न्यायमकरन्द, पृ० ७५

१०१ सर्वदर्शनसग्रह, पृ० ८३७, भामती, पृ० ३०

१०२ भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० ३१७ (आग्ल चतुर्थ सस्करण–हिरियन्ना, एलेन एण्ड अनविन, १९५८)

१०३ यदि भिन्नयो सतोरभेदेन ग्रहण, सदा विपरीतख्याति स्यात्–न्यायभूषण, पृ० २९

१०४ न्यायभूषण, पृ० २५

१०५ वाचस्पति मिश्र के अनुसार भ्रम का यह लक्षण न्याय के अनुसार है। भाष्यरत्न–प्रभाकर गोविन्दानन्द एवन्यायनिर्णयकार आनन्द गिरि के अनुसार उक्त भ्रम का लक्षण शून्यवादी बौद्धों के अनुसार है। गोविन्दानन्द एव आनन्द गिरि ने विपरीत शब्द का अर्थ सत्विपरीत किया है। वाचस्पति ने 'विपरीत' शब्द का अर्थ अन्यवस्तु का धर्म किया है। भाष्यरत्न प्रभा–भामती न्याय निर्णय पृ० २२, २३। सभी मतो के कुछ अशो मे समानता ही उक्त मतभेद का कारण है। 'विपरीत' शब्द का अर्थ विरुद्ध करने पर रत्नप्रभाकर का मत समीचीन लगने लगता है, किन्तु विपरीत शब्द का प्रयोग अन्यथाख्याति के लिए प्रभाचन्द्र नेप्रमेयकमलमार्तण्ड मे विपरीतख्याति का प्रयोग किया है।–पृ० ५२, अत आचार्य के उक्त लक्षण की व्याख्या मे हमने वाचस्पति का ही अनुसरण किया है।

१०६ यत्रशुक्तिकादौ यस्य रजतादेरध्यासस्तस्यैव शुक्तिकादेर्विपरीतधर्मकल्पना रजतत्वधर्मकल्पनामितियोजना– भामती–३०।

१०७ न्यायमकरन्द, पृ० ८१, ८२

१०८ न्यायमतानुसार किसी भी सविकल्पकज्ञान मे ये तीन भाग होते हैं विशेष्य, विशेषण (प्रकार), ससर्ग (सम्बन्ध) जैसे 'घटवत् भूतलम्' इसमें भूतलविशेष्य, घट विशेषण या प्रकार और दोनो में जो सयोग सम्बन्ध है, वह ससर्ग है

१०९ वेदान्ततत्वविवेक, पृ० ६०, नृसिंहाश्रम, नारायण शास्त्री सम्पा० मैसूर, १९५५

११० अद्वैतसिद्धान्तविद्योतन टीका, पृ० १

१११ तर्कसंग्रह, पृ० १५, १६, अन्नंभट्ट, मुरादाबाद, स० १९०७

११२ विवादपद रजताकारेणावभासते तदर्थिनो नियमेन प्रवृत्तिविषयत्वाद् यदित्थ तत्तथा यथोभयवाद्यविवादस्पद रजतम्। न्यायमकरन्द, पृ० ८३, ८४

११३ इष्टसिद्धिकार ने इष्टसिद्धि के तृतीय और पचम अध्याय में ब्रह्मानन्द सरस्वती ने अद्वैतसिद्धान्तविद्योतन में अन्यथाख्यातिवाद का विस्तार रूप में प्रत्याख्यान किया है।

११४ केयमन्यथाख्याति? अन्याकारं ज्ञानमन्यालम्बनं वा, वस्तुनो वस्त्वन्तरात्मनावभासो वा, अन्यथा परिणते वस्तुनि ज्ञान वा? पचपादिकाविवरण, पृ० १४४। (मद्रास १९५८)

११५ वही, पृ० १४४। (मद्रास १६५८)
११६ प० विवरण, पृ० १४६ से १५०। (मद्रास १६५८)
११७ देशान्तरीयरजतस्य क्लृप्तस्यैव तद्विषयत्वसभवात् इतिचेत्
न तस्यासन्निकृष्टतया प्रत्यक्षविषयत्वायोगात्, वेदान्तपरिभाषा, पृ० ५४
११८ न हि विशेषणसप्रयोग बिना विशिष्टप्रत्यक्ष सभवति–विवरणभावप्रकाशिका, पृ० १४२, मद्रास, १६५८
११६ न च ज्ञान सस्कारोवा प्रत्यासत्तिरिति वाच्यम्। वेदान्ततत्वविवेक, पृ० ६३
१२० पर्वतादौ विशेषणेन्द्रियसन्निकर्षातिरिक्तवहि्नविशिष्टप्रत्यक्षसामग्र्यास्सत्वेनानुमित्यनुत्पादप्रसगात्। प० विवरणभावप्रकाशिका, पृ० १४२ (मद्रास १६५८)
१२१ समानेविषयेप्रत्यक्षसामग्र्यी बलवत्वात् प० विवरण भा०, पृ० १४२ (मद्रास १६५८)
१२२ भ्रमरूपविशेषदर्शनात् पुरुषत्वादि भ्रम इव पर्वते भ्रमरूपपरामर्शानन्तर चाक्षुषवहि्नभ्रमप्रसगाच्च। प० विवरण भावप्रकाशिका, पृ० १४२ (मद्रास १६५८)
१२३ वेदान्ततत्वविवेकदीपन, पृ० ६६, ६८ नारायण शास्त्री स० मैसूर
१२४ दोषोऽपि न रजताशज्ञाने हेतु तस्ययथार्थत्वात् यथार्थज्ञाने दोषस्याहेतुत्वात्। प० वि० भा० प्रकाशिका, पृ० १४३, १४४ (मद्रास १६५८)
१२५ अन्याकारज्ञानस्यान्यालम्बनत्वे सविदविरोधात्। वेदान्ततत्वविवेक, पृ० १०२
१२६ इदकारास्पदस्यानिर्वाच्यरजततावभासगोचरभानाभ्युपगमात् सिद्धसाधनम्। न्यायमकरन्द, पृ० ६८
१२७ सर्वथाऽपि तु अन्यस्य अन्यधर्मावभासता न व्यभिचरति, ब्र० शा० भाष्यभूमिका, पृ० ३२
१२८ वेदार्थपरिजात (करपात्री जी) पृ० ८८
१२६ यथार्थ सर्वविज्ञानमिति वेदविदामतम्, श्रुतिस्मृतिभ्य सर्वस्य सर्वात्मत्वप्रतीति । श्री भाष्य, पृ० १६८
१३० तृवृतकरणमेवहि प्रत्यक्षेणोपलभ्यते, यदग्नेरोहित रूप तेजसस्तदपासपि शुक्ल कृष्ण पृथिव्याश्चेत् अग्नावेव त्रिरूपता, श्रुत्यैव दर्शितानस्मात् सर्वे सर्वत्र सगता पुराणे चेवमेवोक्तम् वैष्णवे सृष्ट्युपक्रमे। श्री भाष्य, पृ० १६६
१३१ श्रीभाष्य (अविद्याभग) पृ० २६, रामानुज, गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, १६६७।
१३२ श्रीभाष्य (अविद्याभग) पृ० ३०, रामानुज, गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, १६६७
१३३ तदेवसदृश तस्य यत् तद्द्रव्यैकदेशभाक्। श्रीभाष्य (अविद्याभग प्रकरण) पृ० ३१
१३४ कदाचित्चक्षुरादेस्तु दोषाच्छुक्त्यशवर्जित, रजताशो गृहीतोऽतो रजतार्थी प्रवर्तते। श्रीभाष्य (अविद्याभग प्रकरण) पृ० ३१
१३५ श्रीभाष्य (अविद्याभग प्रकरण) पृ० ३५
१३६ भारतीय दर्शन (राधाकृष्णन्) खण्ड दो, पृ० ६७६
१३७ एकत्र सतोऽन्यात्रारोपत्व श्रमत्वम्, परपक्षगिरिवज्र–पृ० ५८ माधवमुकुन्द, वृन्दावन, स० १६६३
१३८ जायतेऽर्थोऽनेनेति ज्ञानम्–इष्टसिद्धि–पृ० १०५
१३६ पञ्चपादिका भूमिका–पृ० १०१, १०२ (मद्रास १६५८)
१४० विभ्रमविवेककारिका ४६, पृ० ५
१४१ द्विविध तत्त्व स्वतन्त्रपरतन्त्रभेदात्। सर्वदर्शन सग्रह–२४७
१४२ History of Indian Philosophy. Dasgupta. Cambrige University, 1949 [k.M & iv, P.-248-249
१४३ शाकरभाष्य ब्रह्मसूत्र, २२२८ (थीवो के अनुवाद के आधार पर)
१४४ शाकर भाष्य वृहदारण्यक, २१.२२०
१४५ वादावली–१५० (जयतीर्थ, मद्रास १६४३)
१४६ विमतो भेदो मुक्तौ न निवर्तते। वादावली १४६
१४७ न हि सत्यज्ञानेन मिथ्याज्ञान सम्भवति, सर्वदर्शनसग्रह–२७
१४८ सर्वदर्शनसग्रह–पृ० २८०
१४६. भारतीय दर्शन–राधाकृष्णन, द्वितीय खण्ड, पृ० ७५० (आग्ल स० १ लन्दन १६२७)

१५० A Cntical Survey of Indian Philosophy, Sharma-p -376

१५१ वेदान्तदर्शन–निम्बार्कभाष्य स्वामी सन्तदास जी की भूमिका–पृ० ३३ (इलाहाबाद १६८६ स०)

१५२ कार्यस्थ कारणानन्यत्वभस्ति नत्वत्यन्तभिन्नत्वम्–ब्रह्मसूत्र निम्बार्क भाष्य सू० २/१/१४

१५३ वेदान्त कौस्तुभ प्रभा सू० २/१/१४, केशवकाश्मीरी (दिल्ली १६३८)

१५४ वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, सू० २/१/१४

१५५ वेदान्तरत्नमजूषा–पृ० ६७

१५६ वेदान्तरत्नमजूषा–६५, पुरुषोत्तम (चौखम्बा १६०७)

१५७ A Cntical Survey of Indiaan Philosophy-p 377

१५८ भारतीय दर्शन द्वितीय खण्ड – पृ० ७५३, (रा०कृ० आग्ल स० लन्दन १६२७)

१५६ ब्रह्मसूत्रशाकरभाष्य – पृ० ४६२

१६० वेदान्तपारिजात–सौरभव्याख्या–भूमिका – पृ० २४ (सन्तदास)

१६१ वेदान्तपारिजात– पृ० सूत्र – २/१/१४, पृ० २८०

१६२ The Life Divine Vol II (I) P -41 (Calcutta, 1940)

१६३ शुद्ध तत्व परम शिवाख्य तत्र यदा विश्वमनुसन्धत्ते तन्मयमेव तत्। शिवसूत्रविमर्शिनी पृ० ३५, खण्ड–१। क्षेमराज काश्मीर स्टेट, ६१११

१६४ The Chief Currents of Contemporary Philosophy - P. 1661

१६५ The Upanishads not only describe Brahman by negation (neti] neti) but also declare positively - - - - All this is Brahman. The Chief Crrents of Contemporary Philosophy, P -162

१६६ The Life Divine, vol II (i)-P 42

तृतीय अध्याय

बौद्ध दर्शन के भ्रम की समीक्षा ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से

तृतीय अध्याय

बौद्ध दर्शन के भ्रम की समीक्षा: ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से

(वसुबन्धु, दिङ्नाग एवम् धर्मकीर्ति के अनुसार)

पिछले अध्याय मे हमने भारतीय दर्शन मे भ्रम के स्वरूप के विषय मे सक्षिप्त चर्चा की है। भारतीय दर्शन मे भ्रम का स्वरूप वेद और उपनिषद मे क्या है? अध्यास एवम् ख्यातिवाद की समस्या क्या है? तथा भ्रम की समस्या के सम्बन्ध में कुछ भारतीय मतो का सक्षिप्त निरूपण किया है। बिना अन्य दर्शनो के भ्रम को समझो हम बौद्ध दर्शन के भ्रम के विषय मे पूर्ण जानकारी नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इस तथ्य को ध्यान मे रखकर बौद्ध दर्शन मे भ्रम की समीक्षा के पूर्व अन्य दर्शनो मे भी भ्रम के संक्षिप्त निरूपण की चर्चा हमने की है।

प्रस्तुत अध्यास के अन्तर्गत भ्रम की समीक्षा के ज्ञानमीमासीय दृष्टिकोण को हम रखेगे। भ्रम की समस्या को समझने व जानने के पूर्व इस तथ्य की जानकारी अतिआवश्यक है। कि ज्ञान क्या है? ज्ञान का स्वरूप क्या है? ज्ञान की सीमाये क्या है? बिना यथार्थ ज्ञान हुए हमे यह कैसे ज्ञान हो सकता है कि भ्रम क्या है? और भ्रम क्या नहीं है? इसलिए बौद्ध दर्शन के भ्रम की समीक्षा के पूर्व इस तथ्य की जानकारी अति आवश्यक है कि ज्ञान क्या है? उस ज्ञान के कौन–कौन से स्रोत हैं, इस तथ्य की जानकारी करेगे।

ज्ञान का स्वरूप

सभी पुरुषार्थों की सिद्धि (अनिवार्यतः) सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती है, अतएव हम उसी तथ्य का वर्णन करने जा रहे हैं।[1] प्रस्तुत शब्दों के द्वारा आचार्य धर्मकीर्ति ने उस शस्त के अभिधेय तथा प्रयोजन की परिभाषा की है, जिससे इनका विषय सम्बद्ध है। सम्यग्ज्ञान ही सिद्ध ज्ञान, अर्थात् ऐसा ज्ञान होता है, जिसके बाद अध्यवसाय या निश्चय आता है, और उसके भी बाद पुरुषार्थसिद्धि। वह ज्ञान जो भ्रमित कर देता है, जो चेतन प्राणियों के लिए उनकी आकांक्षाओं और इच्छाओ का वचक होता है, मिथ्याज्ञान होता है। संशय और विपर्यय सम्यग्ज्ञान के विरुद्धधर्मी ज्ञान हैं। सशय, पुन., द्विप्रकारी होता है। यह या तो पूर्ण संशय होता है जो सर्वथा अज्ञान होता है, क्योंकि इसमें कोई भी अध्यवसाय या निश्चय सम्मिलित नहीं होता। परन्तु जब अर्थसंशय या अनर्थ–संशय होता है तब इसके बाद उसी प्रकार निश्चय और पुरुषार्थ आते हैं

जिस प्रकार के सम्यग्ज्ञान से पूर्व। एक कृषक को पहले से ही श्रेष्ठ उपज का निश्चय नहीं होता, परन्तु वह उसकी आशा करता है, और पुरुषार्थ करता है। उसकी पत्नी को पहले से यह निश्चय नही होता कि उसके द्वार पर भिक्षुक आयेगा और उस घर के लोगो के लिए उदि्दष्ट भोजन भिक्षुक को दे देना पडेगा। वह यही आशा करती है कि कोई नहीं आयेगा, और अपने पात्रो को चूल्हे पर चढा देती है।

आचार्य धर्मकीर्ति की भी परिभाषा आधुनिक मनोविज्ञान की परिभाषा से दूर नहीं है। मनोविज्ञान की मानसिक घटना के विज्ञान के रूप मे परिभाषा की गई है, और मानसिक घटना वह होती है, "भावी अभीष्टो के अनुसरण तथा उनकी सिद्धि के माध्यमो के विकल्पो मे उपलक्षित होती है।[2] इस भारतीय शास्त्र का विषयक्षेत्र केवल विज्ञानात्मक मानसिक घटनाओ, सत्य और विपर्यय, तथा मानवज्ञान के खोज तक ही सीमित है। विज्ञान के बौद्धसिद्धान्त का पर्याप्त महत्व है, क्योकि जिसे अह या आत्मा कहा गया है, उसे उसी सवेगात्मक अश से युक्त माना गया है। यह हमारे समस्त ज्ञान, प्रत्यक्ष, विकल्पों, धारणाओ, निश्चय तथा अनुमान के स्रोतो का अनुसन्धान करता है, और इसमे परार्थानुमान एव हेत्वाभासों का विस्तृत सिद्धान्त भी आता है।

विज्ञान का व्यक्त अश ही केवल अनुसन्धान या खोज का विषय है, अव्यक्त अश अनुसधान या खोज का विषय नहीं है। बौद्ध विचार मे केवल प्रमाणभूत विचारो का, उन विज्ञानो का ही अनुसन्धान करता है, जो तज्जनित पुरुषार्थ के द्वारा निरूपणीय होते हैं। नवजात शिशु तथा पशु केवल इन्द्रिय, प्रत्यक्ष और वासना (भावना) जो केवल प्राग्भवीया भावना[3] मात्र होती है, से युक्त होते हैं, किन्तु इनमे पूर्ण प्रमाण–भूत भावना नहीं होती। इस विषय पर आचार्य धर्मोत्तर ने अपने तर्क को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है।

सम्यग्ज्ञान दो प्रकार का होता है– प्रथमत. प्रमाण और द्वितीयतः प्रमाण–फल। प्रमाण स्वय ज्ञान–स्वरुप है।[4] विषय का ग्रहण साकृति विज्ञान के उदय से होता है।[5] यही आकृति प्रतिभास अथवा सारूप्य कही जाती है। यह विज्ञान की विषय प्रदर्शक स्थिति है। इसी के आधार पर विषय का निश्चय होता है, और यही निश्चय ही विषय की प्रमाण–जन्य प्राप्ति है। यही प्रमाणफल है। विषय के प्रदर्शन में जो ध्यान का आकर्षण होता है और जो निश्चय तक पहुँचता है, वही प्रवर्तन है। निश्चय अथवा अध्यवसाय विज्ञान को विषय–ग्राहक विज्ञान और उसकी ग्राह्य आकृति को विषय के रूप मे व्यवस्थित करता है। निश्चय अथवा अध्यवसाय शब्द सयोग के कारण विकल्प होता है। ग्रहण का स्वरूप है 'नील विज्ञान', अध्यवसाय का स्वरूप है

'नील का विज्ञान 'यह नील है' यह विज्ञान। विज्ञान का उन्मेष होता है नीलाकृति विज्ञान अथवा नील–प्रतिभास के रूप मे। अर्थात् एक ऐसे ज्ञान के रूप मे विषयोल्लेखिता होते हुए भी, स्फुटता और सारूप्य के होते हुए भी, परिच्छिन्नता और व्यवस्था नहीं होती है। यहाँ पर परिच्छिन्नता का अर्थ है विषयान्तर से व्यावृत्ति– पृथक्करण एवम् व्यवस्था का अर्थ है विषय और विज्ञान की ग्राह्य–ग्राहक रूप मे सबन्ध की व्यवस्था।

बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत ज्ञान के प्रभेद के ज्ञान के लिए इस सारणी को जानना आवश्यक होता है। इस सारणी के माध्यम से ज्ञान के यथार्थज्ञान या सम्यग्ज्ञान और मिथ्या ज्ञान के बारे मे ज्ञात होता है, कि ज्ञान के कितने प्रभेद हो सकते हैं। ज्ञान के प्रकार की सारणी अगले पृष्ठ पर प्रस्तुत की जा रही है।

अत बौद्ध दर्शन मे यथार्थ और ज्ञान के स्रोत को तीन प्रमुख भागो मे विभक्त किया जा सकता है, जो क्रमश ज्ञान की उत्पत्ति, उसके स्वरूप और उसकी वाचिक अभिव्यक्ति से सम्बद्ध है। इन तीन प्रमुख विषयों को इन्द्रिय–प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान कहा गया है, किन्तु ये हमारे वाह्यार्थ के आदि –स्रोत के रूप मे प्रत्यक्ष का, इस ज्ञान के रूप को उत्पन्न करने वाले स्रोत के रूप मे, बुद्धि का, और विज्ञानात्मक पद्धति की पूर्ण वाचिक अभिव्यक्ति के रूप मे परार्थानुमान का भी वर्णन करना अपेक्षित है। इस प्रकार इसके अन्तर्गत ज्ञानमीमासा का वर्णन करना अपेक्षित हो जाता है। बौद्ध दर्शन के भ्रम–विचार की समीक्षा के पूर्व उसके ज्ञानमीमासीय दृष्टिकोण का वर्णन किए बिना उसका भ्रम विचार पूर्ण नहीं हो सकता है। इसलिए आगे इसके ज्ञानमीमासीय दृष्टिकोण के बारे मे जानना अतिआवश्यक है।

ज्ञान का स्रोत क्या है

ज्ञान का स्रोत अविसवादक प्रमाण[1] होता है। जैसे यदि कोई मनुष्य सत्य बोलता है, और उसके शब्द बाद में अनुभव द्वारा मिथ्या नहीं सिद्ध होते तो हम सामान्य जीवन मे उसे सम्यग्ज्ञान का स्रोत कह सकते हैं। इसी प्रकार शास्त्र में भी सम्यग्ज्ञान का स्रोत या सम्यग्ज्ञान उसे कहते हैं जो अनुभव के द्वारा अविसवादक नहीं सिद्ध होता है। मनुष्य सम्यग्ज्ञान से प्रभावित होने पर क्रिया और अर्थ–सिद्धि करता है, और यह क्रिया और अर्थ–सिद्धि करते–करते एक ऐसे बिन्दु पर पहुँचता है, जो कि हमारे क्रियात्मक व्यवहार का बिन्दु होता है। इस प्रकार हमारे ज्ञान की तार्किकता और उसके व्यावहारिक सामर्थ्य के बीच एक सम्बन्ध स्थापित होता है। अत यह सम्यग्ज्ञान (प्रमाण) प्रापक ज्ञान होता है।[2]

ज्ञान के प्रकार
ज्ञान (प्रतिभास–विकल्पात्मक प्रत्यय–चतुष्टय–जनित चित्त–चैत्तात्मक)
सम्यग्ज्ञान
(नियत–विषयक, वस्तु–विषयक)
मिथ्याज्ञान
(अनियत विषयक अवस्तुविषयक)
अर्थक्रिया निर्भासक
(Experience as Fulfilment)
अर्थक्रिया-समर्थ वस्तु मे प्रवर्तक
(Knowledge as an instrument aiding action)
सशय
विपर्यास
अवस्तु–प्रतिभास
अवस्तु–विकल्प
इन्द्रिय विकार–जन्य प्रत्यक्षाभास
(धर्मकीर्ति के अनुसार)
विकल्प–जन्य प्रत्यक्षाभास
(दिङ्नाग के अनुसार)
शब्दमात्र जन्य
अनुमानाभास
(अविसवादक)
स्मृति
अपूर्व–विषयक
प्रमाण (प्रदर्शक, प्रापक)
प्रमाणफल =प्राप्ति
प्रत्यक्ष =वस्तुसाक्षात्कार, कल्पनापोढ अभ्रान्त
अनुमान =लिगजन्य ज्ञान, त्रिरूपलिग
इन्द्रियज्ञान
स्वसवेदन
मानस प्रत्यक्ष
योगि प्रत्यक्ष
स्वार्थ ज्ञानात्मक
परार्थ शब्दात्मक
साधर्म्यवत्
वैधर्म्यवत्
विध्यात्मक
प्रतिषेधात्मक
स्वभावानुमान
कार्यानुमान
दृश्यानुपलब्धि
अदृश्यानुपलब्धि सशयजनक
स्वभावानुपलब्धि
कार्यानुपलब्धि
व्यापकानुपलब्धि
स्वभाव-विरूद्धोपलब्धि
विरूद्ध कार्योपलब्धि
विरूद्ध व्याप्तोपलब्धि
कार्यविरूद्धोपलब्धि
व्यापक विरूद्धोपलब्धि
कारणोपलब्धि
कारण विरूद्धोपलब्धि
कारण विरूद्ध कार्योपलब्धि

यहाँ पर ज्ञान का स्रोत होने का वास्तविक अर्थ ज्ञान का कारण होना है। यह कारण दो प्रकार का हो सकता है, एक कारक और दूसरा ज्ञापक। यदि ज्ञान कारक कारण या भौतिक कारणता के अर्थ मे कारण हो तो यह मनुष्य को तत्सम्बन्धी क्रिया करने के लिए बलात् विवश कर देगा। परन्तु यह केवल ज्ञापन करता है, विवश नहीं करता, यह केवल मानसिक कारणत्व है।

इस प्रकार सम्यग्ज्ञान की इस परिभाषा से हमको इस बात का आभास होता है कि इसकी प्रकृति अनुभवात्मक प्रतीत होने वाली है। सम्यग्ज्ञान तो प्रतिदिन सम्यग्ज्ञान होता है। यह ज्ञान किसी परमसत्ता का विज्ञान नहीं, किसी वस्तु का उसी रूप मे विज्ञान नहीं जैसा कि उसका वास्तविक रूप होता है, अथवा बाह्यार्थ के सत् और असत् का विज्ञान नहीं। सामान्य तौर पर साधारण मनुष्य अपने दैनिक कार्यो मे बाह्य वस्तुओ का अपनी इन्द्रियो के द्वारा प्रत्यक्ष करता है और उसे इन वस्तुओ तथा अपनी इन्द्रियो के बीच एक अनिवार्य सम्बन्ध का निश्चय होता है।[६] अथवा वह व्यक्ति किसी दूरस्थ स्थान मे छिपी वाञ्छनीय वस्तु के लिग का प्रत्यक्ष करता है, और उसे उस छिपे अभीष्ट तथा प्रत्यक्ष होने वाले लिग के बीच अनिवार्य सम्बन्ध का निश्चय होता है, अत वह क्रिया करता है, और उसको सिद्धि होती है। इस प्रकार के सरल मनुष्य जिस ज्ञान को प्राप्त करना चाहते हैं उसमे एक तार्किक अनिवार्यता लक्षित होती है, और धर्मोत्तर का कथन है कि इसी ज्ञान का शास्त्र मे विचार किया गया है।

आचार्य चन्द्रकीर्ति का मत है कि परमार्थ सत् का ज्ञान केवल योगि–प्रत्यक्ष द्वारा हो सकता है।[९] इससे स्पष्ट होता है कि चन्द्रकीर्ति मात्र दैनिक जीवन के सरल न्याय के अतिरिक्त अन्य किसी भी तर्कशास्त्र की निरर्थक होने के रूप मे उसकी भर्त्सना करते हैं। परन्तु दिङ्.नाग का मत क्या है, इसका वर्णन हम अपने इस विश्लेषण के प्रसंग के आगे देखेंगे।

ज्ञान एवम् प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप

अविसवादक अनुभव की विशिष्टता के अतिरिक्त सम्यग्ज्ञान के माध्यम की एक अन्य विशिष्टता भी है। ज्ञान एक सर्वथा नवीन ज्ञान, अर्थात् अनधिगत अर्थ का अधिगन्तृ होता है। ज्ञान के प्रथम क्षण ही उस ज्ञान का प्रकाश प्रज्ज्वलित होता है। स्थायी ज्ञान या प्रमाण प्रत्यभिज्ञा है,[१०] यह ज्ञान अधिगत विषय के प्रथम प्रादुर्भाव के बाद के कुछ क्षणों में होने वाले उसके अभीक्ष्ण ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इसका निश्चित अस्तित्व होता है, किन्तु यह प्रमाण का एक पृथक् स्रोत नहीं है। "ऐसा क्यों है? यह प्रश्न करके आचार्य दिङ्.नाग का उत्तर देते हैं "क्योंकि कोई सीमा नहीं होगी।" अर्थात् यदि प्रत्येक ज्ञान को सम्यग्ज्ञान या प्रमाण का

एक पृथक् स्रोत मान लिया जाए तो इस प्रकार के प्रमाण के स्रोतो का कहीं अन्त नहीं होगा। स्मृति, प्रेम, घृणा इत्यादि उन अर्थो के प्रति चिकीर्षित होते है, जिनका ज्ञान हो चुका है, उन्हे प्रमाण का स्रोत नहीं माना जाता। हमारे इन्द्रियो का ज्ञेयत्व उस क्षण तक सीमित होता है, जब हमे किसी अर्थ की उपस्थिति सर्वप्रथम अधिगत होती है। उसके पश्चात् बुद्धि की सश्लेषणात्मक प्रक्रिया चलती है जो अर्थ के आकार या प्रतिमा का निर्माण करती है। परन्तु यह निर्माण कल्पना द्वारा उत्पन्न होता है, यह ज्ञान का स्रोत नहीं होता। यह प्रत्यभिज्ञा है, ज्ञान नहीं। मीमासक भी ज्ञान के स्रोत की यही परिभाषा देते हैं, अर्थात् प्रत्येक परवर्ती क्षण मे अर्थ तथा उसका ज्ञान एक नवीन काल द्वारा चरितार्थ होता है, लेकिन ये वस्तुत वही रहते हैं, वही बने रहते हैं। नैयायिक सम्यग्ज्ञान की इस परिभाषा को इस प्रकार समझाते हैं–"ज्ञान साधक कारणो मे जो साधकतम होता है, उसे प्रमाण कहते हैं"[११] उसी जगह पर बौद्ध–मत केवल अर्थो को क्षणो के रूप मे, घटनाओ के सूत्र के रूप में ग्रहण, तथा ज्ञान के दो भिन्न साधनो के रूप मे इन्द्रियो और बुद्धि के बीच एक तीव्र विभेद करता है। इन्द्रिया अधिगमन करती हैं, बुद्धि निर्माण करती है। इस प्रकार, प्रथमक्षण सदैव विज्ञान का क्षण होता है, इसमे उस बुद्धि की क्रिया को प्रज्ज्वलित कर देने की शक्ति होती है, जो स्वय अपने नियमो के अनुसार क्षणो का सश्लेषण करती है।[१२]

बौद्धो का मानना है कि हमको बाह्य जगत् मे ऐसा कोई ज्ञान नहीं प्राप्त होता है, जिसका उपर्युक्त सश्लेषण के साथ पर्याप्त अनुरूपता हो। लेकिन यदि कोई अर्थ अधिगत होता है, तो उस अर्थ–बोध के प्रथम क्षण के बाद एक स्फुट आभा प्रगट होती है। इन दोनो दशाओं मे बोध का प्रथम क्षण ही होता है, जो सम्यग्ज्ञान का, अर्थसवाद के स्रोत का, निर्माण करता है। अत जहाँ तक ज्ञान, नवीन ज्ञान– प्रत्यभिज्ञा नहीं का प्रश्न है, यह केवल एक क्षण होता है यही क्षण प्रमाण का, अथवा अर्थ की चरम यथार्थता तक पहुँचने वाले प्रमाण का वास्तविक स्रोत होता है।[१३] आगे हम इस तथ्य का वर्णन करेंगे कि यथार्थ ज्ञान का अनुभव कैसे होता है? एवम् यथार्थ ज्ञान का प्रमाण क्या है? बिना इस ज्ञान के हमे इसका ज्ञान नहीं हो सकता है कि यथार्थ क्या है, और इसका अनुभव कैसे होता है।

ज्ञान का प्रमाण क्या है?

यह कहा जा सकता है कि अनुभव ही यथार्थ ज्ञान का एकमात्र प्रमाण है, अतः स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि जो कारण–प्रमाण को उत्पन्न करते हैं, क्या वे ही साथ ही साथ उस प्रमाण के प्रामाण्य को भी उत्पन्न करते हैं?

इस समस्या को लेकर भारतीय दर्शन मे कुछ मत प्रस्तुत किए गये हैं। मीमांसको के अनुसार समस्त प्रमाण (ज्ञान) तत्वत यथार्थ ज्ञान ही होता है– उसमे स्वत प्रामाण्य होता है, क्योकि वह प्रमाण होता है, त्रुटिया भ्रम नहीं। उसे केवल दो मे ही अपवादात्मक रूप मे भ्रमज्ञान कहा जा सकता है– या तो उस समय जब वह किसी अन्य और तीव्र बोध द्वारा बाधित होता है।[१४] अथवा जब उसकी उत्पत्ति मे कारण दोष सिद्ध होता है, जैसे, एक– रगान्ध व्यक्ति को गलत रगो का बोध होना। इस सिद्धान्त की स्थापना की गई है कि ज्ञान स्वत प्रमाण होता है, उसके अप्रामाण्य की केवल मन की परवर्ती क्रियाओ द्वारा ही स्थापना की जा सकती है। आचार्य कमलशील का यह अभिकथन है कि "वेद के प्रामाण्य की स्थापना करने के लिए जैमिनीय यह मानते हैं कि सामान्य रूप से ज्ञान के उनके समस्त स्रोत स्वय सिद्ध होते हैं और भ्रम परवर्ती या अन्य कारणो से उत्पन्न होता है।"

बौद्धो का मत इस मत के विपरीत है। इनके अनुसार प्रमाण मे स्वय प्रामाण्य नहीं होता। तत्वत· यह अप्रामाणिक और भ्रामक होता है। यह केवल उसी समय प्रामाणिक बनता है, जब मानस की एक परवर्ती प्रक्रिया द्वारा इसका परीक्षण हो जाता है। सम्यक्ज्ञान या प्रमाण का प्रमाप उसकी प्रापकता है। सम्यक् ज्ञान ही प्रापक ज्ञान है।

नैयायिको का मत है कि ज्ञान स्वय अपने मे न तो प्रामाणिक होता है और न भ्रामक। यह केवल बुद्धि के एक परवर्ती विवेचन के कारण द्वारा प्रामाणिक या भ्रामक ज्ञान होता है। अनुभूति ही यथार्थ की प्रमा है, और यही दोष या अप्रमा की भी जनक है।[१५] इस प्रकार यथार्थ अथवा अप्रमा उन कारणो द्वारा उत्पन्न नहीं होते जो बोध उत्पन्न करते हैं, बल्कि बाह्य कारणो या परवर्ती अनुभव द्वारा उत्पन्न होते हैं।

अन्तत· जैन भी अपने सप्तभंगीमत और स्याद्वाद के सामान्य विचार के अनुसार ज्ञान स्वय अपने मे यथार्थ और अयथार्थ दोनो ही हो सकता है। यह सदैव ही कुछ सीमा तक यथार्थ होता है, और कुछ सीमा तक अयथार्थ।

उपर्युक्त विचारों के पश्चात् बौद्ध इस बात पर जोर देते हैं कि यदि एक विचार उत्पन्न हो जाता है, तो वह स्वय अपने में इस बात की स्थापना करने के लिए कदापि पर्याप्त नहीं है कि वह सत्य है और यथार्थ के अनुकूल है। इन सब परिस्थितियों का विवेचन तभी किया जाता है, जब उसे अनुभव के अनुकूल पाया जाता है,[१६] जब उसकी अर्थक्रिया का निश्चय हो जाता है,[१७] ऐसी स्थिति में ही हमको यह ज्ञान हो सकता है कि वह यथार्थ ज्ञान को व्यक्त करता है,

और तभी हम उसकी यथार्थता और अयथार्थता के विरुद्ध समस्त आपत्तियो का प्रतिवाद कर सकते है।

बौद्धो के अनुसार अनुभव ही हमारे ज्ञान का प्रमुख स्रोत है, और इस विषय पर बौद्धो का मत यथार्थवादी–सम्प्रदायो के अनुरूप है, फिर भी दोनो के बीच 'अनुभव' की प्रकृति को ग्रहण करने के विषय पर जो अन्तर है, वह बहुत अधिक है। भारतीय यथार्थवादी, जैसे, मीमासको, वैशेषिको और नैयायिको के अनुसार, ज्ञान की क्रिया अपने विषय–वस्तु से भिन्न होती है। इन सम्प्रदायो के अनुसार विज्ञान अथवा बोध की क्रिया को, जैसा कि वास्तव मे प्रत्येक अन्य क्रिया सम्बद्ध होती है, एक साधक, एक पदार्थ, एक उपकरण, और एक प्रक्रियात्मक प्रणाली से अवश्य सम्बद्ध होना चाहिये।[१८] जब एक लकडी काटनेवाला वन मे एक वृक्ष को काट देता है, तो वह एक साधक, वृक्ष, पदार्थ, कुल्हाडी, उपकरण, और कुल्हाडी का उठाना–गिरना प्रक्रियात्मक प्रणाली होती है। परिणाम इस तथ्य मे निहित होता है कि वृक्ष काट दिया गया। जब कोई व्यक्ति किसी रग को देखता है, तो उसकी आत्मा अथवा अह साधक होती है, रग पदार्थ होता है, दृश्य–इन्द्रिय उपकरण होती है और नेत्र से प्रकाशकिरण का निकल कर पदार्थ तक जाना और उसके आकार को ग्रहण करके आत्मा के पास लौट कर प्रभाव उत्पन्न करना प्रक्रियात्मक प्रणाली होती है। इन सभी तत्वो मे दृष्येन्द्रिय प्रमुख है,[१९] यही बोध या विज्ञान की प्रकृति का निर्धारण करती है, और इसे ही प्रत्यक्ष ज्ञान का स्रोत कहा गया है। यथार्थवादियो के लिए परिणाम सम्यक् ज्ञान है, किन्तु प्रतीत्य समुत्पाद की सामान्य धारणा के अनुसार बौद्ध कर्म और विज्ञान या बोध की तुलना के आधार पर निर्मित इस सम्पूर्ण निर्माण का प्रतिवाद करते हैं। यह केवल कल्पनामात्र है। इन्द्रियाँ होती हैं, और इन्द्रिय–ग्राह्य पदार्थ होते है, और विकल्प होते है, और इनके बीच एक क्रियात्मक अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होता है। अन्तत हम यही कह सकते है कि ज्ञान के प्रमाण और उसके पदार्थ मे केवल एक कल्पित अन्तर ही है।

यथार्थ का वर्णन

आचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के सम्प्रदाय में **सत्** अथवा **यथार्थता**– ये दोनों ही शब्द एक दूसरे के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं, और इनका 'परमसत्य' अर्थ है– सत्, यथार्थ सत्, परमार्थ सत् 'अर्थक्रिया–सामर्थ्य' के अतिरिक्त और कुछ नहीं।[२०] हेतुत्व की दृष्टि से जो कुछ भी अर्थ–क्रिया की सामर्थ्य रखता है (अर्थात् वह स्वलक्षण है) वह यथार्थ है। जो स्वलक्षण नहीं है वह अयथार्थ है, असत् है। स्वलक्षण से सर्वप्रथम भौतिक हेतुत्व का तात्पर्य होता है। ये सब

मिथ्या या असत् के विलोम या विपरीत हैं। चाहे वह विशुद्ध असत् कल्पना हो अथवा उत्पादक विकल्प, विचार–सृजन का प्रत्येक अश असत् है परम सत् नहीं।

बौद्धो का कहना है कि जो अग्नि जलती है और वस्तुओ को पकाती है, वास्तविक या स्वलक्षण अग्नि होती है। उसकी उपस्थिति भौतिक दृष्टि से स्वलक्षण होती है और वह एक स्पष्ट कल्पनाचित्र को उत्पन्न करती है– ऐसे कल्पना–चित्र को जिसकी स्पष्टता की मात्रा भौतिक अग्नि की समीपता अथवा दूरी के प्रत्यक्ष अनुपात मे परिवर्तित होती है।[२१] प्रकाश के एक दूरस्थ बिन्दु के आकार के रूप मे परिणत हो जाने पर भी वह उस समय तक एक स्पष्ट कल्पना–चित्र उत्पन्न करती है, जब तक वह यथार्थ होती है, अर्थात् विद्यमान तथा दृष्येन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होती रहती है। ऐसी अग्नि जो अनुपस्थित है, जो केवल काल्पनिक है, जो न तो वास्तव मे जलती है, न कुछ पकाती है और न कोई प्रकाश ही फैलाती है, एक असत् या अयथार्थ अग्नि होती है।[२२] वह एक अस्पष्ट, अमूर्त और सामान्य कल्पना–चित्र ही उत्पन्न करती है। यदि उसकी तीव्र कल्पना की जाय तो भी वह एक यथार्थ, विद्यमान अग्नि की तात्कालिक स्पष्टता से रहित होगी। अस्पष्टता की मात्रा कल्पना की शक्ति के विपरीत अनुपात मे परिवर्तित होगी, समीपता अथवा दूरी के प्रत्यक्ष अनुपात मे नही। केवल विद्यमान, 'यहाँ', 'अभी', 'यह', मात्र ही यथार्थ होते है। प्रत्येक वह जो गत है अयथार्थ है, प्रत्येक वह जो भावी है, अयथार्थ है, प्रत्येक वह जो काल्पनिक है, अनुपस्थित है, मानसिक है, धारणात्मक है, सामान्य है, वह अयथार्थ है, प्रत्येक सामान्य या जाति, चाहे स्थूल सामान्य हो अथवा अमूर्त्त सामान्य, अयथार्थ होता है। अन्ततोगत्वा केवल भौतिक स्वलक्षणत्व का वर्तमान क्षण ही मात्र यथार्थ होता है।

प्रत्यक्ष यथार्थ के अतिरिक्त, एक अन्य अप्रत्यक्ष यथार्थ भी होता है, जिसे द्वितीय स्तर का या गृहीत यथार्थ कह सकते है। जब कोई मानसिक प्रतिमा विषयभूत और किसी बाह्य यथार्थ के साथ समीकृत होती है, तब वह एक आरोपित यथार्थता प्राप्त करती है। इस विशेष दृष्टिकोण से पदार्थो का यथार्थ और अयथार्थ वस्तुओ के, यथार्थ और अयथार्थ गुणो के रूप मे विभेद किया जा सकता है। यथार्थ वस्तु का एक उदाहरण 'गाय' है। अयथार्थ वस्तु के रूप मे बौद्धो के लिए, ईश्वर और आत्मा तथा साथ ही साथ साख्यो की मूल प्रक्रृति का भी उदाहरण दिया जा सकता है। यथार्थ गुण का एक अन्य उदाहरण 'नीला' है, अयथार्थ गुण का अपरिवर्तनशील शाश्वत, क्योकि बौद्धो के लिए कुछ भी अपरिवर्तनशील तथा शाश्वत नहीं है। हमारे मन की वह कल्पनाये जो इस अप्रत्यक्ष यथार्थ तक से मुक्त नहीं हैं वह सर्वथा अयथार्थ होती है, वे केवल अर्थविहीन शब्द मात्र होती हैं, जैसे आकाश मे पुष्प, मरुभूमि मे अप्सरा–मरीचिका, खरहे के सर पर सींग, बॉझ का पुत्र इत्यादि।

इस प्रकार यथार्थ या सत् भी दो प्रकार का होता है एक विशुद्ध और दूसरा कल्पना–मिश्रित। एक यथार्थ या सत् ऐसे क्षणो (स्वलक्षण) से निर्मित होता है, जिनका अभी न तो काल के अन्तर्गत कोई निश्चित स्थान होता है, न दिक् के अन्तर्गत कोई निश्चित स्थान होता है, और न इनमे कोई इन्द्रियग्राह्य गुण ही होता है। यह परमार्थ सत् होता है। दूसरा सत् या यथार्थ विषयभूत कल्पनाचित्रो से निर्मित होता है, जिसको हम लोग काल के अन्तर्गत एक स्थान तथा दिक् के अन्तर्गत एक स्थान प्रदान करते हुए समस्त ग्राह्य और अमूर्त गुणो से युक्त कर देते हैं। इसे सवृत्ति–सत्य कहते हैं।

बौद्ध नैयायिको की यही दो यथार्थताएँ हैं– एक परमार्थ अथवा चरम् सत् जो विशुद्ध ज्ञान मे प्रतिभासित होता है, और दूसरा कल्पित अथवा अनुभूत सत् जो विषयभूत कल्पनाचित्रो मे प्रतिबिम्बित होता है।

ज्ञान के स्रोत की द्विविध प्रकृति का स्वरूप

हमने बौद्ध के भ्रम–सिद्धान्त के वर्णन के अन्तर्गत अभी यथार्थ और अयथार्थ नामक द्विविध प्रकृति, अर्थात् प्रत्यक्ष, परम अथवा अनुभवातीत यथार्थ, तथा अप्रत्यक्ष अथवा अनुभवात्मक यथार्थ, का वर्णन किया है। अब हम ज्ञान के प्रामाणय की प्रकृति की द्विविध का सक्षिप्त वर्णन करेगे। ज्ञान का प्रामाण्य या स्रोत या तो प्रत्यक्ष होता है या अप्रत्यक्ष होता है। इसका अर्थ या तो परमार्थ का प्रतिभास होता है अथवा यह एक कल्पित यथार्थ के प्रतिभास का स्रोत होता है। प्रत्यक्ष प्रतिभास ज्ञान है और अप्रत्यक्ष विकल्प या सज्ञा। प्रथम को 'निर्विकल्पक प्रतिभास' और द्वितीय को एक 'कल्पना' कहते हैं। प्रथम पदार्थ का ग्रहण करता है, द्वितीय उसी पदार्थ का विकल्प करता है। विज्ञान के बौद्ध दृष्टिकोण के अन्तर्गत एक वास्तविक अथवा मानुत्वारोपी आशय मे वास्तविक 'ग्रहण' नहीं होता, बल्कि यह ग्रहण कार्यकारण अन्योन्याश्रयत्व के रूप मे हेतुत्व के सामान्य विचार के अनुसार अपने पदार्थ पर विज्ञान की इस प्रकार की एक निर्भरता मात्र होता है। 'गृह्णाति' शब्द का प्रयोग यहाँ पर केवल गृहीत वस्तु के विज्ञान के प्रथम क्षण का, उसके परवर्ती काल्पनिक रूपनिर्माण के बीच विभेद मात्र प्रयोग करने के लिए प्रयोग किया गया है। मात्र एक क्षण कुछ ऐसा अद्वितीय होता है, जिसका किसी भी प्रकार के अन्य पदार्थों के साथ कोई भी साम्य नहीं होता है।[23] इसलिए यह सर्वदा प्रतिनिधित्वविहीन और अनभिलाप्य होता है। प्रतिनिधित्व और नाम सदैव काल, स्थान और गुणो के एक सश्लिष्ट एकत्व के अनुरूप होते हैं।

आगे यथार्थ की द्विविध प्रकृति की चर्चा करते हुए धर्मोत्तर, साथ ही साथ, ज्ञान के प्रामाण्य की द्विविध प्रकृति का भी उल्लेख करते हुए कहते है कि–"विज्ञान का विषय वास्तव मे द्विविध होता है– एक स्वलक्षण और दूसरा वह जिसका अध्यवसाय के द्वारा ग्रहण होता है। प्रथम यथार्थ या प्रमाण का वह पक्ष होता है जिसका प्रथम क्षण मे प्रत्यक्ष होता है। द्वितीय वह रूप है जिसका एक स्पष्ट कल्पना द्वारा निश्चय होता है। स्वलक्षण और अध्यवसाय द्वारा अनुमानित वास्तव मे दो वस्तुए हैं जिसका कि किसी विज्ञान मे तत्काल प्रत्यक्ष होता है, वह केवल एक क्षण–मात्र होता है। जिसका अध्यवसाय या निश्चय होता है, वह सदैव किसी विज्ञान के आधार पर सृजन के अन्तर्गत ज्ञातता के क्षणो की एक श्रृखला होती है।

भारतीय दर्शन के प्रत्येक सम्प्रदाय का हमारे ज्ञान के विभिन्न प्रामाण्यो या स्रोतो, उनके कार्यो तथा प्रकृति के विषय मे स्वय अपना–अपना सिद्धान्त है। भौतिकवादी दर्शन इन्द्रियप्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण को स्वीकार नहीं करते। इसके अतिरिक्त अन्य सभी सम्प्रदाय कम से कम दो प्रमाणो को स्वीकार करते है। वे प्रमाण है– इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनुमान। वैशेषिक दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण मानता है। साख्य इन दो प्रमाणो के अतिरिक्त शब्द प्रमाण को भी तीसरा प्रमाण मानता है। नैयायिक अनुमान का एक विशेष प्रकार के तर्क, उपमान, से विभेद करते है, और मीमासक अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि का भी ज्ञान की पृथक विधि के रूप मे विभेद करते है। चरक के अनुयायियो ने प्रमाणो की इस संख्या को ग्यारह (११) तक बढा दी है, जिनके अन्तर्गत ज्ञान के एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप मे 'सम्भव'[२४] भी आता है।

बौद्ध लोग आचार्य दिड्नाग के समय से ही वैशेषिको की ही भॉति ज्ञान के केवल दो ही प्रमाण को स्वीकार करते है, और इन्हे ये प्रत्यक्ष और अनुमान कहते हैं। शब्द प्रमाण तथा उपमान इनकी दृष्टि से अनुमान मे ही सम्मिलित है। अर्थापत्ति एक ही तथ्य का एक दूसरे रूप मे कथन है। ज्ञान के दो प्रमाणो की सख्या वैसे तो दोनो ही सम्प्रदायो, बौद्धो तथा वैशेषिको, मे एक समान है, फिर भी इनकी परिभाषा तथा प्रकृति उस समस्त दूरी द्वारा भिन्न है, जो एक सरल यथार्थवाद के एक आलोचनात्मक सिद्धान्त से पृथक् करती है। बौद्ध–प्रणाली के अन्तर्गत ज्ञान के इन दो प्रमाणो का अन्तर अत्यन्त भौतिक तथा यथार्थ है। इसे अनुभवातीत कहते हैं। इन्द्रियो के द्वारा जिस बात का बोध होता है वह कभी भी अनुमान द्वारा बोध का विषय नहीं होता। जब दृष्यक्षेत्र में अग्नि उपस्थित होती है, और उसका दृष्येन्द्रिय द्वारा बोध होता है, तब यथार्थवादियों के लिए वह इन्द्रिय–प्रत्यक्ष का विषय होती है। जब यही अग्नि दृष्येन्द्रिय से बाहर

होती है और इसके अस्तित्व का केवल अप्रत्यक्ष बोध होता है, क्योकि धुएँ का प्रत्यक्ष हो रहा है, तब अग्नि का अनुमान के आधार पर बोध होता है। बौद्धो के लिए इन दोनो ही दशाओ मे एक अश का इन्द्रियो द्वारा बोध होता है, और एक अश का अनुमान द्वारा। यह बाद का शब्द इस दशा मे बुद्धि का, ज्ञान के एक अ–ऐन्द्रिक स्रोत का पर्याय है। बोध या विज्ञान या तो ऐन्द्रिक होता है, या अ–ऐन्द्रिक, या तो प्रत्यक्ष होता है अथवा अप्रत्यक्ष। प्रत्येक विज्ञान मे एक ऐन्द्रिक केन्द्र होता है और दूसरा बुद्धिगम्य। स्वय वस्तु का इन्द्रियो द्वारा बोध होता है, जो बुद्धि का एक कार्य है। इन्द्रियॉ केवल वस्तु मात्र को, उसके सम्बन्धो और सामान्य विशिष्टताओ से रहित स्वय वस्तु को ग्रहण करती हैं।

बौद्ध इस मत को अस्वीकार नहीं करते कि हम एक उपस्थित अग्नि का प्रत्यक्ष द्वारा और अनुपस्थित का अनुमान द्वारा ज्ञान प्राप्त करते है। परन्तु हमारे ज्ञान के दो प्रमुख प्रमाणो के बीच इस स्पष्ट तथा अनुभवात्मक अन्तर से अलग एक अन्य, यथार्थ, परमार्थ अथवा अनुभवातीत अन्तर ही है। यह अन्तर यह है कि दोनो प्रमाणो मे से प्रत्येक का स्वय अपना विषय है, स्वय अपना कार्य है, और स्वय अपना फल है। स्वय बौद्ध दृष्टिकोण को 'अमिश्रित' अथवा 'प्रमाण–व्यवस्था' के सिद्धान्त का नाम दिया है– ऐसे सिद्धान्त का जो ज्ञान के ऐसे–प्रमाणो को मानता है जो प्रमाणित है, जिनकी सीमाये स्पष्ट है, और जिनमे से एक कभी भी दूसरे के क्षेत्र मे क्रियाशील नहीं होता। इसके विपरीत सिद्धान्त, यथार्थवादियो के सिद्धान्त को 'मिश्रित' अथवा 'प्रमाण–सम्प्लव' के सिद्धान्त का नाम दिया है, क्योकि इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक विषय का दोनो ही प्रकार से बोध या ज्ञान हो सकता है– अर्थात् या तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा सीधे अथवा अनुमान द्वारा परोक्ष रूप से ज्ञान हो सकता है। यह सत्य है कि अनुभवात्मक दृष्टिकोण से यह बौद्ध सिद्धान्त ही है जिसे 'मिश्रित' सिद्धान्त कहा जायेगा, क्योकि दोनो प्रमाण वास्तविक जीवन मे अपनी विशुद्ध और अमिश्रित अवस्था मे नही मिलते। इसे पृथक् करने के लिए हमे वास्तविक अनुभव से बुद्धि की समस्त अनुभूत चेतन और उपचेतन प्रक्रियाओ की सीमा से बाहर जाकर एक अनुभवातीत अन्तर को स्वीकार करना होगा– ऐसे अन्तर को जिसे हम प्रत्यक्ष देख नहीं पाते, फिर भी जिसका हमारे लिए अविसवादी परमार्थ सत् अनिवार्यत' आग्रह करता है। बौद्ध के इस सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा किए बिना अभी हम मात्र अपने को इस संक्षिप्त व सरल सकेत तक ही सीमित रखेंगे।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि विज्ञान के दो मूलभूत सिद्धान्त हैं– एक वह जो परम सत्य का प्रतिभास है और दूसरा वह जो उन कल्पनाचित्रो के निर्माण की

क्षमता है, जिनमे यह यथार्थ प्रापञ्चिक ससार मे प्रतिभासित होता है। परन्तु इसका एक अन्य अर्थ भी है जो परम सत्य का कोई विचार नही करता। प्रापञ्चिक या सावृत्तिक दृष्टिकोण से विज्ञान के दो प्रमाण या दो विधियॉ, प्रत्यक्ष और अनुमान हैं। प्रत्यक्ष की दशा मे विषय के आकार या चित्र का प्रत्यक्ष बोध, अर्थात् विशदाभास होता है। अनुमान मे इसका इसके लिग के माध्यम से अपरोक्ष, अर्थात् अस्फुट या अमूर्त्त बोध होता है। यदि इसके परिणाम, जैसे धूम के प्रत्यक्ष द्वारा, इसकी उपस्थिति का अनुमान किया जाता है तो इसका अनुमान के आधार पर प्रत्यक्ष बोध होता है। दोनो ही दशाओ मे एक ऐन्द्रिक और एक रचित कल्पनाचित्र होता है, किन्तु प्रथम दशा मे प्रत्यक्ष बोध की क्रिया का प्रामुख्य और कल्पनाचित्र स्पष्ट होता है, जबकि द्वितीय मे बोधक क्रिया का प्रामुख्य और कल्पनाचित्र अस्पष्ट तथा अमूर्त्त होता है।

प्रस्तुत अध्याय के प्रथम खण्ड मे हमने अपने विषय के उस महत्व की ओर सकेत किया है, जो कि बौद्ध लोग अपने इस आधारभूत सिद्धान्त को प्रदान करते है कि ज्ञान प्राप्त करने के केवल दो और दो ही प्रमाण– इन्द्रियॉ और अनुमान हैं। ये दोनो प्रमाण सर्वथा विषय–जातीय हैं, अर्थात् हमको ज्ञान के एक ऐन्द्रिक तथा एक अ–ऐन्द्रिक या एक बुद्धिग्राह्य तथा दूसरा अ–बुद्धिग्राह्य प्रमाण उपलब्ध कराते है।

आचार्य दिङ्नाग का मानना है कि ज्ञान प्राप्त करने के इन दो प्रमाणो (प्रत्यक्षऱ्इन्द्रिय, अनुमान) को वह या तो सामान्य लक्षण की श्रेणी मे रखते है, या तो स्वलक्षण की श्रेणी मे रखते है। आचार्य ने स्वलक्षण को इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय माना और सामान्यलक्षण को प्रज्ञा या अनुमान का विषय माना है। अब हम इसके आगे इन दोनो प्रमाणों से सम्बद्ध बौद्ध–विचारो की सक्षिप्त चर्चा करेगे।

बौद्ध-दर्शन में ज्ञान का स्रोतः "प्रत्यक्ष"

वैसे तो बौद्धो के अनुसार कोई वस्तु यथार्थत· क्या है? इस बात की परिभाषा नहीं दी जा सकती है। इनका मानना है कि "यदि कोई वस्तु ज्ञात है तो उसकी परिभाषा व्यर्थ है, और यदि वह अज्ञात है तो उसकी परिभाषा और भी व्यर्थ है क्योकि वह असम्भव है।" इनका मानना है कि हम वस्तु के स्वलक्षण (इन्द्रिय–प्रत्यक्ष) को, उसके सार को, कभी भी व्यक्त नहीं कर सकते है, हम तो केवल सम्बन्धो को ही जानते हैं। भारतीय यथार्थवादी का मानना था कि वस्तुएँ ऐसे 'स्वलक्षणत्व' या सार–तत्वो से युक्त होती हैं जिनका संकेत करना अतिआवश्यक है। जैसे 'वह धर्म जो अग्नित्व से युक्त है, उसे अग्नि कहते हैं'।

बौद्ध इस प्रकार की परिभाषाये या मत को व्यर्थ मानता है, उनका मानना है कि 'स्वरूपत्व' का कोई अस्तित्व नही होता। बौद्धो के अनुसार प्रत्येक शब्द अथवा प्रत्येक धारणा अपने प्रतिरूप के साथ सहसम्बद्ध होती है, और यही एक मात्र परिभाषा दी जा सकती है। जैसे, नीला रग क्या है, इसको हम बता नहीं सकते, किन्तु हम समस्त रगो का नीले तथा नीलेतर मे वर्गीकरण कर सकते हैं। नीलेतर को, पुन इसी द्विधात्मक सिद्धान्त के अनुसार रगो के अनेक प्रकारो मे विभक्त कर सकते है। नीले रग की परिभाषा यह होगी कि यह नीलेतर नहीं है, और इसके विपरीत नीलेतर की परिभाषा यह होगी कि यह नीला नही है।

वैसे प्रत्यक्ष–ज्ञान को सभी भारतीय दार्शनिक स्वीकार करते है। प्रत्यक्ष–ज्ञान को अस्वीकार करने वाले नागार्जुन, श्रीहर्ष, जयराशिभट्ट आदि कुछ दार्शनिको के अतिरिक्त न्याय, वैशेषिक, मीमासा, बौद्ध, जैन, साख्य, चार्वाक आदि सभी भारतीय दर्शन–प्रस्थान, प्रत्यक्ष–ज्ञान या प्रमाण का प्रतिपादन करते है, सांख्य, न्याय, मीमासा आदि दर्शनो ने ऐन्द्रिक ज्ञान को अथवा इन्द्रियो को प्रत्यक्ष प्रमाण की श्रेणी मे रखा है, जबकि बौद्ध दार्शनिक व जैन दार्शनिक ऐन्द्रियक एव अतीन्द्रिय दोनो प्रकार के ज्ञानो को प्रत्यक्ष–प्रमाण के रूप मे स्वीकार करते है।

प्रत्यक्ष को जैन एव बौद्ध दर्शन स्फुट एव साक्षात्कारी ज्ञान के रूप मे स्वीकार करते हुए भी निर्विकल्पकता एव सविकल्पकता को लेकर गहरा मतभेद रहा है। बौद्ध–दर्शन मे प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक–ज्ञान के रूप मे स्वीकार किया गया है। जैन–दार्शनिको के अनुसार निश्चयात्मक अर्थात् सविकल्पक ज्ञान ही प्रमाण होता है, निर्विकल्पक ज्ञान नही। जैन–दर्शन मे ज्ञान के पूर्व 'दर्शन' का होना स्वीकार किया गया है, जो बौद्धो के निर्विकल्पक ज्ञान से कुछ सादृश्य रखता है, किन्तु जैन दार्शनिक निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाण न मानने के कारण 'दर्शन' को प्रमाण की कोटि से बाहर रखते हैं।

प्रत्यक्ष-लक्षण

बौद्ध–दर्शन मे क्रमिक विकास के परिणामस्वरूप तीन प्रकार के प्रत्यक्ष–लक्षण बताये गये है। प्रथम लक्षण **वसुबन्धु** द्वारा निरूपित है, जिसके अनुसार अर्थ से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है। **दिङ्नाग** ने इस लक्षण का खण्डन किया है तथा कल्पना से रहित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। यह प्रत्यक्ष का द्वितीय लक्षण कहा जा सकता है। तृतीय लक्षण **धर्मकीर्ति** ने दिया है जिसके अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण कल्पनारहित होने के साथ अभ्रान्त भी होता है।

वसुबन्धु का प्रत्यक्ष-लक्षण

वसुबन्धु ने 'वादविधि' मे प्रत्यक्ष का लक्षण दिया है, जिसका उल्लेख एव खण्डन उद्योतकर के 'न्याय–वार्तिक' तथा दिङ्नाग के 'प्रमाण समुच्चय'[२५] मे प्राप्त होता है। 'वादविधि' मे प्रदत्त लक्षण के अनुसार वही ज्ञान प्रत्यक्ष है जो अर्थ से उत्पन्न हुआ है।[२६] जिस अर्थ को जिस ज्ञान से व्यपदिष्ट किया जाता है, यदि वह ज्ञान उसी अर्थ से उत्पन्न होता है, तो प्रत्यक्ष है, अन्यथा नहीं।[२७] जैसे, किसी ज्ञान को घट कहा जाय, और वह यदि घट से उत्पन्न हो तो वह घट का प्रत्यक्ष कहलायेगा। इस प्रकार वसुबन्धु का प्रत्यक्ष–लक्षण अर्थाश्रित अथवा आलम्बनाश्रित है, इन्द्रियाश्रित नही। दिङ्नाग ने वादविधि मे वर्णित प्रत्यक्ष–लक्षण का खण्डन करते हुए कहा है कि यदि आलम्बन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहा जायेगा तो स्मृति, अनुमान, अभिलाष आदि ज्ञान भी अन्य आलम्बन की अपेक्षा नहीं करते, अत प्रत्यक्ष का यह लक्षण स्मृत्यादि ज्ञानो में भी अतिव्याप्त हो जायेगा।[२८]

दिङ्.नाग का प्रत्यक्ष-लक्षण

दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष को अक्षाश्रित निरूपित किया है। वे प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं– 'अक्षमक्ष प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षम्' अर्थात् जो ज्ञान इन्द्रिय के आश्रित या सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष कहा जाता है। दिङ्नाग के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान कल्पना रहित होता है। इसलिए उन्होने कल्पनापोढ को प्रत्यक्ष का लक्षण कहा है।[२६] कल्पना का अर्थ है, नाम, जाति, क्रिया, द्रव्य आदि की योजना।[३०] कल्पनापोढ होने पर भी प्रत्यक्ष–प्रमाण ज्ञानात्मक होता है। इसे आचार्य दिङ्नाग के टीकाकार जिनेन्द्रबुद्धि ने स्पष्ट किया है[३१] कि जिस प्रकार 'अवत्सा धेनु को लाओ' इस कथन मे वत्स का निषेध करने पर भी गोधेनु का बोध होता ही है, इसी प्रकार कल्पना का निषेध करने पर भी ज्ञान का बोध होता ही है, क्योकि ज्ञान ही कल्पना से युक्त होता है। अत कल्पना का निषेध करने से उससे रहित ज्ञान का बोध होता है। इस प्रकार आचार्य दिङ्नाग के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का कहा जा सकता है–

(१) कल्पनायुक्त अर्थात् सविकल्पक और,

(२) कल्पनारहित अर्थात् निर्विकल्पक।

इनमें से जो ज्ञान कल्पनारहित होता है, वही दिङ्नाग के अनुसार प्रत्यक्ष–प्रमाण है।

आचार्य दिङ्नाग के मत में कल्पना

आचार्य के अनुसार प्रत्यक्ष की परिभाषा मे कल्पना का अर्थ है, ज्ञान मे नाम, जाति, गुण, क्रिया एव द्रव्य की योजना करना।[32] जैसे, यदृच्छा शब्दो मे 'यह डित्थ है' इस प्रकार किसी विशिष्ट अर्थ को डित्थ नाम से युक्त करना नाम योजना रूप कल्पना है। जाति शब्दो मे यथा 'यह गाय है' इस प्रकार गाय शब्द का प्रयोग करना जाति योजना रूप कल्पना है। इसी प्रकार गुण शब्दो मे 'यह शुक्ल है' इस प्रकार शुक्ल गुण का योजन करना गुणयोजना रूप कल्पना है, क्रिया शब्दो मे यथा 'यह क्रिया से रसोइया है' इस प्रकार क्रिया की योजना करना क्रियारूप कल्पना है तथा द्रव्य शब्दो मे यथा 'यह दण्डी है', अथवा 'विषाणी है' इस प्रकार का प्रयोग करना द्रव्य योजना रूप कल्पना है।[33] आचार्य इन पाँचो प्रकार की कल्पना से रहित ज्ञान को प्रत्यक्ष–प्रमाण की सज्ञा देते है।[34]

दिङ्.नाग द्वारा नामादि योजना रूप कल्पना का निषेध करने के पीछे अभिधर्मकोष व्याख्या आदि ग्रन्थो के दो कथन महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। जैसे,

(१) चक्षुर्विज्ञान– समगी नील विजानाति नो तु नीलमिति।

(२) अर्थेऽर्थसज्ञी नत्वर्थे धर्मसज्ञीति।

इनमे प्रथम वाक्य का अर्थ है चक्षुर्विज्ञान से जानने वाला पुरूष नील अर्थ को जानता है, किन्तु उसे 'यह नील है' इस रूप मे नही जानता। नील को जानना कल्पना रहित है, 'यह नील है' इस रूप मे कथन करना अथवा कल्पना करना कल्पनायुक्त है। प्रत्यक्ष–प्रमाण कल्पनारहित होता है, अत उसमे नील का ज्ञान होते हुए भी 'यह नील है' इस रूप मे ज्ञान नहीं होता। द्वितीय वाक्य 'अर्थेऽर्थसज्ञी नत्वर्थे धर्मसज्ञी' भी इसी प्रकार का है। अर्थ में अर्थ का ज्ञान होना प्रत्यक्ष है, किन्तु अर्थ मे धर्म का अर्थात् नाम का ज्ञान होना विकल्पात्मक होने से प्रत्यक्ष नहीं है।

धर्मकीर्ति का प्रत्यक्ष लक्षण

धर्मकीर्ति सम्भवत· दिङ्नाग प्रणीत लक्षण को पर्याप्त नहीं मानते है, इसलिए उन्होने प्रत्यक्ष–लक्षण मे कल्पनापोढ के अतिरिक्त 'अभ्रान्त' पद का भी सन्निवेश किया है।[35] वे उसी ज्ञान को प्रत्यक्ष–लक्षण मानते हैं जो कल्पना से रहित एवं अभ्रान्त हो। धर्मकीर्ति का कथन है कि कभी कोई ज्ञान कल्पना रहित होते हुए भी इन्द्रिय विकार के कारण भ्रान्त हो सकता है।[36] उस भ्रान्तज्ञान का निराकरण करने के लिए आचार्य ने 'अभ्रान्त' पद का प्रयोग करना आवश्यक

समझा। ज्ञान–लक्षण का विवेचन करते समय यह सकेत कर दिया गया था कि धर्मकीर्ति के मत मे अविसवादी एव अभ्रान्त पद एकार्थक नही है। उनके मत मे भ्रान्तज्ञान भी अविसवादी हो सकता है, यथा–अनुमान–प्रमाण। इसलिए अभ्रान्त पद का प्रत्यक्ष–लक्षण मे पृथक्तया सन्निवेश करना उनको आवश्यक प्रतीत हुआ।

धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष–लक्षण का धर्मोत्तर, शान्तरक्षित एव कमलशील ने पूर्णत समर्थन किया है, तथा उसकी विशद एव विस्तृत चर्चा भी की है। धर्मोत्तर ने प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए इन्द्रियाश्रित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है,[३७] किन्तु प्रत्यक्ष के इस लक्षण मे मानस, योगी एव स्वसम्वेदन प्रत्यक्षो का समावेश नहीं हो पाता है। अत वे इसे व्युत्पत्तिनिमित्त लक्षण मानकर प्रवृत्तिनिमित्त लक्षण प्रदान करते है, तद्नुसार वे अर्थ के साक्षात्कारी ज्ञान को प्रत्यक्ष–लक्षण मानते है।[३८]

आचार्य शान्तिरक्षित ने धर्मकीर्ति की भॉति कल्पनापोढ एव अभ्रान्तज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहा है,[३९] तथा कमलशील ने उसके औचित्य को प्रदर्शित किया है।

धर्मकीर्ति के लक्षण मे प्रयुक्त कल्पना एव अभ्रान्त शब्दो का क्या अर्थ है तथा 'अभ्रान्त' पद के सन्निवेश का औचित्य है या नहीं, इस पर विचार करना अपेक्षित है।

धर्मकीर्ति के विचार में कल्पना का स्वरूप

आचार्य दिङ्नाग तो नाम, जाति, गुण, क्रिया एव द्रव्य आदि की शब्द–योजना करने को कल्पना मानते हैं, किन्तु धर्मकीर्ति ने वाचक शब्द के ससर्ग योग्य प्रतीति को ही कल्पना शब्द से अभिहित किया है, जैसे, 'अभिलापससर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीति· कल्पना'[४०] धर्मकीर्ति के द्वारा अभिलाप के ससर्ग योग्य प्रतिभास रूप प्रतीति को कल्पना कहने से कुमारिल भट्ट द्वारा निरूपित निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का खण्डन हो जाता है। कुमारिल भट्ट ने बालक एवं मूक पुरुष के ज्ञान को निर्विकल्पक माना है, क्योंकि उसमें शब्द योजना नहीं होती, किन्तु धर्मकीर्ति के द्वारा अभिलाप के ससर्गयोग्य प्रतिभासरूप प्रतीति को कल्पना कहने से उसका निरसन हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति ने कुमारिल सम्मत बालक के निर्विकल्पक प्रत्यक्षत्व का खण्डन करने हेतु ही उसे कल्पना की श्रेणी मे रखा है।

धर्मकीर्ति ने तत्वमीमांसीय तत्व को शुद्ध कल्पनास्वरूप माना है, क्योंकि यथार्थता का कोई ऐसा बिन्दु नहीं होता, शुद्ध विज्ञान का कोई ऐसा क्षण नहीं होता जिसके साथ इन्हे सम्बद्ध किया जा सके। 'देश, काल तथा ग्राह्य गुणों की दृष्टि से ये स्वसम्वेदना अप्राप्य होते हैं।'

किन्तु यह बिन्दु, या यह विज्ञान साक्षात् या परोक्ष रूप से आनुभविक यथार्थ और आनुभविक विज्ञान की प्रत्येक क्रिया मे उपस्थित रहते है। इस तथ्य को हम स्वसम्वेदना के आधार पर परोक्ष रूप से सिद्ध कर सकते है।[४१] धर्मकीर्ति का यह कथन है "इस बात को कि विज्ञान उत्पादक कल्पना (विकल्प) से सर्वथा भिन्न[४२] कुछ होता है, स्वसम्वेदना द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। वास्तव मे प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि विकल्प एक ऐसी वस्तु होती है, जिसे व्यक्त किया जा सकता है (विकल्पोनाम–सश्रय)। अब, यदि हम किसी रग के पट पर देखना प्रारम्भ करे, और अपने विचारो को अन्य समस्त विषयो से हटा ले, तथा इस प्रकार अपनी चेतना को एक स्तिमित अवस्था मे परिणत कर दे (और इस प्रकार हो जाये मानो अचेतन हो), तब यह शुद्ध विज्ञान की अवस्था होगी। तब, यदि (इस अवस्था से जाग्रत होकर) हमे विचार करना आरम्भ करे तो हम इस बात का (स्मरण) अनुभव होगा कि हमने अपने समक्ष एक (रग के एक पट का) चित्र देखा था, किन्तु हमने उस समय ध्यान नहीं दिया था (अर्थात् हम उसका नामकरण नहीं कर सके थे) जब हम उक्त अवस्था मे थे क्योकि वह एक शुद्ध विज्ञान था।

इसी प्रकार साम्य रखते हुए फ्रेन्च दार्शनिक एम एच. बर्गसॉ कहता है कि "मैं अपने नेत्र बन्द करने जा रहा हूॅ। अपने कानो को रोकने जा रहा हूॅ, और एक–एक करके सवेदनाओ को समाप्त कर रहा हूॅ . हमारे समस्त प्रत्यक्ष अन्तर्धान हो रहे हैं, भौतिक जगत् शान्ति मे विलीन हो रहा यहॉ तक कि मैं अपने तात्कालिक अतीत तक के समय की समस्त स्मृतियो को समाप्त अथवा विस्मृत कर सकता हूॅ, किन्तु कम से कम मै अपने वर्तमान की चेतना को, उसके आत्यन्तिक विपन्नता के स्तर पर आकर सुरक्षित रखता हूॅ– अर्थात् अपने शरीर की वास्तविक स्थिति का अनुभव करता हूॅ।" 'आत्यन्तिक विपन्नता' के स्तर तक ला दी गई यह चेतना, आचार्य धर्मकीर्ति के अनुसार–शुद्ध विज्ञान के क्षण, वर्तमान क्षण, के अतिरिक्त और कुछ नहीं। बर्गसॉ का कहना है कि शून्य का विचार एक असत् विचार है। बौद्धो का मानना है कि आनुभविक यथार्थ और अनुभविक विज्ञान की एक न्यूनतम सीमा होती है, और इसे ही शुद्ध विज्ञान कहते हैं।

धर्मोत्तर द्वारा व्याख्या

धर्मोत्तर के मत मे इन्द्रियज्ञान सन्निहित अर्थ का ही ग्राहक होता है, अत· वह अर्थसापेक्ष होता है। उसकी उत्पत्ति अर्थ–सान्निध्य के बिना नहीं होती, इसलिए उसे नियत–प्रतिभास वाला माना गया है। नियत प्रतिभास आकार वाला होने से वह अभिलाप के ससर्ग योग्य नहीं होता। धर्मोत्तर का मानना है कि जो ज्ञान अर्थ की सन्निधि से उत्पन्न होता

है, उसमे नियत आकार का प्रतिभास होता है, अत उसमे अभिलाप के ससर्ग की योग्यता नही होती है। जिसमे अभिलाप के ससर्ग की योग्यता होती है, वह कल्पना ज्ञान है, तथा जिसमे यह नही होती है वह प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा प्रत्यक्ष–लक्षण है।

धर्मोत्तर के अनुसार स्वलक्षण मे भी वाच्य–वाचक भाव हो सकता है, किन्तु वस्तुभाव से उत्पन्न होने के कारण वह निर्विकल्पक होता है, तथा स्वलक्षण मे वाच्य–वाचक भाव स्वीकार करके ही प्रत्यक्ष को कल्पनापोढ कहा गया है।[४३] स्वलक्षण का इन्द्रियज्ञान नियत प्रतिभास वाला होने से अभिलाप के ससर्ग योग्य नहीं होता, अत निर्विकल्पक होता है।[४४] इनके अनुसार इन्द्रियज्ञान मे तो श्रोतविज्ञान भी है, जिसका विषय शब्द स्वलक्षण है। यदि शब्द स्वलक्षण को किञ्चित वाच्य तथा वाचक मान लिया जाय और कल्पना का अर्थ "वाचक शब्द के ससर्ग की योग्यता" समझा जाय तो श्रोतज्ञान के सविकल्पक होने की आपत्ति आती है। धर्मोत्तर स्वय उत्तर देते हुए कहते हैं कि शब्द स्वलक्षण मे वाच्य–वाचक भाव मानने पर भी सकेत काल मे जाने गये शब्दो का स्मरण न हो तब तक यह ज्ञान सविकल्पक नहीं होता। अत यह कहा जा सकता है कि श्रोतज्ञान का विषय शब्द स्वलक्षण है। वाच्य–वाचक भाव के अभाव मे जो प्रत्यक्ष होता है वह निर्विकल्पक होता है।

शान्तरक्षित एव कमलशील ने यद्यपि अभिलापिनी प्रतीति को कल्पना कहा है,[४५] फिर भी वे धर्मकीर्तिय कल्पना के स्वरूप से सहमत प्रतीत होते है। शान्तरक्षित कहते है– सद्योजात बालक मे अतीत जन्म की शब्दार्थाभ्यास रूप वासना का अन्वय रहता है, अत उसमे भी अभिलापिनी प्रतीति होती है।[४५] कमलशील का कहना है कि हसना, रोना, स्तनपान करना, प्रसन्न होना आदि कार्यो मे बालक भी चतुर होता है, अत उसमे भी कल्पना का अनुमान होता है।

शान्तरक्षित और कमलशील ने दिड्नाग निरूपित कल्पना स्वरूप की भी चर्चा की है। नाम, जाति, गुण, क्रिया एव द्रव्य रूप पॅाच कल्पनाओं मे ये दोनो दार्शनिक नाम कल्पना को प्रमुख मानते हैं। जाति आदि का वास्तविक अस्तित्व न होने से उन्हे ये हेय प्रतिपादित करते हैं। जाति आदि को यदि कल्पना मानकर उनका कथन किया जाय तो भी नामयोजना करनी पडती है।[४६]

अन्तत आचार्य दिड्नाग अभिधर्मसूत्र से इस आशय का एक स्थल उद्धृत करते हैं। "एक व्यक्ति जो एक नील पट के ध्यान मे लीन है, नीले रग का ही प्रत्यक्ष तो करता है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि वह नीला है, उस वस्तु के सम्बन्ध में वह अभी इतना ही जानता है,

कि वह एक वस्तु है, किन्तु वह यह नही जानता कि वह वस्तु कैसी है।" आचार्य दिङ्नाग के इस उद्धरण को सर्वास्तिवादी लोग इन्द्रिय–प्रत्यक्ष अथवा शुद्ध विज्ञान के रूप मे मानते है।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी तथ्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बौद्ध दार्शनिको ने ज्ञान के प्रामाण्य या स्रोत के लिए प्रत्यक्ष प्रामाण्य पर जो चर्चा की है, वह यथार्थज्ञान के लिए अति आवश्यक है। वैसे प्रत्यक्ष ज्ञान की निर्विकल्पकता एव सविकल्पकता भारतीय दर्शनो मे विवाद का विषय रहा है। निर्विकल्पकता एव सविकल्पकता मे स्पष्ट भेद का प्रतिपादन सर्वप्रथम बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग ने किया है। प्रशस्तपाद ने प्रत्यक्ष के लिए स्वरूपालोचन, अविभक्तालोचन आदि शब्दो का प्रयोग किया है, किन्तु दिङ्नाग के बाद निर्विकल्पक एव सविकल्पक प्रत्यक्ष की चर्चा ज्ञानमीमासा का एक महत्वपूर्ण विषय बन गयी है। जैन दार्शनिको ने भी इसकी चर्चा की है लेकिन उन्होने प्रत्यक्ष को सविकल्पक स्वीकार कर निर्विकल्पकता का निरसन किया है। बौद्ध दार्शनिको के अनुसार सविकल्पज्ञान मे शब्दयोजना निहित रहती है। इसलिए वह प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है। प्रत्यक्ष तो कल्पनापोढ होता है। वह अर्थ को अर्थरूप मे ही विषय करता है, शब्द सन्निवेश का होना उसमे उचित नहीं है। अर्थ शब्द विविक्त होता है इसलिए उसका प्रत्यक्ष भी शब्दयोजना रहित होता है। नामयोजना अथवा शब्द योजना काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। दिङ्नाग ने नामयोजना के अतिरिक्त जाति, गुण, क्रिया एव द्रव्य की योजना को भी कल्पना कहकर प्रत्यक्ष ज्ञान मे उसको निराकृत किया है। बौद्ध दर्शन मे प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है, तथा वह अनभिधेय है, इसलिए धर्मकीर्ति ने अभिलाप के ससर्ग योग्य प्रतिभासप्रतीति को भी कल्पना कहकर उसकी प्रत्यक्ष प्रमाण मे अपोढता सिद्ध की है।

शुद्ध प्रत्यक्ष की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो बौद्ध सम्मत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष समीचीन प्रतीत होता है, किन्तु प्रमाण द्वारा अर्थ–क्रिया मे प्रवृत्ति या हेयोपादेय के ज्ञान की दृष्टि से यदि इस पर विचार किया जाय तो यह सर्वथा अनुपयोगी एव अव्यवहार्य है तथा जैन सम्मत सविकल्पक प्रत्यक्ष उपयोगी एव व्यवहार्य प्रतीत होता है। बौद्ध सम्मत प्रत्यक्ष इसलिए अव्यवहार्य एव काल्पनिक सिद्ध होता है, क्योकि उसका विषय स्थूल एव स्थिर दृष्टिगोचर होने वाले पदार्थ नहीं, अपितु निरन्तर गतिशील एव सूक्ष्म व असाधारण स्वलक्षण परमाणु हैं, जिनका किसी भी पुरुष को प्रत्यक्ष होता हुआ दिखाई नहीं देता है। क्षणभगवाद को मानने के कारण बौद्ध दार्शनिको के लिए यह आवश्यक था कि वे स्वलक्षण परमाणुओं को यथार्थ, परमार्थसत् प्रतिपादित कर उनका प्रत्यक्ष–प्रमाण से ग्रहण होना स्वीकार करे। 'सञ्चितालम्बना

पञ्चविज्ञानकाया' 'तत्रानेकार्यजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरम्' आदि वाक्य स्पष्ट प्रतिपादन करते है कि अनेक स्वलक्षण मिलकर ही दृश्य होते है अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति मे कारण बनते है।

इस प्रकार ज्ञान को दो रूपो मे विभाजित किया जा सकता है, प्रथमत साक्षात् ज्ञान और द्वितीयत परोक्षज्ञान के रूप मे। प्रत्यक्ष को साक्षात् ज्ञान कहा जाता है और परोक्ष को स्वार्थानुमान कहा जाता है। अभी हमने प्रत्यक्ष के साक्षात् ज्ञान का सक्षिप्त वर्णन किया है, लेकिन अगले खण्ड मे परोक्ष का स्वार्थानुमान (अनुमान) का वर्णन करेगे।

बौद्ध-दर्शन में ज्ञान का स्रोत-अनुमान

बौद्ध दर्शन मे न्याय, वैशेषिक मीमासा एव जैन दर्शन की भॉति अनुमान को प्रत्यक्ष के ही समान यथार्थ विषय का ग्राहक प्रतिपादित न करके यह कहा है कि अनुमान का विषय प्रत्यक्ष की भॉति परमार्थसत् नहीं, अपितु अवस्तुभूत एव कल्पित सामान्यलक्षण है। सामान्यलक्षण को विषय करने के कारण धर्मकीर्ति ने अनुमान को भ्रान्त ज्ञान कहा है।[४७] धर्मोत्तर का कहना है कि अनुमान अपने द्वारा गृहीत अनर्थ या अवस्तुभूत सामान्यलक्षण मे परमार्थसत् स्वलक्षण वस्तु का अध्यवसाय करता है, इसलिए वह भ्रान्त है।

बौद्ध के ऐसा मानने के कारण अन्य दार्शनिको का यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि अनुमान जब भ्रान्त या भ्रम ज्ञान है तथा अवस्तुभूत एव अर्थक्रियासामर्थ्य से रहित अर्थ को विषय करता है तो फिर उसे बौद्ध दर्शन मे प्रमाण क्यो माना गया? आचार्य धर्मकीर्ति ने अनुमान को भ्रान्त होते हुए भी प्रमाता के अभिप्राय का अविसवादक होने के कारण प्रमाण माना है।[४८] धर्मकीर्ति जी का मानना है कि यद्यपि परमार्थत प्रमेय एक ही है और वह स्वलक्षण है, किन्तु उस स्वलक्षण का प्रत्यक्ष द्वारा स्वरूप से ज्ञान होता है, तथा अनुमान द्वारा पररूप अर्थात् सामान्यलक्षण अर्थ के रूप मे ज्ञान होता है। सामान्यलक्षण के ग्राहक प्रमाण द्वारा वस्तुत अर्थ–क्रिया मे समर्थ स्वलक्षण अर्थ अध्यवसाय होता है, इसलिए अनुमान भी प्रमाण होता है।[४९] अनुमान को प्रमाण या ज्ञान का स्रोत धर्मकीर्ति अर्थक्रिया की अविसवादकता के कारण स्वीकार करते हैं। समस्त भ्रान्त या भ्रमात्मक ज्ञान प्रमाण नहीं होते हैं, अपितु जो भ्रमात्मक ज्ञान अविसवादक सिद्ध होता है, वह अनुमान प्रमाण कहा गया है। धर्मकीर्ति अनुमान की प्रमाणता सिद्ध करने के लिए मणिप्रभा एवं प्रदीपप्रभा दोनों का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। मणिप्रभा एव प्रदीपप्रभा दोनो मे मणिबुद्धि होना यद्यपि भ्रान्त ज्ञान है फिर भी मणिप्रभा की ओर दौडने वाले पुरुष को मणि की प्राप्ति होती है, और प्रदीपप्रभा की ओर दौडने वाले पुरुष को मणि की प्राप्ति

नही होती है। उसी प्रकार जिस भ्रमज्ञान से स्वलक्षण अर्थ की प्राप्ति होती है, अथवा जो भ्रम ज्ञान अविसवादक सिद्ध होता है वह अनुमान–प्रमाण है, एव जो अविसवादक सिद्ध नही होता वह अनुमानाभास ज्ञान होता है। अनुमान के ज्ञान के लिए त्रिरूपलिगता होना भी आवश्यक है। बिना त्रिरूपलिगता के कोई भी भ्रान्त या भ्रमात्मक ज्ञान अनुमान प्रमाण का ज्ञान नही हो सकता। शान्तरक्षित एव कमलशील ने त्रिरूपलिग युक्त सवादक ज्ञान को अनुमान प्रमाण कहा है।[५०] कमलशील का कथन है कि जो ज्ञान त्रिरूपलिग से उत्पन्न होता है वह पारम्पर्येण स्वलक्षण वस्तु से प्रतिबद्ध होता है, इसलिए वह प्रत्यक्ष के समान अविसवादक ज्ञान होता है। धर्मकीर्ति ने भी हेतु एव साध्य के ज्ञान को परम्परा से स्वलक्षण वस्तु मे प्रतिबद्ध निरूपित किया है।[५१] इस प्रकार जो ज्ञान त्रिरूपलिग से उत्पन्न होता है, वह विकल्पात्मक या भ्रम होकर भी अविसवादक होने के कारण बौद्ध–दर्शन मे अनुमान प्रमाण के रूप मे अभीष्ट माना गया है।

जैन दार्शनिको का मानना है कि अनुमान जन्य ज्ञान भ्रमात्मक ज्ञान नही होता है। जैन दार्शनिको के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान जिस प्रकार अभ्रान्त एव सवादक होता है, उसी प्रकार अनुमानजन्य ज्ञान भी अभ्रान्त एव सवादक होता है। स्वरूपनिश्चयात्मकता रूप प्रमाणलक्षण प्रत्यक्ष एव अनुमान दोनो मे समानरूपेण व्याप्त रहता है। अनुमान जन्य ज्ञान का विषय भी उतना ही यथार्थ या वस्तुभूत है, जितना कि प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होता है।

धर्मोत्तर का कहना है कि लिग के ग्रहण एव व्याप्तिस्मरण के पश्चात्, होने वाला प्रमाण अनुमान है। कमलशील ने लिग निश्चय का निरूपण करते हुए प्रतिपादित किया है कि भलीभॉति निश्चित किया हुआ लिग ही साध्य का गमक होता है, सदिग्ध लिग नही। वाष्पादि रूप मे सन्दिह्यमान धूम अग्नि का निश्चायक नहीं होता है। लिग का निश्चय अभ्यास से होता है। बौद्ध दर्शन मे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अनन्तर उत्पन्न विकल्प को अध्यवसायात्मक माना गया है, अत वह अभ्यास द्वारा लिग निश्चायक होता है।

अनुमान का लक्षण

'अनु' उपसर्गपूर्वक 'मा' धातु से 'ल्यट्' प्रत्यय लगाकर 'अनुमान' शब्द निष्पन्न हुआ है जो किसी उत्तरवर्ती या पश्चाद्भावी ज्ञान का द्योतन करता है। वात्स्यायन ने उसे प्रत्यक्ष या आगम पर आश्रित बतलाया है।[५२] अनुमान शब्द की निरुक्ति करते समय वात्स्यायन प्रतिपादित करते हैं कि प्रत्यक्ष–लक्षण द्वारा ज्ञात लिंग से लिगी अर्थ का ज्ञान करना अनुमान है। अक्षपाद गौतम ने अनुमान को प्रत्यक्षपूर्वक प्रतिपादित किया है। साध्य से साधन का ज्ञान होना अथवा लिग से अनुमेय अर्थ का ज्ञान होना अनुमान है। बौद्ध दार्शनिको के मत मे अनुमेय अर्थ का

ज्ञान करने के लिए हेतु मे त्रिरूपता का होना आवश्यक है। पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व एव विपक्षासत्व इन तीन रूपो से सम्पन्न हेतु द्वारा जन्य अनुमेयार्थ के ज्ञान को ही वे अनुमानप्रमाण की कोटि मे रखते है, त्रिरूपता से रहित ज्ञान को अनुमानाभास प्रतिपादित करते है।

आचार्य दिड्नागकृत अनुमान–लक्षण उद्योतकर के न्यायवार्तिक मे प्राप्त होता है, तदनुसार ज्ञात अविनाभाव सम्बन्ध द्वारा नान्तरीयक अर्थ का दर्शन ही अनुमान है।[५३] एक वस्तु का दूसरी वस्तु के अभाव मे कभी भी न होना "नान्तरीयक" कहलाता है। नान्तरीयक को अविनाभाव भी कहते हैं। जो वस्तु नान्तरीयक अर्थात् अविनाभाव सम्बन्ध से सम्बद्ध होती है, उसे नान्तरीयक अर्थ कहते है। जिस पुरुष को दो वस्तुओ का अविनाभाव सम्बन्ध ज्ञात है, उसे ही नान्तरीयक एक वस्तु के दर्शन द्वारा अपर वस्तु का ज्ञान होता है। नान्तरीयक हेतु त्रिरूपता सम्पन्न होता है। आचार्य दिड्नाग ने प्रमाणसमुच्चय मे स्वार्थानुमान का लक्षण करते समय त्रिरूपलिग से जन्य ज्ञान को ही अनुमान–प्रमाण कहा है। **धर्मकीर्ति** ने प्रमाणवार्तिक मे अनुमान–लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित किया है– "किसी सम्बन्धी धर्म से, धर्मी के विषय मे जो परोक्ष अर्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अनुमान है।"[५४] मनोरथनन्दी ने इसकी वृत्ति करते हुए लिखा है कि अन्वय–व्यतिरेक लिग द्वारा उसके आश्रयधर्मी मे जो परोक्ष अर्थ की प्रतीति होती है वह अनुमान–प्रमाण है। यह अनुमान त्रिरूपलिग द्वारा उत्पन्न होता है।

बौद्ध–दर्शन मे अन्यत्र अनुमान के सामान्य–लक्षण का निरूपण नहीं करके अनुमान के स्वार्थ एव परार्थ भेदो के पृथक् पृथक् लक्षण बताये जा रहे है। बौद्ध दर्शन के अनुसार पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व एव विपक्षासत्व रूप तीन रूपो से सम्पन्न लिग या हेतु द्वारा जो लिगी या साध्य का ज्ञान होता है, वह अनुमान प्रमाण है। जैनो मे अकलक ने भी इसी प्रकार अविनाभूत लिग द्वारा साध्य के ज्ञान को अनुमान प्रतिपादित किया है। ये साधन को साध्य का अविनाभूत मानते हैं, इसलिए यह कहा जा सकता है कि साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

अन्तत हम कह सकते है कि जैन एव बौद्ध दार्शनिक लिग से लिंगी का अथवा हेतु से साध्य का ज्ञान होना अनुमान ज्ञान मानते है। लेकिन आगे अनुमान के विशेष–लक्षणों पर विचार के पूर्व अनुमान का संक्षिप्त भेद जान लेना अति आवश्यक है।

अनुमान के भेद

आचार्य दिड्नाग के पूर्ववर्ती बौद्ध ग्रन्थ उपायहृदय में न्याय[५५] एवं सांख्य दर्शन सम्मत पूर्ववत् शेषवत् एव सामान्यतोदृष्ट इन तीन अनुमान भेदो का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया

है।[५६] न्याय दर्शन एव साख्यदर्शन मे प्रतिपादित पूर्ववत्, शेषवत् एव सामान्यतोदृष्ट अनुमान–भेद प्राचीन है, जिनका प्रभाव तत्कालीन बौद्ध ग्रन्थो पर भी हुआ है, फलत उन्होने अपने ग्रन्थ मे इन भेदो का समावेश किया है।

आचर्य दिङ्नाग ने अनुमान–प्रमाण के मुख्यत दो भेदो का प्रतिपादन किया है– प्रथमत– स्वार्थानुमान एव द्वितीयत– परार्थानुमान[५७] अनुमान प्रमाण का यह भेद प्रतिपादन भारतीय दर्शन मे दिङ्नाग की मौलिक देन है। वैशेषिक दर्शन मे दिङ्नाग के समकालीन दार्शनिक प्रशस्तपाद ने स्वनिश्चितार्थ एव परार्थ के रूप मे अनुमान का सक्षिप्त विवेचन किया है। लेकिन प्रशस्तपाद ने अनुमान के भेदो को उतना स्पष्टरूपेण विभक्त नहीं किया है। दिङ्नाग कृत अनुमान भेदो को न केवल धर्मकीर्ति,[५८] शान्तिरक्षित[५९] एव कमलशील आदि बौद्ध दार्शनिको ने अपनाया बल्कि न्याय, जैन, मीमासा एव वेदान्त दर्शन ने भी इसको माना है।

अनुमान के स्वार्थ एवं परार्थ विभाजन के पूर्व न्यायदर्शन मे प्रतिज्ञा, हेतु आदि पॉच अवयवो को अनुमान–प्रमाण के अगो के रूप मे स्थापित नहीं किया था। दिङ्नाग द्वारा परार्थानुमान का स्थापन करने के अनन्तर न्यायदर्शन मे प्रतिज्ञा, हेतु आदि पॉच अवयवो को परार्थानुमान मे सगृहीत कर लिया गया है। न्यायदर्शन मे जयन्त भट्ट के पूर्व स्वार्थ एव परार्थ भेदो का हमे उल्लेख प्राप्त नहीं होता है, किन्तु उनके उत्तरवर्ती दार्शनिको द्वारा, विषेशत नव्यन्याय मे अनुमान के स्वार्थ एव परार्थ भेद पर्याप्त महत्व के साथ वर्णित है। दिङ्नाग कृत अनुमान भेदो को प्रत्यक्ष मे भी प्रतिपादित किया है। तदनुसार उनके मत मे प्रमाण के दो प्रकार है– स्वार्थ एव परार्थ।

स्वार्थानुमान

तजस अनुमान मे प्रमाता द्वारा स्वय अनुमेय अर्थ का ज्ञान होता है, वह स्वार्थानुमान कहलाता है।[६०] अनुमान–प्रमाण मे स्वार्थानुमान का महत्व अधिक है, क्योकि स्वार्थनुमान के बिना परार्थानुमान नहीं हो सकता है। दिङ्नाग ने त्रिरूप लिग से होने वाले अर्थज्ञान को स्वार्थानुमान कहा है। आचार्य धर्मकीर्ति ने भी त्रिरूपलिग से अनुमेय अर्थ मे होने वाले ज्ञान को स्वार्थानुमान कहा है।[६१] कमलशील का मानना है कि पक्षधर्मत्व, सपक्ष मे एवं विपक्ष से सर्वतो व्यावृत्ति युक्त त्रिरूपलिग से जो अनुमेय अर्थ का ज्ञान होता है, वह स्वार्थानुमान है।[६२] वस्तुत बौद्ध–दर्शन मे अनुमान का सामान्य लक्षण निरूपित नहीं है। धर्मोत्तर कहते हैं कि स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक होता है एव परार्थानुमान शब्दात्मक होता है, इन दोनों में अत्यन्त भेद होने के कारण अनुमान का सामान्य लक्षण सभव नहीं है। इसी कारण से आचार्य दिङ्नाग एवं उनके उत्तरवर्ती बौद्ध

दार्शनिको ने अनुमान के सामान्य लक्षण का निरूपण नही करके प्राय स्वार्थानुमान का लक्षण दिया है। स्वार्थानुमान के लक्षण को ही अनुमान का सामान्य लक्षण माना जा सकता है। त्रिरूपलिग सम्पन्न हेतु का कथन करने पर वही परार्थानुमान हो जाता है।

हम कह सकते है कि बौद्धमत मे पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व एव विपक्षासत्व इन तीनो रूपो से युक्त लिग द्वारा अनुमेय अर्थ के विषय मे जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अनुमान स्वार्थानुमान कहा जा सकता है। स्वार्थानुमान के द्वारा निश्चित अर्थ का जब हेतु एव दृष्टान्त के द्वारा अन्य की प्रतिपत्ति के लिए कथन किया जाता है तो वह परार्थानुमान कहलाता है।

स्वार्थानुमान के मुख्यत दो अग हैं– साध्य एव हेतु। साध्य एव हेतु के साथ व्यक्ति की चर्चा भी आवश्यक है। सक्षेप मे यहॉ पर इसकी चर्चा करेगे। हम यहॉ पर साध्य एव हेतु पर सक्षिप्त मे विचार करने के पश्चात् व्याप्ति पर विचार करेगे। पक्ष की चर्चा हम परार्थानुमान के अन्तर्गत आगे करेगे।

अनुमान प्रमाण मे साध्य का अत्यधिक महत्व है। लिग अथवा साधन द्वारा जिसे सिद्ध किया जाता है, वह साध्य कहलाता है। साध्य को लिगी, व्यापक, गम्य, नियाम्य, आपाद्य आदि भी कहा जाता है। साध्य के लिए 'अनुमेय' शब्द का भी प्रयोग होता रहा है। साध्य किसी पक्ष मे रहता है, किन्तु पक्ष साध्य मे नही रहता है। अनुमिति के सन्दर्भ मे साध्य के लिए अनुमेय शब्द सर्वथा उपयुक्त है। साध्य विशिष्ट पक्ष अथवा साध्य को सिद्ध करना अनुमेय कहा जाता है। अनुमेय शब्द साध्य का ही द्योतक होता है। आचार्य दिड् नाग ने साध्य के तीन कल्प प्रस्तुत किये हैं–

(१) केवल धर्म,

(२) धर्म–धर्मिसम्बन्ध, एवम्

(३) धर्मविशिष्ट धर्मी।

दिड्नाग ने इनमे से प्रथम दो का खण्डन कर वात्स्यायन के समान तृतीय स्वरूप को साध्य के रूप मे स्वीकृत किया है।[६३] धर्मकीर्ति ने हेतुलक्षण का निरूपण करते समय जिज्ञासित धर्म वाले धर्मी को अनुमेय या साध्य कहा है।[६४] धर्मोत्तर उसी प्रसग मे स्पष्ट करते हैं कि अनुमिति के समय धर्म–विशिष्ट धर्मी या धर्म–धर्मी का समुदाय अनुमेय होता है, तथा व्याप्ति के निश्चयकाल मे अग्नि रूप धर्म ही साध्य या अनुमेय होता है।[६५]

अनुमान का द्वितीय घटक 'हेतु' है। हेतु ही साध्य का गमक होता है। भारतीय दर्शन में हेतु को लिंग, साधन, व्याप्य, गमक, नियामक, आपादक आदि भी कहा गया है। बौद्ध–दार्शनिक

हेतु मे पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व एव विपक्षासत्व इन तीन रूपो का होना आवश्यक मानते है। जो इन तीनो रूपो से युक्त नही होता उसे वे असद्-हेतु अथवा हेत्वाभास कहा है। पक्षधर्मत्व का अर्थ है, धूमादि हेतु का वह्निविशिष्ट पर्वत आदि पक्ष मे रहना, सपक्ष सत्व का अर्थ है धूमादि हेतु का महानस आदि सपक्ष मे रहना एव विपक्षासत्व का अर्थ है, उस हेतु का जलाशय आदि विपक्ष मे नहीं रहना।

शेरबात्स्की के अनुसार बौद्ध दर्शन मे त्रैरूप्य की कल्पना वैशेषिको से भी प्राचीन प्रतीत होती है, जबकि प सुखलालसघवी वैशेषिक दर्शन मे त्रैरूप्य को प्राचीन मानते हैं[६६] लेकिन हेतु के त्रैरूप्यलक्षण की सर्वाधिक प्रसिद्धि बौद्ध दर्शन मे ही हुई है। बौद्ध दार्शनिक भी हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव या प्रतिबन्ध स्वीकार करते है, तथा उसके अभाव मे हेतुओ को हेत्वाभास कहते है, किन्तु वे अविनाभाव की परिसमाप्ति त्रिरूपता मे करते है। अर्थात् जो हेतु त्रिरूप सम्पन्न होता है वही साध्य का अविनाभावी होकर साध्य का ज्ञान कराता है।

बौद्ध दार्शनिक हेतु के त्रैरूप्य का निरूपण सर्वप्रथम आचार्य दिङ्नाग ने किया। धर्मकीर्ति ने त्रैरूप्य के प्रतिपादन मे कुछ नवीनता एव मौलिकता का प्रयोग किया है। न्यायबिन्दु मे वे त्रैरूप्य का प्रतिपादन अवधारणार्थक "एव" (ही) शब्द का प्रयोग करते हुए इस प्रकार कहते है– 'त्रैरूप्य पुनर्लिंगस्यानुमेये सत्वम् एव, सपक्ष एव सत्वम्, असपक्षे चासत्वम् एव निश्चितम्।' अर्थात् (१) हेतु का अनुमेय मे होना निश्चित हो, (२) हेतु का सपक्ष मे ही होना निश्चित हो तथा, (३) हेतु का असपक्ष अथवा विपक्ष मे नही होना ही निश्चित हो। धर्मकीर्ति ने हेतलक्षण मे उस धर्मी को अनुमेय कहा है, जिसका विशेष धर्म जानना इष्ट हो।[६७] साध्य धर्म की समानता रखने वाले अर्थ को सपक्ष[६८] तथा जो सपक्ष एव अनुमेय नही होता है उसे असपक्ष या विपक्ष कहा है।[६९] असपक्ष को वे सपक्ष से अन्य, विरुद्ध या सपक्षाभाव रूप मानते हैं।[७०]

अनुमेये सत्वमेव निश्चितम्

अनुमेय धर्मी मे हेतु का सत्त्व कहने से शब्द की नित्यता सिद्धि मे चाक्षुषत्वादि हेतु असिद्ध हो जाते है। अर्थात् इनकी हेतुता का निराकरण हो जाता है। 'एव' शब्द का प्रयोग करने से पक्ष के एक देश मे असिद्ध हेतु निराकृत हो जाता है, जैसे, " पृथ्वी आदि भूत अनित्य है, क्योकि गन्धवान् हैं" इस वाक्य के पृथ्वी आदि चारों भूत पक्ष हैं, किन्तु गन्धत्व हेतु केवल पृथ्वी मे पाया जाता है, अन्य तीन भूतो मे नहीं। अत यह पक्षैकदेशासिद्ध हेत्वाभास है। हेत्वाभास का विस्तृत विवेचन हम आगे करेगे।

सपक्षे एवं सत्त्वम निश्चितम्

यह हेतु का दूसरा रूप है। सपक्ष मे हेतु का सत्त्व कहने से विरुद्ध नामक हेत्वाभास का निराकरण हो जाता है। विरुद्ध हेतु सपक्ष मे नही रहता है। 'एव' शब्द से साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास का निरसन किया गया है। साधारण अनैकान्तिक हेतु सपक्ष मे ही नही, अपितु विपक्ष मे भी रहता है। सत्त्व से पूर्व एव सपक्ष के अनन्तर अवधारणवाची 'एव' का प्रयोग करने से सभी सपक्षो मे अव्यापी प्रयत्नान्तरीयकत्व हेतु का भी समर्थन हो गया है। यथा– 'शब्द अनित्य है, प्रयत्नान्तरीयक होने से, घट के समान' यहॉ पर प्रयत्नान्तरीयक हेतु सपक्ष के एक देश मे विद्यमान है, घटादि मे विद्यमान है, किन्तु विद्युत आदि मे नही। विद्युत प्रयत्नान्तरीयक नही है, किन्तु अनित्य है, अत अनित्य को सिद्ध करने के लिए प्रयत्नान्तरीयक हेतु वहॉ लागू नहीं होता, फिर भी सपक्ष के पश्चात् 'एव' का प्रयोग करने से उसका सपक्ष मे ही होना निर्धारित होता है, विपक्ष मे नहीं।

विपक्षे असत्त्वमेव निश्चितम्

विपक्ष मे असत्व ही निश्चित हो, यह हेतु का तृतीय रूप है। विपक्ष मे हेतु को असत्त्व कहने से विरुद्ध हेत्वाभास का निरसन हो जाता है। विरुद्ध हेतु विपक्ष मे रहता है। 'एव' शब्द के प्रयोग से विपक्ष के एक देश मे रहने वाले साधारण हेतु का निराकरण होता है, यथा–'शब्द प्रयत्नान्तरीयक है, अनित्य होने से, घट के समान'। यहाँ पर अनित्यत्व हेतु प्रयत्नान्तरीयक नही है। आकाशदि भी विपक्ष है, किन्तु उनमे अनित्यत्व हेतु नही रहता है। विपक्ष के एक देश मे रहने से अनित्यत्व हेतु असत् है।

इस प्रकार बौद्ध मत मे त्रैरूप्य ही हेतु के असिद्ध, विरुद्ध एव अनैकान्तिक दोषो का परिहार करने मे समर्थ हैं, अत त्रैरूप्य को ही हेतु का लक्षण स्वीकार किया गया है।

व्याप्ति

अनुमान के अन्तर्गत व्याप्ति का सर्वाधिक महत्त्व है। क्योकि साध्य के साथ साधन की व्याप्ति हुए बिना वह साध्य का गमक नहीं हो सकता है। साध्य एव साधन का अत्यभिचरित अनिवार्य सम्बन्ध व्याप्ति है। जब तक साधन या हेतु का साध्य के साथ अत्यभिचरित अनिवार्य सम्बन्ध न हो तब तक वह साध्य का सदैव गमक नहीं हो सकता है। यद्यपि हेतु का लक्षण करते समय बौद्ध दार्शनिको ने त्रिरूपता सम्पन्न हेतु को सद् हेतु कहा है, तथा नैयायिको ने पॉच रूप्य सम्पन्न हेतु को सद्हेतु माना है, किन्तु वे भी व्याप्ति या अविनाभाव के अभाव मे हेतु

को साध्य का गमक स्वीकार नही करते है। न्याय भी – हेतु को व्याप्ति बल से साध्य–अर्थ का गमक प्रतिपादित कर[७१] पॉंचरूप्य का समापन अविनाभाव मे किया है।[७२] बौद्ध भी हेतु को अविनाभाव नियम से सद्हेतु या साध्य का गमक स्वीकार करते है, अन्यथा उस हेतु को वे हेत्वाभास मानते है।[७३] बौद्धो का यही हेत्वाभास भ्रम है, इसी का वर्णन हम आगे के अध्याय मे विस्तृत रूप से करेगे, क्योकि जो ज्ञान अयथार्थ ज्ञान है, वही ज्ञान भ्रमात्मक होता है।

बौद्ध दर्शन मे व्याप्ति के लिए अविनाभाव नियम, स्वभाव प्रतिबन्ध एव व्यभिचार नियम शब्दो का भी प्रयोग हुआ है। आचार्य धर्मकीर्ति अविनाभाव नियम से हेतु को पक्षधर्म एव उसके अश मे व्याप्त बतलाते है। अविनाभाव नियम के अभाव मे वे हेतु को हेत्वाभास कहते है[७४] अविनाभाव नियम का अर्थ है हेतु का साध्य के अभाव मे नियमत कभी भी न होना। साध्य के अभाव मे जो हेतु नही होता, वही हेतु साध्य का गमक हो सकता है, अन्य नहीं। न्यायबिन्दु मे धर्मकीर्ति ने व्याप्ति को स्वभाव–प्रतिबन्ध शब्द से प्रकट किया है। इनका मानना है कि स्वभाव प्रतिबन्ध होने पर ही हेतु साध्य का गमक होता है[७५] लेकिन प्रश्न उठता है कि स्वभाव प्रतिबन्ध किसका होता है, तथा कौन प्रतिबन्ध का विषय बनता है? धर्मकीर्ति इसका समाधान करते हुए प्रतिपादित करते है कि वह स्वभाव प्रतिबन्ध लिग का साध्य अर्थ मे होता है।[७६] अर्थात् लिग या हेतु साध्य अर्थ मे प्रतिबद्ध होकर साध्य का गमक होता है। यदि लिग स्वभाव से साध्य मे प्रतिबद्ध नही हो तो वह अत्यभिचरित रूप से साध्य का गमक नही हो सकता।[७७] धर्मोत्तर का मानना है कि लिग परायत्त होने के कारण प्रतिबद्ध होता है, तथा साध्य अर्थ अपरायत्त होने के कारण प्रतिबन्ध का विषय होता है। जो प्रतिबद्ध होता है वह गमक होता है तथा जो प्रतिबन्ध का विषय होता है वह गम्य होता है।[७८]

व्याप्ति को हेतु बिन्दु मे परिभाषित करते हुए आचार्य धर्मकीर्ति का मानना है कि 'व्यापक के होने पर ही व्याप्य का होना तथा व्याप्य के होने पर व्यापक का होना ही व्याप्ति है। व्यापक का अर्थ है साध्य तथा व्याप्य का अर्थ है हेतु। इस प्रकार साध्य के होने पर ही हेतु का होना तथा हेतु के होने पर साध्य का होना ही व्याप्ति कहा गया है। व्याप्ति के इस स्वरूप को भिन्न प्रकार से भी प्रकट किया गया है, जैसे– लिंग के होने पर लिगी होता ही है तथा लिगी के होने पर ही लिग होता है, अन्यथा नहीं।' इस नियम का विपर्यास होने पर लिग एव लिगी मे सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता है।[७९] बौद्धों के अनुसार स्वभाव प्रतिबन्ध, अविनाभाव–नियम अथवा व्याप्ति एकार्थक हैं। व्याप्ति के होने पर ही लिग साध्य का गमक होता है, व्याप्ति के अभाव मे नहीं।

जहॉ पर हेतु का साध्य के साथ तादात्म्य नही है अथवा हेतु साध्य से उत्पन्न नही हुआ है, वहाँ हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति नही होती है। व्याप्ति के लिए आवश्यक है कि हेतु का साध्य के साथ तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध हो। सहचार दर्शन मात्र से किसी हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति नही कही जा सकती। बौद्धमत मे हेतु के तीन प्रकार बताये गये है– (१) स्वभाव, (२) कार्य एव (३) अनुपलब्धि।[८०] इसमे स्वभाव हेतु का अपने साध्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है, तथा कार्य हेतु का अपने साध्य के साथ तदुत्पत्ति सम्बन्ध होता है। ये दोनो हेतु विधि साधक है। अनुपलब्धि हेतु निषेधात्मक है। निषेध की सिद्धि दृश्यानुपलब्धि हेतु से ही हो जाती है, क्योकि वस्तु के होने पर दृश्यानुपलब्धि का होना असम्भव है। अनुपलब्धि हेतु का स्वभाव हेतु मे अन्तर्भाव कर लिया गया है, अत उसके अविनाभाव का ग्रहण भी तादात्म्य से होता है। धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक मे तादात्म्य एव तदुत्पत्ति के सम्बन्ध मे कहते है– "अविनाभाव का ग्रहण कार्य–कारण भाव से होता है, अथवा नियत स्वभाव से होता है। हेतु के सपक्ष मे दर्शन और विपक्ष मे अदर्शन मात्र से अविनाभाव की सिद्धि नही होती।"[८१] धर्मकीर्ति ने हेतु के सपक्ष मे दर्शन एव विपक्ष मे अदर्शन मात्र से अविनाभाव का ग्रहण नहीं किया है, क्योकि इनमे व्यभिचार भी हो सकता है। तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति के अतिरिक्त सयोग, समवाय आदि सम्बन्धो से हेतु मे अविनाभाव का धर्मकीर्ति ने निषेध किया है।

परार्थानुमान

स्वार्थानुमाता जब प्रतिज्ञा, हेतु आदि का कथन करके अन्य पुरुष को साध्य का ज्ञान कराता है, तो उसे परार्थानुमान कहा जाता है। पर के लिए प्रयुक्त होने से यह परार्थ अनुमान है, प्रमाता हेतु द्वारा जब साध्य का ज्ञान करता है तो उसे स्वार्थानुमान कहा गया है, तथा वही प्रमाता साध्य का ज्ञान करने के अनन्तर किसी अन्य पुरुष को हेतु आदि का कथन करके साध्य का ज्ञान कराता है, तो वह परार्थानुमान कहलाता है। परार्थानुमान के इस स्वरूप को बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग ने 'स्वदृष्ट अर्थ का प्रकाशन' कहकर वही तात्पर्य प्रकट किया है।[८२] स्वदृष्ट अर्थ का तात्पर्य प्रस्तुत स्थल पर त्रिरूपलिग से ज्ञात अनुमेय अर्थ है। त्रिरूपलिग का कथन करके स्वदृष्ट अर्थ का प्रकाशन करना परार्थानुमान है, इस प्रकार जिनेन्द्रबुद्धि की विशालामलवती टीका से स्पष्ट होता है। बौद्ध दर्शन मे अनुमान के लिए त्रिरूपलिंग का होना आवश्यक माना गया है, इसलिए परार्थानुमान मे त्रिरूपलिंग का ही कथन स्वीकृत है। धर्मकीर्ति ने भी न्यायबिन्दु मे त्रिरूपलिग का आख्यान करने को परार्थानुमान कहा है[८३] शान्तरक्षित एवं कमलशील ने भी त्रिरूपलिग के प्रकाशक वचन को परार्थानुमान कहकर यही मत प्रकट किया है। एकरूप अथवा द्विरूप से युक्त हेतु का कथन करने पर वे परार्थानुमान को शक्य नहीं

मानते, क्योकि तब हेत्वाभास हो जाता है। लेकिन जैन दार्शनिक अनुमान मे त्रिरूपलिगता का होना आवश्यक नही मानते है। इसीलिए वे त्रिरूपलिगता के आधार पर परार्थानुमान का स्वरूप प्रकट नहीं करते हैं।

बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने प्रयोग भेद से परार्थानुमान के दो प्रकार बताएँ है– (१) साधर्म्यवत् एव (२) वैधर्म्यवत्। वैसे इनमे कोई अर्थत भेद नहीं है। प्रयोग की दृष्टि से ही भेद है। न्यायदर्शन मे प्रयुक्त अन्वय एव व्यतिरेक प्रयोग यहाँ क्रमश साधर्म्य एव वैधर्म्य से साम्य रखते है। अनुपलब्धि, स्वभाव तथा कार्य तीनो प्रकार के हेतुओ के साधर्म्यवत् प्रयोग होते है। यद्यपि साधर्म्यवत् प्रयोग मे व्यतिरेक (विपक्ष मे कभी भी न होना) और वैधर्म्यवत् प्रयोग मे अन्वय (सपक्ष मे होना) दृष्टान्त द्वारा नही दिखलाया जाता, फिर भी उनकी प्रतीति हुआ ही करती है।

सक्षिप्तत यह कहा जा सकता है कि प्रमुखत. यूनानी, और भारतीय जिनमे मुख्य बौद्ध तर्कों के तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि यह पद्धति अनुमान और न्याय वाक्य (परार्थानुमान) है। बौद्ध परार्थानुमान मे केवल दो ही अवयव, एक आगमनात्मक और एक निगमनात्मक होते हैं, यह एक हेतुक परार्थानुमान से युक्त है, जो कि यूनानी तर्कशास्त्र मे पहले तो विभागात्मक मे विलीन था और बाद मे न्यायवाक्य या परार्थानुमान के क्षेत्र से सर्वथा वहिष्कृत हो गया। बौद्ध–प्रणाली तदुत्पत्ति और तादात्म्य (सह–समवायत्व) को दो ऐसे महान सिद्धान्तो के रूप मे समन्वित करती है, जिस पर हमारे समस्त तर्क तथा उनकी अभिव्यक्ति, परार्थानुमान, आधारित है। काण्ट का मानना है कि "किसी वस्तु की उसके लिग से तुलना करना निश्चय करना है।" सिग्वर्ट का यह मानना है कि "समस्त और प्रत्येक अनुमान का सर्वाधिक सामान्य आकार तथाकथित मिश्रित हेत्वाश्रित निष्कर्ष है।" इस प्रकार यही कहा जा सकता है कि बौद्ध मत मे परार्थानुमान के अवयवो या तत्वो पर विचार करने के अनन्तर विदित होता है कि बौद्ध दार्शनिक न्यायदर्शन मे प्रतिपादित प्रतिज्ञा, उपनय एव निगमन का खण्डन करते हैं। धर्मकीर्ति आदि दार्शनिको ने न्यायप्रवेश मे प्रतिपादित तीन अवयवो (पक्ष, हेतु एव दृष्टान्त) मे से पक्ष को निकालकर शेष दो अवयवो को उपादेय माना है। त्रिरूप–हेतु का अभिधान परार्थानुमान है, और जब उन तीनो रूपो में से किसी एक का अभाव न होने से हेत्वाभास हो जाता है। परार्थानुमान के त्रिरूप–हेतु का अभिधान होने पर तीन रूपों मे से एक के भी न कहने पर हेतु के सदृश किन्तु अहेतु हेत्वाभास कहलाता है। इन तीन रूपो मे कभी ही हेतु का दोष या अज्ञान या भ्रम है। इस स्थिति मे हमको जो वस्तु जिस रूप में है, उसके विपरीत प्रतीति होती है, और तभी भ्रम का ज्ञान प्रारम्भ हो जाता है, ऐसा ज्ञान भ्रमात्मक ज्ञान है।

इसके पश्चात् हम अगले अध्याय मे बौद्ध दर्शन के भ्रम सिद्धान्त को तत्वमीमासीय दृष्टि से विवेचना के अन्तर्गत सर्वप्रथम–प्रत्यक्षाभास एवम् हेत्वाभास का उल्लेख करेगे। तदनन्तर विज्ञानवाद का आत्मख्यातिवाद एवम् शून्यवाद का असत्ख्यातिवाद का उल्लेख करेगे।

पाद-टिप्पणी

१ न्यायबिन्दु, अनुवाद– पृष्ठ स १

२ सम्यग्ज्ञान की इस परिभाषा ने, जो ज्ञान को मनु की इच्छा या अनिच्छा पर आधारित कर देती है, यथार्थवादियो मे आपत्ति की प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी। इन लोगो ने इस तथ्य की ओर सकेत किया कि उदाहरण के लिए, चन्द्रमा या नक्षत्रो का सम्यग्ज्ञान होता है जो निरीक्षक की इच्छा पर निर्भर नहीं होते, इन्हे न तो इच्छित वस्तुओ के वर्ग मे सम्मिलित किया जा सकता है और न अनिच्छित, ये तो केवल अप्राप्य हैं। बौद्धो ने इस प्रस्तुत आपत्ति का यह कहकर उत्तर दिया है, कि अप्राप्य वर्ग को अनिच्छित वर्ग मे ही सम्मिलित किया जाना चाहिए क्योकि वस्तु के दो ही प्रकार होते है– एक वह जो इच्छित और दूसरा वह जिसकी इच्छा का कोई कारण नहीं होता चाहे वह हानिकारक हो अथवा केवल अप्राप्य। तुकी० ताटी०, पृ० १५७ और बाद।

३ प्राग्–भवीया भावना– अविचारित अनुसन्धान। पशुओ और मनुष्यो मे 'भावना' के विषय पर देखिये न्याकणि० पृ० २५२

४ जैन भी प्रमाण को ज्ञान–स्वरूप मानते हैं। नैयायिक उसे ज्ञान का कारण अथवा प्रकृष्ट कारण कहते हैं।

५ साकार–ज्ञान–वाद विज्ञानवादियो और सौत्रान्तिको का विशिष्ट सिद्धान्त है। नैयायिक और माध्यमिक ज्ञान को निराकार मानते हैं। नैयायिक वस्तु मे आकार और ज्ञान मे प्रकार मानते है।

६ 'प्रमाणम् अविसवादि', तुकी न्याबिटी, पृ ३ ५

७ न्याबिटी, पृ० १४ २१ 'प्रापकम् ज्ञानम् प्रमाणम्।'

८ न्यायबिटी, पृ० ३ १२

९ वही (मेरा 'निर्वाण'), पृ० ४४ और बाद।

१० तुकी० न्याबिटी० पृ० ४ १० ११ 'अधिगत–विषयम् अप्रमाणम् अनधिगत–विषयम् प्रमाणम्।

११ साधकतमम् ज्ञानस्य कारणम् प्रमाणम्।

१२ तस पृ० ३६० अविकल्पकम् अपि ज्ञानम् विकल्पोत्पत्ति शक्तिमत्।

१३ नैयायिक और मीमासक नि सन्देह इस सिद्धान्त को अस्वीकृत करते हैं, "कथम् पूर्वम् एव प्रमाणम् नोत्तराण्य् अदि"। तुकी० ताटी०, पृ० १५६।

१४ 'प्रामाण्यम् स्वत, अप्रामाण्यम् परत'।

१५ दोषोऽप्रमाया जनक, प्रमायात् तु गुणो भवेत्।"

१६ 'सवाद–ज्ञानात्'।

१७ 'अर्थ–क्रिया–ज्ञानात्'।

१८ यह सिद्धान्त प्रत्येक तर्कशास्त्रीय ग्रन्थ मे मिलता है, या उल्लिखित है। उदयनाचार्य ने अपनी परिशुद्धि मे इसका बौद्धो मे विभेद करते हुए स्पष्ट रूप से विवेचन किया है।

१९ 'साधकतम–कारणम्–प्रमाणम्'

२० न्यायबि १ १५ "अर्थ–क्रिया–सामर्थ्य–लक्षणम् वस्तु परमार्थ–सत्।"

२१ न्यायबि० १ १३।

२२ न्यायबिन्दु टीका, पृ० १४ ६।

२३ 'स्वम् असाधरणम् तत्वम्', तुकी० न्यायबिटी० पृ० १२ १४।

२४ इसकी अर्थापत्ति द्वारा उत्पन्न ज्ञान के रूप मे व्याख्या की गई है।

२५ प्रमाणसमुच्चय, १ १५।

२६ ततोऽर्थाद्विज्ञान प्रत्यक्षम्।

२७ यद्विज्ञान येन विषयेण व्यपदिश्यते तत् तन्मात्रदुत्पद्यते। नान्यत ततोऽन्यतश्च न भवतीति तज्ज्ञान प्रत्यक्षम्। प्रमाणसमुच्चयटीका, पृ० ३४।

२८ आलम्बन चेद् स्मृत्यादिज्ञान नान्यदपेक्षते। – प्रमाणसमुच्चय ११६।

२६ प्रत्यक्ष कल्पनापोढ नामजात्याद्यसयुतम्।– प्रमाणसमुच्चय, १३।

३० अथ केय कल्पना नामजात्यादि योजना। *Dignag* on Perception, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति,३

३१ कल्पनापोढमिति निर्देशेनापि तज्ज्ञानात्मकमिति गम्यते। ज्ञानमेव यत कल्पनाससृष्ट तस्मात् तत्प्रतिषेधेन तदेव प्रतीयते अवत्साधेनुरानीयतामिति यथा वत्सप्रतिषेधेन गोधेनोरेव।– प्रमाणसमुच्चय– टीका, पृ० ६ १०।

३२ नामजात्यादियोजना– *Dignag* on Perception, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति,३

३३ यदृच्छाशब्देषु नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते डित्थ इति। जाति शब्देषु जात्या गौरिति। गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति। क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति। द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विषाणीति। *Dignag*, on Perception, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, एव प्रमाणसमुच्चयटीका, पृ० १२।

३४ यत्रैषा कल्पना नास्ति तत्प्रत्यक्षम्। *Dignag* on Perception, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति।

३५ तत्र प्रत्यक्ष कल्पनापोढमभ्रान्तम्।– न्यायबिन्दु, १४

३६ आश्रयोपप्लवोद्भवम्।
अविकल्पकमेक च प्रत्यक्षाभ।। प्रमाणवार्तिक, २२८८।

३७ प्रत्यक्षमिति प्रतिगतमाश्रितमक्षम्।– न्यायबिन्दुटीका, १३, पृ० २८।

३८ यत्किञ्चिदर्थस्य साक्षात्कारि ज्ञान तत् प्रत्यक्षमुच्यते। –न्यायबिन्दुटीका १३, पृ० २८।

३६ प्रत्यक्ष कल्पनापोमयभ्रान्तम्।– तत्त्वसग्रह, १२१३।

४० न्यायबिन्दु, १५, प्रमाणवार्तिक २१७६ मे धर्मकीर्ति 'जयन्ते कल्पनास्तत्र यत्र शब्दो निवेशित' द्वारा शब्दयोजना को कल्पना कहते हैं।

४१ 'प्रत्यक्षम् कल्पनापोढम् प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति', प्रवा०, ३,१२५,
तुकी० अजप०, २०७, तुकी० तस० पृ० ३७४ ७ और बाद।

४२ 'स्वलक्षण' तथा 'प्रत्यक्ष' के बीच एक 'तद्–भाव–भावित्व' होता है। यह तद्भाव–भावित्व समर्थक और निषेधात्मक होता है, जब कोई यथार्थता होती है तब विज्ञान होता है जब कोई विज्ञान नहीं होता तब कोई यथार्थता नहीं होती। विज्ञान का अभाव विषय के अभाव के कारण अथवा उसकी सर्वथा अयथार्थता के कारण हो सकता है। प्रथम दशा मे होता है
(१) जब दृष्टि को रोकने वाला कोई व्यवधान होता है, अर्थात् जब विषय गोचर क्षेत्र मे नहीं होता,
(२) जब विषय सर्वथा अयथार्थ होता है अर्थात् काल देश और ग्राह्य गुण की दृष्टि से अनुपलब्ध होता है– तुकी० तसप० पृ० ३७८, १७–१८।

४३ (१) अतएव स्वलक्षणस्यापि वाच्यवाचकभावमभ्युपगम्य एतदविकल्पकत्वमुच्यते। –न्यायबिन्दुटीका, १५, पृ०४८
(२) न विशेषेषु शब्दाना प्रवृत्तावस्ति सम्भव। –प्रमाणवार्तिक, २१२६।

४४ न चेन्द्रियविज्ञानमर्थेन नियमितप्रतिभासत्वाद् अभिलापससर्गयोग्यप्रतिभासभवतीति निर्विकल्पकम्।– न्यायबिन्दु टीका, १५, पृ० ४८।

४५ अभिलापिनी प्रतीति. कल्पना १ तत्त्वसग्रह, १२१४।

४६ जात्यादियोजना शब्दयोजनाऽव्यभिचारिणी। – तत्त्वसग्रह, १२३२।

४७ अयथाभिनिवेशेन द्वितीया भ्रान्तिरिष्यते।– प्रमाणवार्तिक, २५५।

४८ अभिप्रायाविसवादादपि भ्रान्ते प्रमाणता। प्रमाणवार्तिक, २५६।

४६ स्वलक्षणमध्यवसित प्रवृत्तिविषयोऽनुमानस्य।– न्यायबिन्दु टीका, ११२, पृ० ७२।

५० त्रिरूपलिगपूर्वत्व ननु सवादिलक्षणम्।– तत्त्वसंग्रह, १४६७।

५१ लिगलिगिधियोरेव पारम्पर्येण वस्तुनि।
प्रतिबन्धात् तदाभासशून्ययोरप्यवञ्चनम्।।– प्रमाणवार्तिक, २८२।

५२ प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम्।– न्यायभाष्य, १,१,१ पृ० ८

५३ नान्तरीयकार्थदर्शन तद्विदोऽनुमानम्।– न्यायवार्तिक, ११५, पृ० १२३।

५४ या च सम्बन्धिनो धर्माद् भूतिधर्मिणि ज्ञायते।
सानुमान परोक्षाणामेकान्तेनैव साधनम्।।–प्रमाणवार्तिक, २६२।

५५ अथ तत्पूर्वक त्रिविधमनुमान पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्ट च।– न्यायसूत्र, ११५

५६ अनुमान त्रिविध पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट च। यथा षडगुलि सपिडकमूर्धान बाल दृष्ट्वा पश्चाद वृद्ध बहुश्रुत देवदत्त दृष्ट्वा षडगुलिस्मरणात् सोऽयमिति पूर्ववत्। शेषवत् यथा, सागरसलिल पीत्वा तल्लवणरसमनुभूय शेषमपि सलिल तुल्यमेव लवणमिति। एतच्छेषवदनुमानम्। सामान्यतोदृष्ट यथा कश्चिदच्छस्त देश प्राप्नोति। गगनेऽपि सूर्यचन्द्रमसौ पूर्वस्या दिश्युदितौ पश्चिममायाचास्त गतौ। तच्चेष्टायाभट्टष्टायामपि तद्गमनमनुमीयते। एतत्सामान्यतोदृष्टम।– उपायहृदय पृ० १३–१४।

५७ अनुमान द्विधा स्वार्थ परार्थ च।– प्रमाणसमुच्चय, स्वार्थानुमान–परिच्छेद, उद्धृत, द्वादशारनयचक्र (ज) भाग–१, परिशिष्ट, पृ०–१२२।

५८ अनुमान द्विधा–स्वार्थ परार्थ च।– न्यायबिन्दु, २१–२।

५९ स्वपरार्थविभागेन त्वनुमान द्विधेष्यते। – तत्त्वसग्रह, १३६१।

६० स्वस्मायिद स्वार्थम्।– न्यायबिन्दुटीका, २२, पृ० ६८।

६१ तत्र स्वार्थ त्रिरूपालिगाद् यदनुमेये ज्ञान तदनुमान।– न्यायबिन्दु, २३।

६२ तत्र स्वार्थ त्रिरूपाल्लिगात पक्षधर्मत्वम् सपक्षे विपक्षाच्च सर्वतो व्यावृत्ति इत्येवलक्षणादनुमेयार्थविषय ज्ञान तदात्मक बोद्धव्यम्।– तत्त्वसग्रहपञ्जिका, १३६१, पृ० ४६४–६५।

६३ दिङ्नाग के इन तीनो कल्पो की चर्चा न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका मे हुई है।– भारतीय दर्शन मे अनुमान, पृ० ४०१।

६४ अनुमेयोऽत्र जिज्ञासितविशेषो धर्मी। –न्यायबिन्दु, २६।

६५ अन्यत्र तु साध्यप्रतिपत्तिकाले समुदायोऽनुमेय। व्याप्तिनिश्चयकाले तु धर्मोऽनुमेय इति।– न्यायबिन्दुटीका २ ६, पृ० १११।

६६ Buddhist Logic, P 243-44

६७ अनुमेयोऽत्रजिज्ञासितविशेषो धर्मी। न्यायबिन्दु, २६।

६८ साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थ सपक्ष।– न्यायबिन्दु, २७।

६९ न सपक्षोऽसपक्ष।– न्यायबिन्दु, २८।

७० ततोऽन्यस्तद्विरुद्धस्तदभावश्चेति। न्यायबिन्दु, २९।

७१ व्याप्तिबलेनार्थगमक लिगम्। –तर्कभाषा अनुमाननिरूपण, पृ० ७२।

७२ एतेषु पञ्चसु लक्षणेष्वविनाभावो लिगस्य परिसमाप्यते।– जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी, पृ० १०१।

७३ अविनाभावनियमात् हेत्वाभासास्ततोऽपरे।– प्रमाणवार्तिक ३१।

७४ पक्षधर्मस्तदशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव स।
अविनाभावनियमात् हेत्वाभासोस्ततोऽपरे।। प्रमाणवार्तिक, ३१, हेतुबिन्दु, पृ० ५३।

७५ स्वभावप्रतिबन्धे हि सत्यर्थोऽर्थगमयेत्।– न्यायबिन्दु, २१९।

७६ स च प्रतिबन्ध साध्येऽर्थलिगस्थ।– न्यायबिन्दु, २२१।

७७ तद्प्रतिबद्धस्य तद्व्यभिचारनियमाभावात्।– न्यायबिन्दु, २२०।

७८ लिग परायत्तत्वात् प्रतिबद्धम्। साध्यस्त्वर्थोऽपरायत्तत्वात् प्रतिबन्धविषयो– यत् प्रतिबद्ध तद् गमक। यत् प्रतिबन्धविषय तद्गम्यम्।– न्यायबिन्दुटीका, २२०, पृ० १३२।

७९ लिगे लिगी भवत्येव लिगिन्येवेतरत् पुन।
नियमस्य विपर्यासेऽसम्बन्धो लिगलिगिनो।।– हेतु बिन्दुटीका, पृ १८।

८० अनुपलब्धि स्वभाव कार्यञ्चेति।– न्यायबिन्दु, २११।

८१ कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्।– प्रमाणवार्तिक, ३३१।

८२ परार्थानुमान तु स्वदृष्टार्थप्रकाशनम्।– द्वादशारनयचक्र (ज) भाग–१, परिशिष्ट, पृ० १२५।

८३ त्रिरूपलिगवदन परार्थानुमानम्।– न्यायबिन्दु, ३१।

चतुर्थ अध्याय

बौद्ध दर्शन के भ्रम की समीक्षा तत्वमीमांसीय दृष्टि से

चतुर्थ अध्याय

बौद्ध दर्शन के भ्रम की समीक्षा: तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से

(वसुबन्धु, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के अनुसार)

खण्ड (क) : प्रत्यक्षाभास

बौद्ध दर्शन मे भ्रम की समीक्षा करने से पूर्व हमने इसके प्रत्यक्ष ज्ञान का निरूपण किया है, तत्पश्चात् हम इसके भ्रमात्मक ज्ञान की ओर आते है। भ्रमजन्य ज्ञान वहीं पर होता है, जहॉ पर कि यथार्थ ज्ञान का अभाव हो। वैसे असग ने अपने दर्शन मे 'प्रत्यक्ष–लक्षण' मे 'अभान्त' पद का ग्रहण किया था।[1] किन्तु आगे आचार्य दिङ् नाग ने उसे अपने दर्शन मे स्थान नहीं दिया है। आचार्य दिङ्.नाग ने प्रमाण समुच्चय मे प्रतिपादित किया है कि भ्रान्ति सदा मानसिक होती है, ऐन्द्रियक नहीं। ये प्रत्यक्षाभास को कल्पनाजन्य मानते हैं। दिङ्नाग ने चार प्रकार के प्रत्यक्षाभास का निरूपण किया है।[2] जैसे– भ्रान्ति, संवृतिसत्ज्ञान, अनुमानानुमानिक एव सतैमिर।

(१) भ्रान्ति:– जैसे, मरू–मरीचिका मे जलादि की कल्पना।

(२) सवृतिसत् ज्ञान– स्वलक्षण रूप परमार्थसत् मे अर्थान्तर का आरोप कर उसके स्वरूप की कल्पना करना।

(३) अनुमानानुमानिक ज्ञान– जैसे– पूर्वदृष्ट मे एकत्व की कल्पना करने से लिगानुमेयादि का ज्ञान। स्मृतिज्ञान, शब्दज्ञान आदि का भी इसमें समावेश हो सकता है।

(४) सतौमिर:– कमलशील ने तिमिर शब्द को अज्ञान का पर्याय माना है, तथा अज्ञान मे होने वाले विसंवादक ज्ञान को सतैमिर ज्ञान कहा है।[3]

धर्मकीर्ति ने चार प्रत्यक्षाभासो में से प्रथम तीन को कल्पनाज्ञान माना है, तथा चतुर्थ को अविकल्पक प्रत्यक्षाभास के रूप में निरूपित किया है।[4] आचार्य दिङ्नाग ने प्रथम तीन कल्पना ज्ञानो की ही व्याख्या की है, अन्तिम सतैमिर की नहीं। अत: **मसाकी हतौड़ी** का मत है कि दिङ्नाग को तीन ही प्रकार के प्रत्यक्षाभास अभीष्ट थे। तीन प्रकार के प्रत्यक्षाभास का आधार वे वादविधि को मानते हैं, जहॉ भ्रान्तिज्ञान, सवृतिज्ञान एवं अनुमान का निरूपण है। मसाकी हतौड़ी

का कहना है कि दिड्.नाग ने सतैमिर शब्द को प्रत्यक्षाभास का विशेषण बनाया है। उसे पृथक् प्रत्यक्षाभास के रूप मे निरूपित नही किया है।

दिड्.नाग ने न्यायदर्शन के प्रत्यक्षलक्षण मे स्थित अव्यभिचारि पद को अनावश्यक सिद्ध किया है, क्योकि इन्द्रिय एव अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान उनके मत मे व्यभिचार रहित भी होता है। दिड्.नाग का यह मत इस बात को मानने के लिए हमे बाध्य करता है कि मानसभ्रान्ति ही अभीष्ट है, इन्द्रियज्ञान मे वे किसी प्रकार की भ्रान्ति नही मानते हैं।[५] धर्मकीर्ति ने इन्द्रियज्ञान मे भ्रान्ति को बलपूर्वक सिद्ध किया है। यही कारण है कि उन्होने निर्विकल्पक के साथ प्रत्यक्ष का अभ्रान्त होना भी आवश्यक माना है।

इस प्रकार सक्षिप्त रूप मे हमने प्रत्यक्षाभास का ऊपर निरूपण किया है, लेकिन इसके विस्तृत विवेचन के लिए हमको प्रत्यक्ष और भ्रान्ति के विषय को जानना अति आवश्यक है। इन्द्रिय–प्रत्यक्ष को, सवादक ज्ञान के दो प्रमाणो मे से एक माना गया है।, दूसरी विशेषता यह है कि इसको अभ्रान्त होना चाहिए। इन्द्रिय–प्रत्यक्ष ज्ञान, किसी उपदर्शन द्वारा उत्पन्न ज्ञान इन्द्रियो की किसी भ्रान्ति से रहित ज्ञान होता है। धर्मोत्तर का कहना है कि– " वह सवादक ज्ञान जो साक्षात् हो, वही सवादक होता है।"

बौद्धो के अनुसार 'भ्रान्ति' या 'भ्रम' शब्द को एकार्थक नहीं माना है। भ्रम के अनेक प्रकार होते है। एक मुख्य विभ्रम होता है, जिसके अनुसार समस्त आनुभविक ज्ञान एक प्रकार का विभ्रम होता है। एक अन्य प्रातिभासिकी भ्रम होता है, जो मिथ्या विज्ञान की कुछ विशेष दशाओ को ही प्रभावित करती है। ज्ञान आनुभविक दृष्टि से सम्यक् हो सकता है, अर्थात् अनुभवातीत दृष्टि से प्रमाण न होते हुए भी सम्यक् हो सकता है। उदाहरणार्थ– जब दो व्यक्ति एक ही नेत्र व्याधि से पीडित होते हैं, जिसके कारण उन्हे प्रत्येक वस्तु द्विविध दिखाई पडती है, तब उनका ज्ञान यथार्थ न होते हुए भी, अर्थात् वह अन्य समस्त व्यक्तियो के ज्ञान के साथ सगत न होते हुए भी, परस्पर सवादक होगा। इन दोनो व्यक्तियो मे से एक जब चन्द्रमा की ओर सकेत करते हुए यह कहेगा कि "दो चन्द्रमा हैं" तब दूसरा भी यह उत्तर देगा कि "हाँ, वास्तव मे दो चन्द्रमा हैं।" दोनो का ज्ञान परस्पर सवादक है, यद्यपि वह उनकी ज्ञानेन्द्रियो की स्थिति द्वारा सीमित है। प्रत्येक आनुभविक ज्ञान की सर्वथा यही स्थिति होती है– वह हमारे ज्ञानेन्द्रियो की अवस्था द्वारा सीमित होता है।[६] यदि हम एक अन्य अन्त प्रज्ञा से युक्त हों, ऐसी बोधगम्य अ–ऐन्द्रिक अन्तप्रज्ञा से जिससे बुद्ध और बोधिसत्व मात्र ही युक्त होते हैं, तब हम भी प्रत्येक वस्तु का साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, और सर्वज्ञ हो सकते हैं। किन्तु हम किसी

वस्तु के प्रथम क्षण का ही साक्षात् बोध कर पाते है। उसके बाद हमारी बुद्धि की जो प्रक्रिया उस वस्तु के आकार आदि का निर्माण करती है, वह विकल्पात्मक होती है। इस प्रकार समस्त प्रतिभाएँ अनुभवातीत भ्रान्तियॉ होती है, ये परमार्थ सत् नही होती। 'निभ्रान्त' को प्रस्तुत करते समय धर्मोत्तर के अनुसार धर्मकीर्ति इस बात का सकेत करना चाहते थे कि शुद्ध उपदर्शन (विज्ञान) मे, हमारे समस्त ज्ञान के उस विभेदक मे, हमे परमार्थ सत् का, अबोधनीय स्वलक्षण वस्तु का प्रत्यक्ष होता है।[७४] इसके बाद का स्वरूप, प्रापणताये, निश्चय, और अनुमान हमे आनुभविक, कृत्रिम रूप से रचित, विकल्पात्मक ससार मे स्थानान्तरित कर देते है, और इसी अन्तर का सकेत करने के लिए आचार्य धर्मकीर्ति ने इन्द्रिय–प्रत्यक्ष की अपनी परिभाषा मे 'अभ्रान्त' का अर्थ अ–विकल्पात्मक, अरचित, अ–आनुभविक, अनुभवातीत, परमार्थ सत् अर्थ होगा। 'अभ्रान्त' होने की यह विशिष्टता, इस प्रकार इन्द्रिय–प्रत्यक्ष का उस अनुमान तथा अ–ऐन्द्रिक बुद्धि की उन प्रक्रियाओ से विभेद करेगी जो अनुभवातीत दृष्टि से भ्रम है।

'अ–भ्रान्ति' की विशिष्टता के उल्लेख की आवश्यकता आचार्य दिङ्नाग के 'स्व-यूथ' मे भी विवाद का विषय बनी रही। इसका सर्वप्रथम असग ने उल्लेख किया था, यद्यपि हम इनके प्रयोजन से अवगत नहीं हैं। इसको आचार्य दिङ्नाग ने छोड दिया था, लेकिन धर्मकीर्ति ने पुन. ग्रहण कर लिया है। अ–भ्रम की विशिष्टता को छोडने मे आचार्य दिङ्नाग तीन बातो से प्रभावित हुए थे। प्रथमत भ्रम मे सदैव भ्रममय प्रत्यक्षात्मक निश्चय निहित होता है। किन्तु निश्चय किसी विज्ञान के ऐन्द्रिक अश का अग नही होता। यदि हम तट पर स्थित किसी ऐसे वृक्ष के, जो स्थिर है, चलायमान होने का प्रत्यक्ष करने का विचार करे, तो यह बोध कि 'यह एक चल वृक्ष है' एक निश्चय होगा, और प्रत्येक निश्चय बुद्धि की रचना होती है, इन्द्रियो द्वारा प्रक्षिप्त ज्ञान नहीं[८] नैयायिकों के सम्प्रदाय द्वारा प्रस्तुत इन्द्रियप्रत्यक्ष की परिभाषा को, जिसमे 'अ–भ्रम' होने की विशिष्टता भी सम्मिलित है, आलोचना करते समय आचार्य दिङ्नाग यह कहते हैं कि "भ्रम बोध" का विषय बुद्धि द्वारा रचित विषय होता है। इन्द्रिय–प्रत्यक्ष का तात्पर्य यहाँ पर यह है कि शुद्ध इन्द्रिय–प्रत्यक्ष मे कोई भी निश्चय नही होता, न तो उचित और न मिथ्या, क्योकि इन्द्रिय–प्रत्यक्ष विकल्परहित होता है, अत इसमे कोई भ्रम हो ही नहीं सकता है।

यथार्थ ज्ञान को छोड देने में आचार्य दिङ्नाग एक अन्य प्रकार के तथ्य से प्रभावित हुए थे। वे अपने न्याय को उन यथार्थवादियो के, जो बाह्य–जगत् की यथार्थता को अस्वीकार करते थे, लिए ग्राह्य बनाना चाहते थे। कुछ आधुनिक तर्कशास्त्रियो की भाँति ही, प्रत्यक्षत. इन्होंने यह विचार किया कि तर्कशास्त्र इस प्रकार की तत्त्वमीमांसीय समस्याओ के सम्बन्ध मे

निर्णय करने के लिए उपयुक्त आधार नही है। विज्ञान का साक्षात् और परोक्ष के रूप मे विभाजन और निश्चय के तार्किक प्रयोजन दोनो ही दशाओ मे एक ही रहते है, चाहे बाह्यार्थ की यथार्थता को स्वीकार किया जाय या नही। आचार्य दिड् नाग ने अपनी पुस्तक वाद–विधि मे प्रवर्तित वसुबन्धु की इस परिभाषा को अस्वीकृत कर दिया है कि "इन्द्रिय–प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो स्वय (शुद्ध) पदार्थ द्वारा उत्पन्न होता है" क्योकि इसकी एक यथार्थवादी व्याख्या भी सम्भव है। इसी कारण इन्होने यथार्थज्ञान की विशिष्टता को छोडने का भी निश्चय किया, क्योकि इसकी उन योगाचारियो के मत के परित्याग के रूप मे व्याख्या की जा सकती थी, जिनके लिए समस्त आनुभविक विज्ञान एक नितान्त भ्रम है। जिनेन्द्रबुद्धि जी का कथन यह है कि– "यद्यपि इस बात मे विश्वास करते हुए भी कि बाह्य पदार्थ की उसके यथार्थ आशय मे विज्ञान की कोई सम्भावना नहीं है, दिड्नाग विज्ञान की प्रतिक्रिया के परिणामात्मक पक्ष की समस्या के सम्बन्ध मे अपना मत इस प्रकार निर्धारित करने के लिए उत्सुक हैं कि वह उन यथार्थवादियो के लिए भी ग्राह्य हो जो बाह्य जगत् की यथार्थता को स्वीकार करते है, तथा उन विज्ञानवादियो के लिए भी जो इसे अस्वीकार करते है।"

यथार्थवादियो और विज्ञानवादियो, दोनो को सन्तुष्ट करने के लिए आचार्य दिड् नाग ने यथार्थ ज्ञान की विशिष्टता को छोड दिया, और धर्मकीर्ति ने, यद्यपि इसे पुन प्रतिष्ठित किया, तथापि इसकी ऐसी परिभाषा की जिसका कि विज्ञानवादियो के दृष्टिकोण से कोई सघर्ष नहीं रह गया। यथार्थवादियो का मानना है कि सम्यक् निश्चयो को भी मिथ्या निश्चयो की कोटि मे क्यो न रखा जाय। ऐसी स्थिति मे प्रत्येक स्थूल पदार्थ का प्रत्यक्ष एक इन्द्रिय–भ्रम या मिथ्या है, क्योकि "स्थूलता कभी भी एक सरल प्रतिभास नही होती।"[६] ठीक इसी प्रकार किसी वस्तु की अवधि भी भ्रम या मिथ्या होगी, क्योकि केवल क्षणिक सत्य का ही सरल प्रतिभास होता है। किसी वस्तु का एकत्व विभिन्न परमाणुओ के सघात से निर्मित उसके अगो का एकत्व भी, एक भ्रान्ति होगा, ठीक उसी प्रकार जैसे, अनेक वृक्षो की अपेक्षा दूर से दिखाई पडने वाले एक वन का प्रत्यक्ष एक भ्रान्ति है। इसके विपरीत, यदि इन्हे सम्यक् प्रत्यक्ष माना जाय तब सीमा कहाँ रह जाती है? तब दो चन्द्रमा का प्रत्यक्ष, तीव्र गति से घुमाई जाने वाली उल्मुक के चक्र का प्रत्यक्ष, किसी नाव पर बैठे यात्री द्वारा चलायमान वृक्षो का प्रत्यक्ष, इत्यादि ही क्यो भ्रान्तियाँ होंगी?

ऐसी स्थिति होने पर भी, आचार्य दिड्नाग इस बात या तथ्य को अस्वीकार नहीं करते कि भ्रान्तिपूर्ण और मिथ्या प्रत्यक्ष होते ही नहीं, किन्तु इनका अलग विवेचन किया जाना

आवश्यक है। जिस प्रकार हेत्वाभास अथवा अवैध–अनुमान होते है, उसी प्रकार प्रत्यक्षाभास अथवा इन्द्रिय–जन्य अवैध विज्ञान भी होते है, किन्तु ये इन्द्रियो से नही बल्कि बुद्धि द्वारा उत्पन्न होते है। ये भावी इन्द्रिय–प्रत्यक्ष चार प्रकार के होते है, जो इस प्रकार है–

(१) भ्रान्तियाँ, जैसे मरीचिकाये– इन्हे बुद्धिजन्य मानना चाहिए क्योकि मरुभूमि मे कुछ प्रकाश–किरणो का जल के रूप मे ग्रहण कर लेने के बुद्धिभ्रम से इनकी उत्पत्ति होती है,

(२) सवृत्तिस ज्–ज्ञान अनुभवातीत भ्रम होता है, क्योकि यह किसी बाह्यार्थ के स्थान पर किसी विषयभूत आकार के भ्रम द्वारा निर्मित होता है,

(३) समस्त अनुमान और उसके परिणाम को अवैध रूप से इन्द्रिय–प्रत्यक्ष मान लिया गया है, जैसे– जब हम यह कहते है कि "यह अग्नि का चिन्ह, धूम, है" "अथवा धूम की उपस्थिति द्वारा अग्नि की उपस्थिति का सकेत मिलता है," तब यह निश्चय वास्तव मे स्मृतिजन्य ही होते है, यद्यपि अवैध रूप से इन्हे प्रत्यक्षात्मक निश्चय का रूप दे दिया जाता है, और

(४) समस्त स्मृतियॉ तथा समस्त इच्छाये, यत ये पूर्व–अनुभव द्वारा उत्पन्न होती हैं, अत प्रज्ञा द्वारा उत्पन्न होती है।

हम उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुॅचते है कि आचार्य दिङ्.नाग 'भ्रम' की धारण का सामान्यीकरण करते हुए मृग–मरीचिका जैसी आनुभविक भ्रान्तियो या भ्रमो को तथा हमारे समस्त सावृत्तिक ज्ञान द्वारा व्यक्त अनुभवातीत को ही स्तर पर रखते हैं। इनका इन्द्रिय–प्रत्यक्ष विशुद्ध विज्ञान है जो समस्त स्मृति धर्मो से सर्वथा रहित होता है। विशुद्ध विज्ञान के लिए यथार्थज्ञान होने की विशिष्टता व्यर्थ है, क्योकि इस प्रकार का विज्ञान न तो सम्यक् होता है और न मिथ्या। आचार्य दिङ्नाग का कहना है कि इन्द्रिय–ग्राह्यता का सवादक कल्पनात्मक रचना से विभेद किया जाना चाहिए, क्योकि यह रचना ही हमारी अर्थक्रियाकारित्व की वास्तविक निर्देशक होती है।

आचार्य धर्मकीर्ति वैसे तो दिङ्नाग के शिष्य है, लेकिन उन्होंने आचार्य दिङ्.नाग के मतो मे अपनी भिन्नता जतायी है। उदाहरण के लिए जब हमे एक रस्सी से सर्प का भ्रम हो जाता है, तब इसकी इन्द्रियो के समक्ष उपस्थिति वस्तु की हमारी प्रज्ञा द्वारा एक गलत व्याख्या के कारण ही उत्पत्ति होती है। यह भ्रम उसी समय समाप्त हो जाता है, जब हमे यह विश्वास

हो जाता है कि वह वस्तु सर्प नहीं बल्कि एक रस्सी थी। किन्तु जब कोई व्यक्ति दो चन्द्रमा देखता है तब यह भ्रम बना रहेगा, चाहे उसे इस बात का विश्वास हो कि चन्द्रमा एक ही है। इसके अतिरिक्त 'निरधिष्ठान—ज्ञान'[10] तथा स्वप्न भी होते है। जो साक्षात् रूप मे इन्द्रिय—प्रत्यक्ष की विशिष्टता होती है। ये उस अस्पष्टता तथा सामान्यता से भी रहित होते है जो विकल्पात्मक विचार की विशिष्टता है। इन्हे किसी एक वस्तु के बदले दूसरे का बुद्धिजन्य भ्रम नही कहा जा सकता है, क्योकि वह बात इनमे सर्वथा अनुपस्थित होती है। यहॉ पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि हम इस बात पर अटल रहे कि सभी विकल्प भ्रमात्मक होते है, तब हम यह कह सकते हैं कि 'निरधिष्ठान ज्ञान' सम्यक् प्रत्यक्ष होते है, क्योकि इनका किसी वस्तु के स्थान पर एक दूसरे के मिथ्याज्ञान से निर्माण नही होता है।[11] यदि हम भ्रम तथा निरधिष्ठान—ज्ञान की प्रकृति से सम्बद्ध इस अत्यन्त मनोरजक विवेचन के समस्त विवरणो का अध्ययन करना चाहे तो यह हमे काफी दूर तक ले जायेगा। धर्मकीर्ति का मानना है कि कुछ ऐसे भ्रम होते हैं, जिनको इन्द्रियजन्य मानना चाहिए, और यह कि यथार्थज्ञान की विशिष्टता को सम्यक् ज्ञान के एक प्रमाण के रूप मे इन्द्रिय—प्रत्यक्ष की परिभाषा मे सम्मिलित करना निरर्थक नहीं है। इस विवाद को धर्मोत्तर ने यह कहकर समाप्त किया कि "भ्रम के कारण अनेक है। ये बाह्य वस्तु में स्थित हो सकती है अथवा स्वय निरीक्षक व्यक्ति मे, ये किसी इन्द्रिय की किसी व्याधि से उत्पन्न हो सकती हैं, किन्तु ये सर्वथा अध्यात्मगत भी हो सकती है जैसे मानसिक विकार से ग्रस्त व्यक्ति की दृष्टि। किन्तु भ्रम की सभी दशाओ मे इन्द्रियॉ अनिवार्यत सम्मिलित होती हैं, अर्थात् ये एक असामान्य स्थिति मे होती है। इस प्रकार यह सत्य माना जा सकता है कि इन्द्रियॉ निश्चय नहीं करतीं इनमे कोई निश्चय निहित नहीं होता है— न तो ठीक और न गलत ही— किन्तु असामान्य स्थिति मे होने के कारण इन्द्रियॉ निश्चय की प्रक्रिया को प्रभावित करके प्रज्ञा को भ्रमित कर सकती है।

इस प्रकार इस निष्कर्ष को देखते हुए हमको काण्ट का वह मत याद आता है, जब वे यह मानते हैं कि "इन्द्रियॉ गल्ती नहीं कर सकतीं, क्योकि इनमे चाहे सत्य अथवा मिथ्या या असत्य, कोई भी निश्चय होता ही नहीं है। इन्द्रिय ग्राह्यता, यदि सम्बद्ध वस्तु को उसी रूप मे ग्रहण करने की अपनी क्रियाशीलता मे प्रज्ञा के अधीन हो तो यथार्थ ज्ञान का स्रोत होती है, किन्तु यदि यह स्वयं प्रज्ञा की क्रिया को प्रभावित करे और निश्चय की ओर अग्रसर हो तो त्रुटि का कारण हो सकती है।"

ऊपर दिये गये विचारो से हमे यह प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति हमारे विज्ञान में प्रज्ञा या विकल्प के महत्व को ग्रहण करने मे दिङ्नाग से असहमत थे। आचार्य दिङ्.नाग के अनुसार

अन्त प्रज्ञा की अपेक्षा उसके आधार का निर्माण करती है। धर्मकीर्ति के विचार मे अन्त प्रज्ञा विस्तार की दृष्टि से विज्ञान से कहीं अधिक व्यापक है। विज्ञान अथवा ग्राह्य अन्त प्रज्ञा ही साक्षात् ज्ञान का एकमात्र प्रकार नही है। ग्राह्य अन्त प्रज्ञा ही साक्षात् ज्ञान का एकमात्र मार्ग नहीं है, इसके अतिरिक्त एक मानस–योगिज्ञान भी होता है। इसका एक क्षण प्रत्येक इन्द्रिय–प्रत्यक्ष मे उपस्थित रहता है।

साक्षात् ज्ञान के प्रकार

साक्षात्–ज्ञान के मुख्यत चार प्रकार बताये गये है–

(१) इन्द्रिय–प्रत्यक्ष,

(२) मानस–प्रत्यक्ष (मनोविज्ञान),

(३) स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष एव

(४) योगि प्रत्यक्ष।

'अक्षमक्ष प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षम्' आचार्य दिङ् नाग ने प्रत्यक्ष शब्द की जो व्युत्पत्ति की है, वह मुख्यत इन्द्रियजन्य ज्ञान को इगित करती है। आचार्य दिङ् नाग ने 'प्रमाणसमुच्चय' मे एक प्रश्न उठाया है कि प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रिय एव विषय (अर्थ) दोनो के अधीन है, फिर उसे विषय के आधार पर प्रतिविषय नहीं कह कर प्रत्यक्ष क्यो कहा जाता है? इस प्रश्न का समाधान 'अभिधर्मकोश'[१२] मे है, जिसे दिङ् नाग ने भी प्रस्तुत किया है। दिङ् नाग का कथन है कि असाधारण कारण के आधार पर व्यपदेश किया जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान मे इन्द्रियाँ असाधारण कारण है, अत उनके आधार पर इस ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है।[१३] धर्मकीर्ति का कहना है कि गमकत्व के आधार पर व्यपदेश किया जाता है। यहाॅ इन्द्रियाॅ गमक हैं तथा विषय गम्य। अत गमक के आधार पर प्रत्यक्ष व्यपदेश किया गया है। बौद्धन्याय के अनुसार इन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है, इन्द्रिय नही, क्योकि ज्ञान ही अर्थ का प्रापक एव उसमे प्रवर्तक होता है।

सक्षिप्त रूप मे श्रोतादि पाॅच इन्द्रियो से होने वाले अर्थ को कल्पनापोढ एव अभ्रान्त ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। बौद्ध दर्शन मे प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण एव अनुमान का विषय सामान्य लक्षण है। बौद्ध दर्शन मे प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण स्वीकार करते हुए भी आलम्बन के सचित रूप को अथवा अनेक अर्थो (स्वलक्षण परमाणुओ) से जन्य सामान्य स्वलक्षण को प्रत्यक्ष का विषय प्रतिपादित किया गया है। "सञ्चितालम्बनाः पञ्चविज्ञानकाया" बौद्धो का प्रसिद्ध सिद्धान्त है। दिङ्नाग ने इसे "तत्रानेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरम्।"

कहकर पुष्ट किया है। **धर्मकीर्ति** का मानना है कि समुदाय को सञ्चित कहा जाता है, तथा उसी को दिङ्नाग द्वारा सामान्य शब्द से कहा गया है। उस सामान्य मे ही इन्द्रियज्ञान निहित होता है। धर्मकीर्ति की यह आशका है कि सामान्य का ज्ञान होने के कारण यह विकल्पक हो जायेगा, तब प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होता है, यह कैसे कहा जा सकता है? इसके समाधान मे धर्मकीर्ति का कहना है कि एक परमाणु दृश्य नही होता, अनेक परमाणु मिलकर ही ज्ञान उत्पन्न करने मे सक्षम होते है, अत सञ्चित अणुओ को प्रत्यक्ष का विषय समझना चाहिए, किन्तु ये सचित अणु परमाणुओ से पृथक नही है।

इन्द्रिय–प्रत्यक्ष की भाँति मानस–प्रत्यक्ष का आलम्बन भी रूपादि विषय है तथा यह भी निर्विकल्पक होता है एव ज्ञानाकार होकर प्रवृत्त होता है।[१४] धर्मकीर्ति ने मानस–प्रत्यक्ष की निम्न विशेषताएँ बतायी है–

प्रथमतः यह इन्द्रिय ज्ञान के अनन्तर उत्पन्न होता है। **द्वितीयतः** इन्द्रियज्ञान के विषय क्षण (स्वलक्षण क्षण) के अनन्तर उत्पन्न सजातीय द्वितीयक्षण इसका विषय बनता है। धर्मोत्तर मानस प्रत्यक्ष को सिद्धान्त से स्वीकार करते है। अन्यथा उनके मत मे मानस प्रत्यक्ष का साधक प्रमाण नहीं है।[१५] कुछ बौद्ध दार्शनिको के मत मे मानस–प्रत्यक्ष अयुक्त है।

स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष मे बाह्य पदार्थो का प्रत्यक्ष नही होता, अपितु समस्त आन्तरिक ज्ञान एव सुख दु खादि का सम्वेदन होता है। आचार्य दिङ्नाग ने स्वसम्वेदन को मानस–प्रत्यक्ष का ही पर्याय माना है। बौद्ध दर्शन मे सुख–दु ख, राग-द्वेष आदि का ज्ञान स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष के द्वारा होता है। धर्मकीर्ति ने स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष को मानस प्रत्यक्ष से भिन्न माना है, तथा इसे– "समस्त चित्त और चैत्त पदार्थो का आत्मसम्वेदन या स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होता है।" चित्त का अर्थ ज्ञान है जो अर्थ मात्र का ग्राहक होता है, तथा चित्त मे प्रकट होने वाली सुख-दु खादि रूप विभिन्न अवस्थाएँ चैत्त है। चित्त एव चैत्तो का ज्ञान होना स्वसम्वेदन है।

साख्य–दर्शन मे जहॉ प्रकृति के सुख–दु ख मोहात्मक होने से नीलादि भी सुख–दु ख मोहात्मक होते हैं, वहॉ बौद्ध मत मे बाह्य नीलादि पदार्थ सुख–दु खात्मक नहीं होते, ज्ञान ही सुख–दु॰खात्मक होता है। अत ज्ञान के साथ सुख–दु ख का भी स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होता है। चित्त एव चैत्तो का ज्ञानरूप अनुभव अपने स्वरूप का साक्षात्कार करता है, साथ ही वह कल्पना रहित एव अभ्रान्त है, अत इसे प्रत्यक्ष कहा गया है।

प्रत्यक्ष का एक अन्य भेद योगि–प्रत्यक्ष है। आचार्य दिङ्.नाग का मानना है कि योगी का ज्ञान गुरू के निर्देश अथवा आगम की कल्पना से रहित होता है, तथा इससे अर्थमात्र का बोध

होता है। धर्मकीर्ति के अनुसार यह ज्ञान चार आर्य सत्य आदि यथार्थ अथवा भूतार्थ का पुन-पुन चिन्तन करने से उत्पन्न होता है। जब यथार्थ तत्वो के चिन्तन का प्रकर्ष हो जाता है तब योगिप्रत्यक्ष ज्ञान प्रकट होता है। भूतार्थ की भावना का प्रकर्ष स्फुट आभास के आरम्भ की अवस्था है। प्रकर्ष पर्यन्त अवस्था वाला अभ्रक से व्यवहित पदार्थ के समान पूर्णत स्पष्ट नहीं जानता है, किन्तु योगिप्रत्यक्ष वाला मनुष्य भव्यमान वस्तु का हस्तामलकवत् स्पष्ट दर्शन करता है।

शेरबात्स्की का मानना है कि योगी का प्रत्यक्ष मानसिक ज्ञान है। इसमे इन्द्रियो के सहयोग की कोई आवश्यकता नहीं होती। इसके प्रत्यक्ष कोटि मे आने का मुख्य कारण इसकी स्फुटाभता है। योगिप्रत्यक्ष मे कल्पनापोढत्व की सिद्धि हेतु स्फुटाभता को प्रकारान्तर से स्थान दिया गया है।

ऊपर हमने प्रत्यक्ष के अन्तर्गत यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने के चार प्रकारो का सक्षिप्त वर्णन किया है। प्रत्यक्ष के सम्बन्ध मे कुछ भारतीय तथा कुछ योरोपीय दार्शनिको के भी मत हैं कि कब यह यथार्थज्ञान भ्रम के रूप मे प्रतीत होने लगता है, या प्रत्यक्ष के क्या लक्षण हैं न्यायसूत्रो मे प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार था– इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न, अव्यभिचारी, अव्यपदेश्य एव व्यवसायात्मक ज्ञान। आचार्य दिड्नाग ने इस लक्षण को केवल कल्पनापोढता से लक्षित किया। उद्योतकर ने इस लक्षण की भ्रान्ति मे अतिव्याप्ति प्रदर्शित की। बाद मे धर्मकीर्ति ने दिड्नाग के लक्षण मे 'अभ्रान्त' पद का अधिक निवेश कर उसका परिष्कार किया।

एक व्याख्या के अनुसार 'प्रत्यक्ष, यह सज्ञा है, कल्पनापोढत्वादि सज्ञी है, इसलिए सूत्र संज्ञा और सज्ञी का सम्बन्ध प्रतिपादित करता है। एक अन्य व्याख्या के अनुसार 'अन्यत्र प्रसिद्ध कल्पनापोढत्व और अभ्रान्तत्व का अनुवाद सूत्र प्रत्यक्षत्व का विधान करता है।' लेकिन प्रस्तुत स्थल पर यह शका नहीं करनी चाहिए कि यह कल्पनापोढता और अभ्रान्तता अप्रसिद्ध हैं तो प्रत्यक्ष–ज्ञान का अन्य क्या रूप शेष रहेगा जो 'प्रत्यक्ष' शब्द का वाच्य हो और जिसका यहाँ पर अनुवाद किया जाय। क्योकि इन्द्रियो के साथ अन्वय–व्यतिरेक के द्वारा सम्बद्ध विषयो का साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष शब्द का सबके लिए प्रसिद्ध वाच्य है। 'कल्पना से अपोढ अर्थात् अपेत्', यह कल्पनापोढ का अर्थ है, अर्थात् कल्पना–स्वभाव से रहित। अर्थक्रिया–समर्थ वस्तु के स्वरूप के अविपरीत ज्ञान को अभ्रान्त कहते है।[९६] अर्थक्रिया–समर्थ वस्तु रूप संस्थान–विशिष्ट वर्णात्मक होता है। उसमे जो भ्रम नही होता है वह अभ्रान्त ज्ञान है। अभ्रान्त को ग्रहण न करने

पर'—चलते हुए वृक्ष' का दर्शन आदि भी प्रत्यक्ष ज्ञान माना जाएगा, क्योकि वह भी कल्पनापोढ है।[७७] उस ज्ञान के आधार पर प्रवृत्त हुए व्यक्ति को वृक्ष—मात्र की प्राप्ति होती है, इसलिए वह ज्ञान सवादक होने के कारण सम्यक् ज्ञान है और कल्पनापोढ होने के कारण प्रत्यक्ष है, यह आशका हो सकती थी। उसकी निवृत्ति के लिए अभ्रान्त का ग्रहण किया गया क्योकि वह 'चलते हुए वृक्ष का दर्शन आदि' भ्रम होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं है, और त्रिरूप हेतु से उत्पन्न न होने के कारण अनुमान भी नहीं है और न कोई अन्य प्रमाण। इसलिए 'चलते हुए वृक्ष' का दर्शन आदि मिथ्या या भ्रमात्मक ज्ञान है, यह निश्चित होता है। यदि तट के पीछे खिसकते वृक्षो का दर्शन मिथ्या ज्ञान है तो उससे वृक्ष—प्राप्ति कैसे होती है? उससे नही होती है। उस ज्ञान ने जिस वृक्ष का अवधारण किया था, वह नाना—देशगामी था, जो वृक्ष प्राप्त होता है वह एक स्थान पर निर्भर है। उस ज्ञान से जगम वृक्ष जिस स्थान पर देखा गया था उस स्थान पर प्राप्त नही होता। जिस स्थान पर प्राप्त होता है, उस स्थान पर देखा नहीं गया था। इसलिए उस ज्ञान से कोई वस्तु प्राप्त नहीं होती। (यह सवादि—भ्रम के सिद्धान्त का ही खण्डन है।) दूसरे ही ज्ञान से वृक्षादि वस्तु की प्राप्ति होती है। इसलिए 'अभ्रान्त' पर का ग्रहण विप्रतिपत्ति के निरास के लिए है। इसी प्रकार 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण विप्रतिपत्ति के निरास के लिए है।

इसी प्रकार 'अभ्रान्त' के ग्रहण से अनुमान के निवर्तित होने पर 'कल्पनापोढ' का ग्रहण विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए[७८] क्योकि अनुमान अपने अवस्तुभूत प्रतिभास मे वस्तु के निश्चय को आरोपित करके प्रवृत्त होने के कारण भ्रम होता है। दूसरी ओर प्रत्यक्ष अपने ग्राह्य रूप मे विपर्यस्त नही होता। सम्यग्ज्ञान ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, असम्यग् ज्ञान नही।

कल्पनापोढत्व और अभ्रान्तत्व— ये दोनो परस्पर सापेक्ष होकर प्रत्यक्ष का लक्षण हैं, यह अलग—अलग नही हैं, यह दिखलाने के लिए इस प्रकार कहा गया है कि कल्पना रहित जो अभ्रान्त ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है। इससे हमे यह प्रदर्शित होता है कि दोनो लक्षण परस्पर—सापेक्ष होकर प्रत्यक्ष को अपना लक्ष्य बनाते हैं। '**तिमिर**' का अर्थ है आँखो का रोग—विशेष। यह इन्द्रिय-गत भ्रम का कारण है। आशु—भ्रम से अलात अर्थात् जलती हुई लकडी आदि का घुमाना अभिप्रेत है। जलती हुई लकडी के मन्द गति से घुमाने पर चक्र का भ्रम नही उत्पन्न होता, इसलिए भ्रमण को आशु से विशेशित किया। यह भ्रम का विषयगत कारण है। नौ—यान से अर्थ है नाव का जाना। चलती हुई नाव मे बैठे हुए को चलते हुए वृक्षों का भ्रम होता है, इसलिए 'यान' शब्द का ग्रहण किया गया। यह भ्रम का बाह्य आश्रय मे स्थित कारण है। सक्षोभ बात, पित्त और कफ का अभिप्रेत है। वात आदि के क्षुब्ध होने पर जलने की अथवा जडता आदि का भ्रम उत्पन्न होता है। यह भ्रम का आन्तरिक आश्रयगत कारण है।

भ्रम के सब कारण, चाहे वे इन्द्रियगत हो अथवा विषयगत, बाह्य आश्रयगत हो अथवा आन्तरिक आश्रयगत, वे इन्द्रिय मे ही विकार उत्पन्न करते है। इन्द्रियो मे विकार न होने पर उनके प्रत्यक्ष मे भ्रम नहीं होता है। सक्षोभपर्यन्त कहे हुए कारण इस प्रकार के कारणो मे से कुछ है। 'आदि' पद के ग्रहण से अन्य इसी प्रकार के कारण लिए जा सकते है, जैसे— काच, कामला आदि ऑख के रोग जो कि इन्द्रियगत है, सवेग लाना और ले जाना आदि जो विषयगत हैं— जलती लकडी के तेजी से लाने-ले जाने मे दण्डाकार ज्वाला का भ्रम होता है।— हाथी की सवारी आदि मे बाहरी आश्रय मे स्थित भ्रम के कारण होते है, गहरे मर्मप्रहार आदि आन्तरिक आश्रय मे स्थित भ्रम के हेतु होते हैं। इन सबसे जिस ज्ञान मे भ्रम नहीं डाला गया है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।

कुछ लोगो का मत है कि इन्द्रियॉ ही द्रष्टा है जैसे— वैभाषिक, कुछ अन्य मानस प्रत्यक्ष मे दोष निकालते है, और स्वसम्वेदन तथा योगिज्ञान को नही स्वीकार करते हैं। (कुमारिल और न्याय—वैशेषिक के अनुयायी स्वसम्वेदन को नही मानते है। चार्वाक और मीमासक योगि—प्रत्यक्ष को अस्वीकार करते हैं।)

अब यही कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षत. वसुबन्धु ने दो परिभाषाओ की रचना की थी। प्रथम वह है जिसे उन्होने अपने 'वाद विधि' मे सम्मिलित किया है। उनके अनुसार "इन्द्रिय—प्रत्यक्ष वह ज्ञान होता है जो स्वय विषय या वस्तु से उत्पन्न होता है।" दिङ्नाग ने इस परिभाषा की आलोचना की है, क्योकि यह यथार्थवादियो की उस परिभाषा के अत्यन्त समान है जिसके अनुसार "इन्द्रिय—प्रत्यक्ष वस्तु तथा इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है"। वैसे 'वाद—विधान' नामक कृति मे वसुबन्धु ने सम्भवत अपनी परिभाषा को दिङ्नाग की परिभाषा से काफी सन्निकटता दिखायी है।

हम यह देख चुके है कि भ्रम एव प्रत्यक्ष ज्ञान या यथार्थज्ञान के विषय में बौद्ध दार्शनिको के तथा अन्य दार्शनिकों के मध्य मुख्य विवाद का विषय बना रहा है कि अपने शुद्ध आशय या अर्थ मे इन्द्रिय—प्रत्यक्ष या यथार्थ ज्ञान मे प्रत्यक्षात्मक निश्चय भी सम्मिलित होता है, अथवा नहीं। इस प्रश्न को इस प्रकार से पूँछा जा सकता है: क्या शुद्ध ऐन्द्रिक अन्त·प्रज्ञा अथवा शुद्ध विज्ञान एक यथार्थता है? हमारा काम यहाँ भारतीय सिद्धान्त को प्रस्तुत करना तथा इसे यथासम्भव स्पष्ट करने के लिए इसके विरोधी सिद्धान्तो का उल्लेख करना है। इसका आधारभूत सिद्धान्त सर्वथा स्पष्ट प्रतीत होता है. इन्द्रियाँ तथा प्रज्ञा ज्ञान के दो भिन्न प्रमाण हैं— यह भिन्नता मात्रा की नहीं बल्कि तत्व की है, अर्थात् एक के होने के समय दूसरा नहीं होता। फिर

भी दोनो प्रमाणो मे अन्तर्क्रिया होती है। हम अपने अनुसन्धान के क्रम मे इस विषय के विवेचन के और तत्सम्बन्धी कठिनाइयो का सकेत आगे अपने परिणाम मे करते रहेगे।

योरोपीय दार्शनिको मे, रीड का प्रत्यक्ष के साथ तथा आदर्श पुररूद्धार के साथ तीक्ष्ण विभेद करने के कारण प्रमुख हैं। इनके लिए **'विज्ञान'** शब्द एक ऐसी विषयात्मक अवस्था का द्योतक है जिसमे बाह्यवस्तु पर कोई ज्ञान निहित नही होता है। किसी प्रकार के विज्ञान का होना ज्ञानेन्द्रिय पर पडने वाले किसी प्रभाव के कारण उत्पन्न एक प्रकार की सवेदना का अनुभव करना है। शुद्ध विज्ञान विशुद्धत एक सवेदात्मक चेतना है। इसी प्रकार, बाह्यवस्तुओ द्वारा उत्पन्न एक निश्चित प्रभाव के रूप मे न तो लॉक के 'विचार' ने, और न ह्यूम के 'विचार' ने ही जो 'क्षीणतर' हो गया भाव है', शुद्ध सवेदना और 'पूर्ण प्रत्यक्ष' मे कोई पर्याप्त विभेद किया है।

फिर भी **लाइबनीत्ज्** ने इस बात का स्पष्ट अनुभव किया कि यान्त्रिक आधारो पर प्रत्यक्ष की व्याख्या नहीं की जा सकती है, और प्रत्यक्ष की अनुभवातीत उत्पत्ति से इन्हे उलझन भी होती है, लेकिन इसके बावजूद भी इनके लिए सवेदना एक अस्तव्यस्त प्रत्यक्ष ही बनी रही।

काण्ट के लिए यह 'कल्पना' आनुभविक प्रत्यक्ष का एक आवश्यक अग है। इस विषय मे काण्ट के सिद्धान्त का रीड तथा भारतीय दार्शनिको से काफी साम्य है। बौद्धो का मानना है कि बिना विज्ञान के हमारा ज्ञान 'वस्तुशून्य' होगा। काण्ट का कथन है कि "बिना अन्त प्रज्ञा के हमारा समस्त ज्ञान पदार्थो से रहित होगा, और इसलिए वह सर्वथा शून्य रहेगा"। " यदि आनुभविक ज्ञान से समस्त विचारो को निकाल दिया जाय तब किसी भी पदार्थ का कोई भी ज्ञान शेष नहीं रहेगा।" क्योकि काण्ट के कथनानुसार केवल अन्त प्रज्ञा मात्र द्वारा कुछ भी विचार नही किया जा सकता। धर्मोत्तर का कथन है कि "बिना किसी प्रत्यक्षात्मक निश्चय के शुद्ध विज्ञान ऐसा होता है मानो उसका कोई अस्तित्व ही नही था। काण्ट का मानना है कि "बिना सम्प्रत्ययो के अन्त.प्रज्ञा अन्धी होती है। बौद्ध का मानना है कि "बिना विकल्पो के शुद्ध विज्ञान मात्र के द्वारा हम न तो कभी यह जान सकेगे कि कहॉ कर्म करना चाहिए और न यही कि कहॉं कर्म से विरत होना चाहिए।" काण्ट का मानना है कि ये दोनो शक्तियॉं अपने–अपने कार्यो का आदान–प्रदान नहीं कर सकतीं। प्रज्ञा देख नहीं सकती, इन्द्रियॉ विचार नहीं कर सकतीं। इस तथ्य को बौद्धो ने सैकडो बार कहा होगा और दोहराया होगा। काण्ट का कथन है कि इनके सम्मिलन से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। बौद्ध का मानना है कि "केवल सफल अर्थक्रिया की दृष्टि से ये दोनो प्रकार ज्ञान के सम्यक् माध्यम हैं। काण्ट का मानना है कि "इन

दोनो क्षम्ताओ मे से कोई भी एक दूसरे की अपेक्षा अपेक्षणीय नही है।" बौद्ध का मानना है कि "इन्द्रियप्रत्यक्ष ही इनमे से प्रमुख नही है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनुमान (अर्थात् विज्ञान और प्रज्ञा) दोनो का बल समान है। काण्ट का मानना है कि "शुद्ध अन्त प्रज्ञा और शुद्ध सम्प्रत्यय केवल अनुभवनिरपेक्ष रूप से ही सम्भव है।"

बी रसेल के अनुसार, "सिद्धान्तत, यद्यपि अक्सर व्यवहारत नही, किसी वस्तु के अपने प्रत्यक्ष मे हम उस अश को जो गत अनुभवजन्य होता है, ऐसे अश से पृथक् कर सकते है, जो उस वस्तु के प्रकृतिजन्य किसी भी स्मृत्यात्मक प्रभाव के बिना ही उत्पन्न होता है।" "सवेदना वास्तविक अनुभव मे एक सैद्धान्तिक बीज है, वास्तविक अनुभव तो प्रत्यक्ष होता है।"

सिग्वर्ट के अनुसार इस आकार का प्रत्यक्ष कि 'यह सुवर्ण है' अनुमान से युक्त है। इसका तात्पर्य यह होगा कि प्रत्येक प्रत्यक्ष मे अनुमान निहित होता है, किन्तु सिग्वर्ट के विचार है कि शुद्ध सम्वेदना केवल रगों के प्रत्यक्ष को ही सूचित करती है जो एक इन्द्रधनुष देखता है वह केवल इतना ही कह सकता है कि वह एक विशेष रूप से व्यवस्थित रगो को देख रहा है।" **बौद्ध का यह मानना है कि शुद्ध सम्वेदना (प्रत्यक्ष) द्वारा "हम वास्तव मे नीले का प्रत्यक्ष तो करते हैं किन्तु हम यह नहीं जानते कि यह नीला है"** (नीलम् विजानाति, न तु 'नीलम् इति' विजानाति)। आधुनिक दार्शनिको मे **एच. बर्गसॉ** ने इन्द्रियो और प्रज्ञा के बीच की सीमारेखा की पुन स्थापना का प्रयास किया है। प्रत्यक्ष मे कुछ ऐसा होता है जिसका स्मृति मे कोई भी अस्तित्व नहीं होता और वही अन्त प्रज्ञात्मक रूप से गृहीत सत्य होता है। यह सिद्धान्त बौद्धो के सिद्धान्त के अनुसार शुद्ध प्रत्यक्ष परमार्थ–सत् को स्वीकार करता है। (निर्विकल्पकम् प्रत्यक्षम् परमार्थसत् गृह्णाति)

निष्कर्षत हम यह कह सकते है कि आचार्य दिङ्नाग इस तथ्य को अस्वीकार नहीं करते कि भ्रमपूर्ण और मिथ्या प्रत्यक्ष होते ही नहीं, किन्तु इनका अपना अलग विवेचन किया जाना चाहिए। प्रत्यक्षाभास हमे इन्द्रियो से नहीं बल्कि बुद्धि द्वारा उत्पन्न होता हैं। ये भावी इन्द्रिय–प्रत्यक्ष चार प्रकार के होते हैं जो कि निम्न प्रकार से हैं– (१) भ्रम– जैसे–मरीचिकायें: इन्हे बुद्धिजन्य मानना चाहिए क्योकि मरूभूमि में कुछ प्रकाश किरणो को जल के रूप मे ग्रहण कर लेने के बुद्धिभ्रम से इनकी उत्पत्ति होती है। (२) सुवृत्तिस ज्–ज्ञान अनुभवातीत भ्रम होता है, क्योकि यह किसी बाह्यार्थ के स्थान पर किसी विषयभूत आकार के भ्रम द्वारा होता है। (३) समस्त अनुमान और उसके परिणाम को अवैध रूप से इन्द्रिय–प्रत्यक्ष मान लिया गया है, जैसे, 'यह अग्नि का चिन्ह धूम है' अथवा धूम की उपस्थिति द्वारा अग्नि की उपस्थिति का संकेत

मिलता है'। समस्त स्मृतियाँ तथा समस्त इच्छाये यत ये पूर्व–अनुभव द्वारा उत्पन्न होती है, अत प्रज्ञा द्वारा उत्पन्न होती है।

खण्ड (ख) : हेत्वाभास

बौद्ध दर्शन मे हेत्वाभास, यथार्थ रूप मे भ्रम का स्वरूप है। लेकिन प्रश्न यह है कि यह भ्रम स्वरूप कब होता है? यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान वह ज्ञान है जो सिद्ध ज्ञान है अर्थात् ऐसा ज्ञान होता है जिसके बाद अध्यवसाय या निश्चय आता है, और उसके भी बाद पुरुषार्थसिद्धि। इसके विपरीत, वह ज्ञान जो भ्रमित कर देता है, जो चेतन प्राणियो के लिए उनकी आकाक्षाओ और इच्छाओ का वचक होता है, मिथ्याज्ञान होता है। सशय और विपर्यय यथार्थ ज्ञान के विरुद्धधर्मी हैं। बौद्ध–दर्शन मे यथार्थ ज्ञान के मुख्य स्रोत मुख्य रूप से दो माने गये है–

(१) प्रत्यक्ष,

(२) अनुमान।

प्रत्यक्ष और अनुमान के ज्ञान के विषय मे पूर्व मे बताया जा चुका है। हेत्वाभास को अवैध अनुमान कहा जाता है। जो हेतु नहीं होता, किन्तु हेतु के सदृश प्रतीत होता है उसे भारतीय दर्शन मे हेत्वाभास कहा गया है। बौद्धो ने त्रिरूप हेतु को सद्हेतु कहा है, इसलिए वे इन तीनो रूपो मे से एक रूप का कथन न करने पर भी उसे हेत्वाभास माना है। यथार्थ या सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन तीनो नियमो का पालन करना आवश्यक है। जब इस नियम के विपरीत हमको कोई ज्ञान प्राप्त होता है तो वह बौद्ध दार्शनिको के अनुसार भ्रमात्मक ज्ञान होता है। इसके नियम निम्न तीन प्रकार से है [१६]

(१) निष्कर्ष के उद्देश्य मे ही अनिवार्य उपस्थिति, अर्थात् उद्देश्य की सम्पूर्ण परिधि मे इसकी अनिवार्य उपस्थिति।

(२) इसकी केवल सपक्षो मे ही अनिवार्य उपस्थिति, अर्थात् ऐसे असपक्षो मे जिनमें विधेय की समान उपस्थिति के द्वारा समानता हो।

(३) इसकी सभी असपक्षो में अनिवार्य अनुपस्थिति अर्थात् ऐसे असपक्षो मे जो उनके विपरीत हो, जिनमे नियमित गुण उपस्थित हों।

अब, कोई हेत्वाभास या तो प्रथम, या द्वितीय या तृतीय के विरुद्ध होगा। इन तीनों तार्किक अनुमान के नियमो के विरुद्ध प्राप्त होने वाले तथ्य या निर्माण भ्रमात्मक निर्णय होंगे।

हमे प्रथम नियम के विरुद्ध हेत्वाभासो तथा सम्मिलित रूप से द्वितीय और तृतीय नियमो के विरुद्ध हेत्वाभासो के बीच अवश्य विभेद करना चाहिए। यथार्थ मे दूसरे नियम का उल्लघन साथ ही साथ तीसरे नियम के भी उल्लघन के बिना सम्भव नही है, दूसरे और तीसरे नियम एक ही नियम के केवल दो पक्ष मात्र है।[२०] हेत्वाभासो के दो मुख्य वर्ग ही मिलते है– एक तो परार्थानुमानीय अभिनियम के प्रथम नियम के विरुद्ध और दूसरा सम्मिलित रूप से द्वितीय और तृतीय नियमो के विरुद्ध। हेत्वाभसो का एक वर्ग पक्ष–आधारवाक्य के विरुद्ध होता है, और हेत्वाभासो का दूसरा वर्ग साध्य आधारवाक्य के विरुद्ध, अथवा एक पक्षआधार वाक्य का अव्याप्त हेतु–दोष और दूसरा साध्य–आधार वाक्य का अव्याप्त हेतु–दोष।

हम कह सकते है कि पक्ष–आधार वाक्य यथार्थ के किसी विषय मे तार्किक रचना के सन्दर्भ से युक्त होता है, इसलिए इस नियम का उल्लघन यथार्थता के विरुद्ध हेत्वाभास को व्यक्त करेगा। ऐसा हेतु जो यथार्थ के सन्दर्भ की दृष्टि से असफल होता है, उसे असिद्ध हेत्वाभास कहा है। दूसरी तरफ साध्य–आधारवाक्य हेतु के अपने फल पर अनिवार्य आश्रयत्व की अभिव्यक्ति से युक्त होता है। यदि हेतु एक ऐसे तथ्य को व्यक्त करता है जो फल पर अनिवार्यत आश्रित हो तब उसकी उपस्थिति के साथ फल की भी सदैव उपस्थिति होती है। एक हेतु, जो इस दृष्टि से असफल है, वह यथार्थ के नही बल्कि सवादित्व के हेत्वाभास को व्यक्त करेगा, दो पदो की निरपवाद व्याप्ति मिथ्या हो जायेगी। जब हेतु का सपक्षसत्व एव विपक्षासत्व असिद्ध या सदिग्ध हो अथवा दोनो सदिग्ध हो तो वहाँ अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है।

इस प्रकार, हमे हेत्वाभासो के दो प्रमुख वर्ग मिलते है– एक तो यथार्थता के विरुद्ध हेत्वाभासो का और दूसरा सवादित्व के विरुद्ध हेत्वाभासो का। यह द्वितीय वर्ग ही विशुद्ध आशय मे हेत्वाभास है और इनकी सख्या तथा पद्धति की स्थापना के लिए आचार्य दिङ्नाग ने एक व्यवस्थित तालिका का निर्माण किया है, जिसे वह हेतुचक्र कहते है। सपक्षो और असपक्षो के बीच हेतु की समस्त सम्भाव्य स्थितियो का इस तालिका मे गणितीय सिद्धान्त के अनुसार परिकलन किया गया है, परिणाम यह है कि हेतु की केवल नौ स्थितियाँ हैं, न तो कम और न ज्यादा। इनमे से भी केवल दो ही सिद्ध हेतु को व्यक्त करती हैं तथा शेष सात हेत्वाभास हैं। इन सात मे से भी दो अपने चरम रूप मे हेत्वाभास को व्यक्त करती हैं। ये दोनों सिद्ध हेतु के सर्वथा विरुद्ध स्थिति को व्यक्त करती है और इन्हे 'विरुद्ध–हेत्वाभास' कहते हैं।

हेत्वाभास परार्थानुमानीय अभिनियम के किसी न किसी नियम के अनुरूप है– अर्थात् प्रत्येक हेत्वाभास किसी न किसी नियम का उल्लघन है। आचार्य दिङ्नाग का मानना है कि

कोई हेतु या तो यथार्थ अर्थात् सिद्ध और सवादक होता है, या वह असिद्ध होता है, या विरुद्ध होता है, या अनैकान्तिक, अर्थात् अव्याप्त और असवादक होता है। हेत्वाभास या भ्रमात्मक ज्ञान अपर्याप्त रूप से स्पष्ट पदो के नीचे प्रच्छन्न हो सकता है। इस तथ्य का विश्लेषण करना चाहिए तथा इसे असन्दिग्ध रूप से स्पष्ट भी करना चाहिए। वाचस्पति मिश्र जी का कहना है कि मानव बुद्धि मे सत्य के लिए स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। कोई भ्रमात्मक ज्ञान उसी समय उत्पन्न होता है जब उसकी प्रकृति अस्पष्ट शब्द विन्यास द्वारा प्रच्छन्न हो जाती है। शब्द–विन्यास का स्पष्ट रूप प्रकट हो जाने पर हेतवाभास का मोटा रूप प्रगट हो जाता है। एक इस प्रकार के हेत्वाभास का जिसमे न 'म' और 'उ' के बीच औन न 'म' और 'बृ' के बीच ही कोई सम्बन्ध ही होता है, (म मध्यमपद, उ उद्देश्य पद एव बृ वृहत् पद का सकेत किया गया है) उदाहरण के द्वारा इसको इस प्रकार से समझाया गया है, जैसे, "समस्त भेड अश्व हैं, क्योकि वे गाये हैं।" इस प्रकार का परार्थानुमान किसी के मन मे कभी नही आया क्योकि, जैसा कि वाचस्पति मिश्र का कहना है "मानवबुद्धि मे सत्य के लिए एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। लेकिन ऐसे प्रसिद्ध तर्को को , जिनमे न तो कोई यथार्थता है और न कोई व्याप्ति, 'म' तथा 'उ' के बीच और न 'म' तथा 'बृ' के बीच ही किसी प्रकार का सम्बन्ध है, इसको प्रच्छन्न रूप से प्रस्तुत किया गया है।"

अब हम किस रूप की असिद्धि या सन्देह होने पर किस नाम का हेत्वाभास होता है, इसका वर्णन करेगे।

१. असिद्ध हेत्वाभास

जब हेतु का उसके फल के साथ निरपवाद सम्बन्ध असदिग्ध रूप से स्थापित हो जाता है, किन्तु उद्देश्य मे हेतु की उपस्थिति को या तो सर्वथा अस्वीकृत या सदिग्ध माना जाता है तब हमे असिद्ध हेत्वाभास मिलता है। इसको हम इस प्रकार कह सकते हैं कि जब हेतु का प्रथम पक्ष सिद्ध नहीं होता अथवा परार्थानुमानीय नियम के प्रथम नियम का उल्लघन होता है तब हमको असिद्ध हेत्वाभास की प्राप्ति होती है।

जब लघुपद पर हेतु की उपस्थिति या असम्भव अथवा सन्दिग्ध होती है, तब निष्कर्ष एक हेत्वाभास होता है। इस प्रकार के हेत्वाभास का सरलतम उदाहरण हमको उस समय प्रगट होता है। जब कि दो तथ्यो के बीच निरपवाद सम्बन्ध तो लेशमात्र भी संदिग्ध नहीं होता किन्तु वह स्थान सन्दिग्ध होता है, जहाँ किसी उदाहरण मे उसे व्यवहृत किया जाना चाहिए। जैसे कि

यह मानिए कि एक मयूर का शब्द हम सुनते है। तब इसमे कोई सन्देह नही है कि यह शब्द मयूर की उपस्थिति का एक लक्षण है, और हमारे सामने अनेक गुफाये है जिनमे से किसी मे मयूर छिपा है किन्तु हम इस बात या तथ्य का निर्णय नही कर सकते है कि वह किसमे है। ऐसी स्थिति मे निष्कर्ष, जिसे निश्चित होना चाहिए, असम्भव है। हम निम्न स्थिति मे पहुँचते है–

प्रथमत साध्य आधारवाक्य जहाँ कही मयूर का शब्द है वहाँ वह उपस्थित है।

द्वितीयत पक्ष आधारवाक्य शब्द (सम्भवत) उस गुफा से आ रहा है।

निष्कर्ष मयूर (सम्भवत) उस गुफा मे उपस्थित है।

यहाँ पर निष्कर्ष केवल सम्भाव्य है, निश्चित नहीं है, और इसी आशय मे यह एक हेत्वाभास है। यह सन्दिग्धता का हेत्वाभास है। यह सन्दिग्ध का हेत्वाभास नहीं है। किसी अनुमानात्मक निश्चय मे न केवल अन्तरस्थ यथार्थता के सम्बन्ध मे सन्दिग्धता ही किसी हेतु को असिद्ध बनाती है, वरन् उसकी स्थापित अयथार्थता उसमे उल्लिखित प्रत्येक हेतु को असिद्ध हेत्वाभास मे परिणत कर देती हैं। उदाहरण के लिए, एक पृथक आध्यात्मिक पदार्थ के रूप मे आत्मा को बौद्ध दार्शनिक अस्वीकार करते है।, यह एक अयथार्थ पदार्थ है। फलस्वरूप हम कह सकते हैं कि एक हेतु के रूप मे जो भी विधेय इसके साथ सम्बद्ध होगा वह एक असिद्ध हेतु होगा।

उदाहरण के लिए, वैशेषिक जीवात्मा को एक ऐसा सर्वगत द्रव्य मानते हैं जो स्वय अपने मे अचेतन और गतिरहित होता है– गतिरहित इसलिए कि सर्वगत होता है। सुख–दु ख की भावनाये यद्यपि आत्मा के निहित गुण हैं तथापि ये सर्वगत नहीं है। ये उसके (आत्मा के) केवल उसी भाग मे प्रगट होती है जो शरीर और उसके आन्तरिक अवयव की उपस्थिति के साथ एकीभूत होता है। आन्तरिक अवयव और आत्मा के बीच एक विशेष अन्तक्रिया एक विशेष क्षण पर सर्वगत आत्मा के एक निश्चित भाग मे किसी सुखद अथवा दु खद भावना को उत्पन्न करती है। इन विचारो को हम निम्नलिखित परार्थानुमान के रूप मे प्रस्तुत कर सकते है?

प्रथमत साध्य आधारवाक्य ऐसा, द्रव्य जिसके गुणो को सर्वदेशावस्थित देखा जा सकता है, सर्वगत होता है, जैसे– आकाश।

द्वितीयत पक्ष आधारवाक्य . आत्मा ऐसा द्रव्य है जिसके गुणो को सर्वदेशावस्थित देखा जा सकता है।

निष्कर्ष· आत्मा सर्वगत है।

प्रस्तुत परार्थानुमान मे हेतु की उसके फल के साथ निरपवाद व्याप्ति असन्दिग्ध रूप से स्थापित है। साध्य आधारवाक्य ठीक है किन्तु पक्ष–आधारवाक्य नही। हेतु–यथार्थता से रहित है, क्योकि व्यवहार का विषय, यथार्थता का वह विषय जो दो अन्योन्याश्रित विकल्पो की तार्किक अधिरचना द्वारा उद्दिष्ट होना चाहिए, यह मात्र एक कोरी कल्पना है। यह पृथक सर्वगत् द्रव्य के रूप मे आत्मा का कम से कम बौद्धो के लिए कोई अस्तित्व नही है, अत तर्क यथार्थता के एक हेत्वाभास को बौद्ध परार्थानुमानीय अभिनियम के प्रथम नियम के विरुद्ध हेत्वाभास को व्यक्त करता है ।

यद्यपि बौद्धो के मत से एक भिन्न द्रव्य के रूप मे आत्मा सत्तारहित है, और आत्मा से सम्बद्ध प्रत्येक विधेय भी समान रूप से अयथार्थ होगा, तथापि यह उसी समय 'अयथार्थ' होगा जब आत्मा लघु पद का, निष्कर्ष के उद्देश्य का स्थान ग्रहण करेगी क्योकि तर्क और यथार्थता के बीच सम्पर्कबिन्दु यही पर स्थित है। यदि यथार्थता, अधिष्ठान अथवा सम्पूर्ण तर्क मे अन्तरस्थ यथार्थता अनुपस्थित है तब असिद्ध हेत्वाभास होगा। अन्य परार्थानुमानो को, जिनमे आत्मा लघुपद का स्थान नहीं ग्रहण करता, तार्किक सगति की दृष्टि से बौद्धो के आत्मा को अस्वीकृति के विशेष सिद्धान्तो की अभिव्यक्ति से रहित माना जायेगा। उदाहरण के लिए, इस रूप मे अनुमान का कि "जीवित प्राणी आत्मा से युक्त होता है क्योकि वह जीववत् कार्यो से युक्त होता है।" शुद्ध तर्कशास्त्र की दृष्टि से आत्मा की यथार्थता या अनिश्चितता के विवाद मे लिप्त पक्षो के मत से सर्वथा स्वतन्त्र रूप से विशलेषण किया जायेगा। असिद्ध हेत्वाभास लघुपद अथवा पक्ष–आधारवाक्य की यथार्थता या सन्दिग्धता से सम्बद्ध हेत्वाभास है।

एक साधारण व्यवहार की बात है कि सभी सार्वजनिक वादो, तथा साथ ही साथ, सभी तर्कणाओ मे वादी और प्रतिवादी पक्षो द्वारा प्रयुक्त पदो का एक निश्चित और समान अर्थ ही होना चाहिए। यदि एक पक्ष किसी पद को एक आशय मे तथा दूसरा एक भिन्न आंशय मे ग्रहण करता है तो उनके बीच कोई नियमित और सद्भावना पूर्ण वाद–विवाद नहीं हो सकता है। किन्तु जब एक पक्ष सद्भावनापूर्वक एक ऐसे अर्थ मे किसी शब्द का प्रयोग करता है जो उसके विपक्षी को अस्वीकार्य है तब ऐसा हो सकता है कि निगमन उस पक्ष के लिए उपयुक्त हो किन्तु उसके विपक्षी के लिए अयथार्थ (असिद्ध) और अस्वीकार्य होगा। उदाहरण के लिए, जब जैन यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि[२१]

साध्य–आधारवाक्य . ऐसा प्राणी जो हाल के उत्तर जाने पर मर जाता है, वह सजीव होता है।

पक्ष–आधारवाक्य वृक्ष ऐसे ही प्राणी है।

निष्कर्ष वृक्ष सजीव होते है।

प्रस्तुत तर्क को जैन दार्शनिक अपने दृष्टिकोण से सिद्ध या ठीक मान सकते है क्योकि मृत्यु क्या है और सजीव क्या है इन विषयो पर उनका अपना दृष्टिकोण हो सकता है। किन्तु बौद्धो के लिए यह तर्क असिद्ध है क्योकि मृत्यु क्या है और सजीव क्या है इन विषयो पर इनकी एक भिन्न परिभाषा है। इनके दृष्टिकोण से वृक्ष वह यथार्थ विषय नही है जिनमे इन सब बातो को ढूँढा जा सके। हेत्वाभास इनके लिए असिद्ध हेत्वाभास, पक्ष आधारवाक्य का हेत्वाभास होगा। बौद्ध साध्य–आधारवाक्य के विरुद्ध भी आपत्ति कर सकते है, अर्थात् इस नियम के विरुद्ध, कि "छाल के उतर जाने पर जो मर जाता है वह सजीव प्राणी होता है", किन्तु यह एक भिन्न प्रकार का प्रश्न है। इस उदाहरण मे न तो इस नियम को अस्वीकृत किया गया है और न इस पर सन्देह किया गया है। किन्तु यह मान लेने पर कि यह ठीक है, इसका वृक्षो के लिए प्रयोग बौद्धो के दृष्टिकोण से असम्भव है, क्योकि इनके लिए 'मृत्यु' शब्द का एक भिन्न अर्थ है। इनके लिए मृत्यु का अर्थ चेतन जीव की समाप्ति है, और वृक्षो की दशा मे वास्तव मे ऐसा नहीं देखा जाता हैं।

जैनो[२२] के ही एक इसी के समान तर्क को भी कि "वृक्ष सोते है, क्योकि रात्रि के समय वे अपने पत्तो को बन्द कर लेते है," असिद्ध होने के रूप मे अस्वीकृत कर दिया जायेगा क्योकि रात्रि के समय सभी वृक्ष नही बल्कि कुछ विशेष प्रकार के ही वृक्ष अपनी पत्तियो को बन्द करते है। यह, पुन पक्ष–आधार–वाक्य का एक हेत्वाभास है। किसी शुद्ध परार्थानुमान मे कोई भी विशेष निश्चय ग्राह्य नहीं है। यह निश्चय कि "कुछ वृक्ष रात्रि के समय अपनी पत्तियो को बन्द करते हैं" कोई निश्चय निष्कर्ष नहीं प्रदान करता है। किन्तु इसका उल्टा भी घटित हो सकता है। ऐसा ही हो सकता है कि पक्ष आधारवाक्य उस दार्शनिक के लिए अयथार्थ या असिद्ध हो जो स्वय उसे उद्धृत करता है। यह ऐसी दशाओ मे हो सकता है जब वह अपने विपक्षी के मत को स्वीकार न करते हुए भी उससे अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन मे लाभ उठाने के लिए उसे उद्धृत करता है। आचार्य दिङ् नाग ने किसी विदेशी और अविश्वसनीय सिद्धान्त से इस प्रकार से लाभ उठाने की आलोचना की है।

उदाहरणार्थ साख्य दार्शनिक यह मानता है कि सुख–दु ख की समस्त वेदनाये स्वयं अपने मे अचेतन हैं क्योकि केवल आत्मा ही चेतन है। किन्तु आत्मा परिवर्तनरहित और केवल प्रकाशित मात्र कर सकता है, वह किसी वेदना को धारण नहीं कर सकता। सांख्य दार्शनिक के

लिए वेदनाये मूल प्रकृति की विकास, और इस आशय मे ये इनके लिए नित्य है, क्योकि ये मूल प्रकृति से निर्मित है। किन्तु इसको अचेतन सिद्ध करने के लिए साख्य दार्शनिक बौद्धो के उस सिद्धान्त का लाभ उठाते हैं जो किसी भी नित्य सत्ता के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। वेदनाये आती जाती रहती है किन्तु वे किसी स्थायी द्रव्य मे निहित नही होती। तदुपरान्त साख्य यह तर्क प्रस्तुत करते है– कि यदि वेदनाएँ अनित्य है तो वे आत्म–चेतन नही हो सकतीं क्योकि चेतना केवल आत्मा का ही नित्य तत्व है।

आचार्य दिङ्नाग ने उपर्युक्त दार्शनिको के मतो की आलाचेना की है। यह एक असिद्ध–हेत्वाभास है, क्योकि हेतु स्वय उसी दार्शनिक के लिए असिद्ध है जो उससे पुष्टि प्राप्त करने का प्रयास करता है। असिद्धत्व और असवादित्व का एक सम्मिलित हेत्वाभास भी सम्भव है, किन्तु इसे एक असिद्ध वर्ग के अन्तर्गत रखा जाता है, क्योकि हेतु का असिद्धत्व, उसकी यथार्थ उद्देश्य मे उपस्थित वह प्रथम शर्त है जिसे इसे अवश्य सन्तुष्ट करना चाहिए।[२३]

२. विरुद्ध हेत्वाभास

विरुद्ध हेत्वाभास मे हेतु अथवा मध्यमपद को उसके स्वाभाविक फल के साथ नहीं बल्कि उसके विवर्तित फल के साथ, उसके स्वाभाविक फल की अपेक्षा विरोधी अश के साथ निरपवाद व्याप्ति के रूप मे व्यक्त किया जाता है। आचार्य दिङ्नाग के अनुसार इसका महत्व प्रमुखत सैद्धान्तिक ही है और यह उस अधिकतम असवादित्व को दिखाता है, जो किसी तार्किक हेतु मे उपस्थित हो सकता है। व्यवहार मे एक अप्रच्छन्न और विशुद्ध रूप मे इसका मिलना कदाचित ही सम्भव है। सत्य और सवादित्व के प्रति 'मानव बुद्धि की स्वाभाविक प्रवृत्ति' इस प्रकार के 'हेतु' का तीव्र विरोध करेगी। किन्तु किसी अनिश्चित अस्पष्ट अथवा अपर्याप्त रूप से सम्मिलित शब्दावली के पीछे प्रच्छन्न होने की दशा मे अक्सर ऐसा होता है कि यह हेत्वाभास कुछ सत्याभासी तर्कणाओ के अन्तस्थल में निहित मिलता है। स्थिति संख्या २ और स्थिति सख्या ८ के बीच अन्तर यह है कि प्रथम मे हेतु समस्त असपक्षो मे उपस्थित होता है और द्वितीय मे यह निषिद्ध क्षेत्र के केवल एक भाग मात्र को आवृत्त करता है। इसकी समान विशिष्टता उन समस्त सपक्षो मे हेतु की सर्वथा अनुपस्थिति है जहॉ इसे अनिवार्यत उपस्थित होना चाहिए था। इस प्रकार का प्रच्छन्न विरुद्ध हेत्वाभास उन स्थानो पर मिलता है जहाँ कोई दार्शनिक ऐसा तर्क प्रस्तुत करता है जो विश्लेषण करने पर स्वय उस दार्शनिक द्वारा स्वीकृत आधारभूत सिद्धान्तो के विपरीत सिद्ध होता है। विरूद्ध हेत्वाभास को अप्रच्छन्न रूप में निम्नलिखित दो उदाहरणों मे देखने को मिलता है।

प्रथमत   वेद के शब्द नित्य सत्तायें है,

क्योकि वे हेतुओ से उत्पन्न है।

जो कुछ भी कृतक है वह नित्य है, जैसे आकाश।

यहाँ पर व्यक्त व्याप्ति का विपरीत सत्य है। अत प्रस्तुत हेतु विरुद्ध–हेतु है। यह स्थिति सख्या दो पर स्थित है क्योकि यह समस्त सपक्षो, अर्थात् नित्य वस्तुओ, जैसे आकाशादि मे अनुपस्थित है, और यह समस्त असपक्षो, अर्थात् अनित्य वस्तुओ, जैसे घटादि मे उपस्थित है।

द्वितीयत   वेद के शब्द नित्य सत्तायें है,

क्योकि वे प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न है,

जो कुछ भी मानव–प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न होता है वह नित्य है।

इस उदाहरण मे भी पूर्व की भाँति, हेतु सभी सामानो, अर्थात् नित्य वस्तुओ मे अनुपस्थित है। यहाँ पहले उदाहरण से यह इस अर्थ मे भिन्न है कि यहाँ असमानो के सम्पूर्ण निषिद्ध क्षेत्र मे हेतु उपस्थित नहीं है। यह असमानो के अन्य भाग, जैसे विद्युतादि मे अनुपस्थित है।

प्रच्छन्न विरुद्ध हेतु का एक उदाहरण इस प्रकार है।[२४] साख्य दार्शनिक इस तथ्य की स्थापना करना चाहते हैं कि इन्द्रियॉ किसी की अग है, अर्थात् आत्मा की अग है। आत्मा एक सरल द्रव्य है जबकि इन्द्रियॉ सघातरूप भौतिक निकाय है। अत वह इस सामान्य सिद्धान्त की स्थापना करता है कि सहतो की सत्ता सरल के लिए है, अत इन्द्रियो की सत्ता आत्मा के लिए है। 'किसी के लिए अस्तित्व' का वास्तविक अर्थ उसे साक्षात् या परोक्ष रूप से प्रभावित करना है। कोई परिवर्तन केवल एक सघात–रूप वस्तु मे ही उत्पन्न किया जा सकता है, एक स्वभाव मात्र परिवर्तित नहीं हो सकती। इस तरह हम इस स्थिति मे पहुँचते हैं कि साख्यो का यह तक कि इन्द्रियो का आत्मा के लिए अस्तित्व है, उनके इस आधारभूत सिद्धान्त के विरुद्ध है कि आत्मा एक सरल, असहत और अपरिवर्तनशील द्रव्य है।

३. अनैकान्तिक हेत्वाभास

आचार्य दिड्.नाग के हेतुचक्र के केन्द्र मे ऐसा हेतु स्थिति है जो कि असाधारण है, अर्थात् जिसमे बोधगम्यता की मात्रा न्यूनतम है। इस हेतु का न तो समानो (सपक्षो) मे और न असमानो (असपक्षो) मे ही उपस्थित होने के रूप मे निर्धारण किया जाता है। यह उद्देश्य का समीपवर्ती, और इसीलिए अनिर्णायक होता है। यह कोई हेतु होता ही नहीं है। यदि हम कहें कि

वेद के शब्द नित्य है क्योकि ये श्रव्य है, तब श्रव्यत्व हेतु उद्देश्य, शब्द मे ही मात्र उपस्थित होगा, यह समस्त समानो (सपक्षो) और साथ ही साथ समस्त असमानो (असपक्षो) मे अनुपस्थित होगा। इस तर्क की स्थापना का स्वरूप जब एक अप्रच्छन्न, स्थूल और विशुद्ध रूप से यह असाधारण और अनिर्णयात्मक है। इसकी स्थापना का, जब इसका एक अप्रच्छन्न, स्थूल और विशुद्ध रूप से कथन होता है, प्रत्यक्षत केवल एक सैद्धान्तिक महत्व ही होता है। किन्तु जैसा कि बाद मे देखा जाएगा, जब यह अपर्याप्त रूप से विश्लेषित और अस्पष्ट विकल्पो अथवा अभिव्यक्तियो मे प्रच्छन्न होता है तब, विरुद्ध हेतु की ही भाँति, पर्याप्त व्यावहारिक महत्व कर लेता है। स्थिति जो भी हो यह निर्णयात्मकता की न्यूनतम मात्रा को व्यक्त करता है, अर्थात् इसकी निर्णयात्मक शक्ति शून्य के बराबर होती है।

आचार्य धर्मकीर्ति का कहना है कि निश्चितता एक स्थिति है, यह परार्थानुमान का अभीष्ट है और तभी वह निर्णयात्मक होता है। अनिर्णयात्मक ही अनिश्चित है। यह एक ऐसी स्थिति है जब न तो निष्कर्ष और न उसकी अनुपलब्धि का ही निर्धारण किया जा सकता है, किन्तु इसके विपरीत, एक मात्र परिणाम सदिग्ध होता है। हम ऐसे हेतु को सन्दिग्ध कहते है जो हमे एक निष्कर्ष तथा उसकी अस्वीकृति के बीच भ्रमित करता है। इन सभी सन्दिग्ध हेतुओ की एक समान विशेषता यह है कि साध्य–आधारवाक्य का व्यतिरेक या तो असिद्ध होता है या सन्दिग्ध।[२५] यह परार्थानुमानीय अभिनियम के तीसरे नियम का उल्लघन है। असमानो मे हेतु की सर्वथा अनुपस्थिति या तो असिद्ध होती है या सन्दिग्ध होती है। इस प्रकार वसुबन्धु और आचार्य दिङ्नाग के लिए इन दोनो नियमो के बीच ठीक उसी प्रकार विभेद करना आवश्यक था जिस प्रकार साधर्म्य के परार्थानुमान और वैधर्म्य के परार्थानुमान के बीच, अथवा मिश्रित हेत्वाश्रित परार्थानुमान के विधायक और विधातक रूपो के बीच विभेद करना भी इन लोगो के लिए आवश्यक रहा है।

४. विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभास

आचार्य दिङ्नाग समानो और असमानो की दृष्टि से मध्य पद की नौ स्थितियो से स्वतन्त्र रूप से एक विशेष हेत्वाभास का उल्लेख करते हुए इसे अनैकान्तिक वर्ग के अन्तर्गत रखते हैं। अत यह एक साथ ही सिद्ध और विरुद्ध है, अत यह प्रतिसंतुलित हो जाता है। प्रत्येक अनैकान्तिक हेतु दो विरोधी सम्भावनाओं के बीच दोलन से युक्त होता है। इस प्रकार की अनिश्चितता की विशिष्टता किसी प्रकार की अनिश्चय की अनुपस्थिति है। इसमे मानसिक अभिवृत्ति सन्देह की होती है। किन्तु जब दोनों विरोधी समाधानों की समान शक्ति के साथ

स्थापना होती है, तब मानसिक अभिवृत्ति सन्देह की नही, निश्चितता की हो जाती है। इस प्रकार की स्थिति मे एक साथ ही दो निश्चितताएँ होती है, यद्यपि दोनो ऐसे आधारो पर स्थित होती है कि दोनो को विरोध के नियम के अनुसार एक दूसरे को वर्जित करना चाहिए। सामान्यो की यथार्थता सम्बन्धी वैशेषिको के सिद्धान्त को तथा इसके विरोधी सामान्यो की यथार्थता सम्बन्धी वैशेषिको के सिद्धान्त को विरुद्धव्यभिचारी के उदाहरण के रूप मे उद्धृत किया गया है। काल और दिक् की अनन्तता और अन्तता की समस्या, जिसका आरम्भिकतम बौद्ध ग्रन्थो मे निर्धारण किया गया है, सम्भवत अधिक उत्तर उदाहरण होता। आचार्य दिङ्नाग कहते हैं कि इस प्रकार के विरुद्धाव्यभिचारी प्रमुखत तत्वमीमासा तथा धर्म मे सम्भव हैं। इसको इन्होने इस प्रकार से स्पष्ट किया है –

"इस जगत् मे साक्षात् प्रत्यक्ष की शक्ति और धर्मग्रन्थो के प्रामाण्य को (कभी–कभी) किसी भी अन्य तर्क से अधिक शक्तिशाली माना जाता है।" इस तथ्य के विपरीत भी , धर्मकीर्ति अपने आचार्य पर तर्कशास्त्र के क्षेत्र मे एक तर्कशास्त्रातीत तत्व के समावेश का आक्षेप करते हैं। इनका मन्तव्य है कि "अनुमान का उपयुक्त क्षेत्र त्रिविध तार्किक सम्बन्ध (अर्थात् उद्देश्य पर हेतु की अनिवार्य उपस्थिति, सपक्षो मे इसकी अनिवार्य उपस्थिति, और असपक्षो मे इसकी सर्वथा अनुपस्थिति) है। यह त्रिविध तार्किक सम्बन्ध, जहाँ तक यह प्रमाण सिद्ध होता है, अनुमान उत्पन्न करता है। अत हम इसे अनुमान का क्षेत्र कहते है।
यत सम्यक् अनुमान मात्र ही हमारा विषयवस्तु है, अत हम किसी ऐसे हेतु का विवेचन नहीं कर सकते जो एक साथ ही सिद्ध और असिद्ध दोनो है। एक द्विविध हेतु, जो सिद्ध और विरोधी दोनो हो, वह ऐसा कुछ नही होता जो यथार्थ तथ्यो पर आधारित हो।"[२६] इनका मानना है कि जब तर्क वास्तविक वस्तुओ की उपयुक्त रूप अनुवीक्षित वास्तविक स्थिति पर आधारित होता है तब विरुद्धाव्यभिचारी के लिए कोई स्थान नही होता।[२७] इस प्रकार के द्वन्द्वात्मक परार्थानुमान मे, जो अपने सिद्धान्तो को किसान किसी मताग्रही विश्वासो से ग्रहण करता है और अपने निष्कर्ष का आगमन द्वारा प्राप्त सिद्धान्तो से निगमन नहीं करता, ऐसे हेत्वाभास सम्भव हैं। इसीलिए विरुद्धाव्यभिचारी तर्क का वास्तविक अथवा दिग्दर्शनात्मक परार्थानुमान से अवश्य विभेद करना चाहिए।

धर्मकीर्ति के विचार

आचार्य धर्मकीर्ति ने विरुद्धाव्यभिचारी हेतु का विरोध किया है। आचार्य दिङ्नाग ने इस प्रकार के हेत्वाभास पर अधिक जोर नहीं दिया है। लेकिन धर्मकीर्ति ने परार्थानुमानीय अभिनियम

और हेत्वाभास के प्रकारो के बीच दृढ अनुकूलता पर जोर देने के लिए इस अवसर से लाभ उठाया है। धर्मकीर्ति ने केवल तीन प्रकार के, अर्थात् असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक हेत्वाभास ही माना है यह हेत्वाभास क्रमश उस समय उत्पन्न होते है, जब कि या तो ये एक नियम अकेले या दो एक साथ या तो असिद्ध अथवा सन्दिग्ध होते हो। धर्मोत्तर का कथन है कि "क्रमश का अर्थ यह है कि प्रत्येक हेत्वाभास उस असिद्धत्व अथवा सन्दिग्धता से निर्धारित होता है, जो असिद्धत्व अथवा सन्दिग्धता तत्सम्बन्धी नियम के सम्बन्ध मे निहित होती है।"[२८]

यहाँ पर तर्कशास्त्र, प्रत्यक्षत तत्वमीमासात्मक और धार्मिक समस्याओ के प्रति सर्वथा विरक्त नहीं रह पाता। विरुद्धाव्यभिचारी या प्रतिसन्तुलित हेत्वाभास को धर्मकीर्ति ने पृष्ठद्वार से दो अतिरिक्त हेत्वाभासो के रूप मे पुनर्प्रविष्ट किया है। सर्वज्ञ, दिव्य बुद्ध की धार्मिक समस्या तथा आत्मा की प्रतिसमस्या दोनो मे से प्रत्येक ने हेत्वाभास की अन्तिम प्रणाली मे धर्मकीर्ति के द्वारा एक अतिरिक्त स्थान प्राप्त किया है।

आत्मा की समस्या को निम्नलिखित परार्थानुमान मे निर्धारित किया गया है" जीवित शरीर आत्मा से मुक्त होता है क्योकि वह श्वास तथा अन्य पशुक्रियाओ से युक्त होता है।" हेतु असिद्ध नहीं क्योकि वह उद्देश्य मे मिलता है, किन्तु उसकी व्याप्ति सन्दिग्ध है। यथार्थवादियो का यह मानना है कि व्याप्ति "विशुद्धत अनुपलब्धि" के रूप मे सिद्ध होती है। पशुक्रियाये निश्चितरूप से ऐसी वस्तुओ मे अनुपस्थित होती है जो आत्मा से युक्त नहीं होती, अत इनकी उपस्थिति विभेद के अनुसार उन सभी स्थानो पर जहाँ से उपस्थित है वहाँ आत्मा की भी उपस्थिति की स्थापना के लिए एक वैध हेतु है। आचार्य धर्मकीर्ति की इस समस्या की विवेचना विशुद्धरूप से तार्किक है। तर्कशास्त्र मे ये किसी 'विशुद्ध' विधायक' अथवा 'विशुद्ध निषेधक' हेतु को स्वीकार नहीं करते। यहाँ पर आत्मा से युक्त तथा आत्मा से रहित वस्तुएँ हो सकती हैं, और यह भी कि यह विशिष्टता कही न कहीं जीवित और निर्जीव वस्तु मे उपस्थित है, किन्तु आत्मा से युक्त तथा आत्मा से रहित वस्तुएँ हो सकती है और यह भी कि यह विशिष्टता कहीं न कहीं जीवित और निर्जीव वस्तु मे उपस्थित है, किन्तु आत्मा से युक्त एक वर्ग तथा आत्मा से रहित एक दूसरे वर्ग का अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। अभिनियम के दूसरे और तीसरे दोनो ही नियमो का उल्लघन होता है, क्योकि यदि यह मान भी लिया जाय कि आत्मा का अस्तित्व कहीं है, तो भी केवल समानो मे ही हेतु की उपस्थिति तथा समस्त असमानों मे उसकी अनिवार्य अनुपस्थिति सन्दिग्ध है। अत हेतु अनैकान्तिक है।

इस प्रकार आचार्य दिड् नाग के विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभास को स्थानान्तरित करते हुए धर्मकीर्ति द्वारा प्रस्तुत अनैकान्तिक हेत्वाभास के इन दो नये प्रकारो का दिड् नाग से भिन्नत्व

अत्यन्त कम है। इस प्रकार के सभी हेत्वाभास तत्वमीमासात्मक वस्तुओ से सम्बद्ध और इसी कारण अनिश्चयात्मक है। ये विशुद्ध तार्किक नही है क्योकि ये हमे तर्कशास्त्र के क्षेत्र से बाहर स्थानान्तरित कर देते है।

वसुबन्धु द्वारा स्थापित हेत्वाभासो की पद्धति क्या थी इसे हम भलीभाँति नहीं जानते। किन्तु यत परार्थानुमानीय अभिनियम की उन्होने स्थापना की थी, और यत दिङ्नाग के हेत्वाभासो की पद्धति की शुद्धि इसी अभिनियम के अनुसार स्थापना हुई है, और यत इस पद्धति के प्रमुख अश वैशेषिक सम्प्रदाय मे भी मिलते है, अत हम यह मान सकते है कि वसुबन्धु की पद्धति सम्भवत या तो दिङ्नाग के समान अथवा उससे थोडी सी ही भिन्न थी।

आचार्य दिङ्नाग की प्रणाली ने वैशेषिक और न्याय सम्प्रदायो के उपदेशो को प्रभावित किया था, और अब हम इन सम्प्रदायो के हेत्वाभासो के सिद्धान्त पर इस प्रभाव का अध्ययन करेगे।

बौद्धों के हेत्वाभास द्वारा प्रभावित वैशेषिक प्रणाली

बौद्धो के अनुसार सत् द्विविध– साक्षात् और परोक्ष होता है। साक्षात् सत्‌निर्विकल्पक और परोक्ष सत् सविकल्पक होता है। एक सत्ता मात्र, अर्थात् विशुद्ध विज्ञप्ति किसी ऐसे विकल्प का अभाव है जो किसी ऐन्द्रिक विज्ञान के साथ सम्बद्ध नहीं है। सत् के साथ ही साथ, विशेष तथा विज्ञप्ति को सामान्य कहा गया है। सत् वस्तु भी है और विज्ञप्ति विचार या अ–वस्तु। परमार्थ सत् स्वलक्षण है जो विधि–स्वरूप होता है। स्वभावशून्य वह वस्तु है जैसी कि "वह अन्य मे" होती है, अथवा वह जो अन्य से अविभेदित है, इसीलिए इसे निषेध (या अपोह) भी कहते है।

वैशेषिक प्रणाली मे कणाद–सूत्र शास्त्रार्थ के नियमो अथवा अपोह का विवेचन नहीं करते। किन्तु इसमे अनुमान की परिभाषा, उन सम्बन्धो की गणना जिनपर अनुमान आधारित होता है, और यह वक्तव्य मिलता है कि हेतु का उद्देश्य और तार्किक फल के साथ सम्बन्ध 'सुज्ञात' अथवा निश्चित रूप से स्थापित होना चाहिए। यदि यह निश्चित रूप से स्थापित न हो तो यह अ–हेतु अथवा हेत्वाभास होगा। इन सूत्रो के माध्यम से और आगे चलकर यह कहा है कि हेत्वाभास या तो 'अप्रसिद्ध अथवा सन्दिग्ध' हो सकता है। हेत्वाभास का यह द्विविध विभाजन (अप्रसिद्ध और सन्दिग्ध) के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखा जा सकता, जो अंशतः बौद्धो की प्रणाली के समान प्रतीत होता है।[२६] इसके पश्चात् इस द्विविध विभाजन मे दो अन्य वर्ग जोडते हैं जो दिङ्नाग के विरुद्ध और विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभासों के अनुरूप हैं। असिद्ध और

अनैकान्तिक हेतु के साथ ये विरुद्ध और अनध्यवसित हेतु को भी जोड देते है। विरुद्ध हेतु एक विरुद्ध हेत्वाभास होता है और उस तथ्य के, जिसकी स्थापना के लिए यह उदिष्ट था, सर्वथा विरुद्ध तथ्य को सिद्ध करता है। यह एक ऐसा हेत्वाभास है जो अपनी चरम सीमा पर होता है। उदाहरण के लिए यह कहने की अपेक्षा कि "यह घोडा नही है क्योकि इसके सीग है" यह ऐसा कहता है कि "यह एक घोडा है क्योकि इसके सीग है।" अनध्यवसित हेतु की उत्पत्ति सकर है। सर्वप्रथम, इसमे आचार्य दिङ्नाग का "असाधारण–हेत्वाभास" अर्थात् इस प्रकार का हेत्वाभास सम्मिलित है कि "शब्द अनित्य (अथवा नित्य) है, क्योकि श्रव्य है।" प्रशस्तवाद का तर्क है कि "कुछ दार्शनिक (दिङ्नाग) ऐसे है जो यह मानते है कि जब (समान शक्ति वाले) दो हेतु एक दूसरे को बाधित करते है तब सन्दिग्धता उत्पन्न होती है, और हेतु अनैकान्तिक हो जाता है। किन्तु हम यह सिद्ध करेगे कि जो इस प्रकार का हेतु है वह 'असाधारण' की ही भॉति 'अनध्यवसित' होता है। प्रत्यक्षत प्रशस्तपाद जी यह विचार करते है कि जब दो हेतु परस्पर विघा तक हैं, तब यदि उन पर अलग–अलग विचार किया जाय तो वे हेतु होगे, किन्तु एक उद्देश्य मे सम्मिलित होने पर वे 'अहेतु' होगे क्योकि उनका सम्मिलन केवल उद्देश्य मे ही मिलता है। न तो सपक्ष और न असपक्ष ही ऐसे होते है, जहाँ ऐसा सम्मिलन मिलता है। यह कृत्रिम और बलात् व्याख्या प्रशस्तपाद कणाद के एक ऐसे सूक्त मे निहित करते है जो इससे किसी भी प्रकार सम्बद्ध नहीं है। दिङ्नाग ने विरुद्धाव्यभिचारी हेतुओ को तत्वमीमासा और धार्मिक समस्याओ के क्षेत्र से सम्बद्ध किया है। इस प्रकार के हेतु तर्कशास्त्रातीत और सदैव सन्दिग्ध होते है। दोनो विरोधी हेतुओ की शक्ति समान होती है, और कोई भी निर्णय असम्भव होता है। किन्तु प्रशस्तपाद के लिए धर्म के विरुद्ध का अर्थ सत्य के विरुद्ध है। अत आप दिङ्नाग के विरुद्धाव्यभिचारी हेतु को दो भागो मे विभक्त करते है। इनमे एक 'विरुद्ध' वर्ग से सम्बद्ध है और दूसरा अनध्यवसित वर्ग से। धर्म के क्षेत्र मे किसी स्थापित मताग्रह का विरोधी तर्क एक हेत्वाभास है।

प्रशस्तपाद जी ने, जो वैशेषिक सम्प्रदाय के द्वितीय विधायक थे, अपने सम्प्रदाय मे आचार्य दिङ्नाग के आकारपरक तर्कशास्त्र के कुछ सिद्धान्तो का समावेश कराकर उसे कुछ रूपान्तरित कर दिया। हेत्वाभासों के रूप मे इन्होने चार हेत्वाभासी प्रतिज्ञाये, और हेत्वाभासों की उस त्रिविध प्रणाली को ग्रहण किया जिसे इन्होंने बाद मे चतुर्विध विभाजन मे पुनर्नियोजित कर दिया। सम्मिलित न्याय–वैशेषिक प्रणाली मे, हम यह देखेगे कि हेत्वाभासी प्रतिज्ञाओ को छोड और हेत्वाभासो की प्रणाली का चार प्रकार से विभाजन कर दिया है।

निम्नलिखित तालिका आचार्य दिङ्नाग के प्रशस्तपाद पर प्रभाव और प्रशस्तपाद के भासर्वज्ञ पर प्रभाव को व्यक्त करती है–

हेत्वाभासो की वैशेषिक प्रणाली पर आचार्य दिङ्.नाग के प्रभाव को दिखानेवाली तालिका

वैशेषिक-सूत्र	दिङ्नाग	प्रशस्तपाद	भासर्वज्ञ
१ असत्	१ असिद्ध	१ असिद्ध	१ असिद्ध
२ सन्दिग्ध	२ अनैकान्तिक (असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी इसी मे सम्मिलित)।	२ सन्दिग्ध (असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी वर्णित)।	२ अनैकान्तिक (असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी वर्जित)।
	३ विरुद्ध	३ विरुद्ध	३ विरुद्ध
		४ अनध्यवसित (=असाधारण विरुद्धाव्यभिचारी	४ अनध्यवसित (=असाधारण)।
	४ पक्षाभास	५ पक्षाभास	५ सत्–प्रतिशत (विरुद्धाव्यभिचारी)
			६ बाधित (पक्षाभास)।

"आचार्य दिङ्नाग से प्रभावित न्याय-पद्धति"

न्याय–पद्धति का दृष्टिकोण आचार्य दिङ्नाग एव बौद्धो के प्रति वैशेषिको की अपेक्षा भिन्न सा प्रतीत होता है। ये दोनो ही सम्प्रदाय के लोग यथार्थवादी सम्प्रदायवादी के प्रतीत होते है। उद्योतकर त्रिरूपलिग के दिङ्नाग के सिद्धान्त को अस्वीकृत करते है। इनके अनुसार तार्किक लिग का सदैव त्रिरूप होना ही आवश्यक नही है। कुछ वैध निष्कर्ष विधायक उदाहरणो से ही निकाले जा सकते है, जहाँ विघातक अनुपस्थित हो सकते है। अन्य निष्कर्षो के लिए केवल ऐसे विधातक की ही आवश्यकता पडती है जिनमे विधायक का अभाव हो सकता है इसका तात्पर्य यह है कि दो अन्य वर्गो से प्रतिपूर्ति करना है। दिङ्नाग के हेतु मे विघायक और विघातक उदाहरण सदैव उपस्थित रहते है। उद्योतकर का तात्पर्य इनमे दो अन्य ऐसे वर्गो को जोड देना है जिनमे एक मे केवल विधायक उदाहरण हो और दूसरे मे केवल विघातक। यथार्थ मे विशुद्ध विघायक, विशुद्ध विधातक, और सकर के रूप मे तार्किक हेतु के नैयायिक विभाजन के जन्मदाता उद्योतकर जी हैं।

इसके पश्चात् जब उद्योतकर हेत्वाभासो की समस्या का सामना करता है, तो वह पुन वर्गीकरण की दिङ्नाग की प्रणाली को अस्वीकार करने का बाहृय आडम्बर करता है, किन्तु वस्तुत वह प्रच्छन्न रूप से तथा कुछ संवर्धनो के साथ उसका ही अपनी पद्धति मे समावेश कर लेता है।[30]

गौतम के न्यायसूत्र मे प्रतिपादित हेत्वाभासो के पॉच प्रकारो– सव्यभिचार (न्यायसूत्र १२ ५) नाम तथा तत्व की दृष्टि से यह अनैकान्तिक के समान है। यह व्याप्ति का हेत्वाभास है (व्याप्तिर् न भवति)। **विरुद्ध–** (न्यायसूत्र, १२६ यह सिद्धान्त दिङ् नाग के 'इष्टविघातकृत्' के समकक्ष है, जो धर्मकीर्ति के अनुसार विरुद्ध की ही एक विशेष दशा है, (तुकी० न्यायविन्दु पृ० ७३, १०, अनुवाद, पृ० २० ३)। **साध्यसम–** (न्यायसूत्र १२८) दिङ् नाग के अनुसार गौतमसूत्र एक ऐसे अनुमान का उल्लेख करता है, जहाँ दृष्टान्त साध्य से भिन्न नही होता, (तार्किक टीका पृ० २३८, २७७)। **प्रकरण-सम–** यह न्यायसूत्र १२,७ मे सरलतम रूप मे 'सत–प्रतिपक्ष' अथवा 'विरुद्धाव्यभिचारी, के रूप मे परिवर्तित किया गया है और **कलात्यय-अपदिष्ट–** वात्स्यायन के समय मे इसे एक अत्यन्त भिन्न अर्थ मे ग्रहण किया गया था, (तुकी० पृ० ५४ ११)। गौतम ने इन पॉच हेत्वाभासो का निरूपण सक्षिप्त रूप मे किया है। इन पाँच प्रकारो मे से प्रथम दो दिङ् नाग के अनैकान्तिक और विरुद्ध वर्गो के अनुरूप है।

आचार्य दिङ् नाग ने एक गणितीय सिद्धान्त के अनुसार हेतु की नौ स्थितियो का निर्धारण किया है। "मैं सरलतापूर्वक गणित के आधार पर लगभग २०३२ स्थितियो की स्थापना करूँगा।" लेकिन उद्योतकर महोदय इस तथ्य को स्वीकार करते है कि इनकी यह सख्या अमहत्वपूर्ण और आधारभूत सख्या का केवल एक परिमार्जन मात्र है। इनका मानना है कि विशुद्ध तार्किक हेत्वाभासो की एक निश्चित सख्या होनी चाहिए। उद्योतकर जी का कहना है कि किसी भी विशुद्ध तार्किक हेत्वाभास की उत्पत्ति उस समय होती है जब मध्यमपद असमानो के निषिद्ध क्षेत्र को अतिव्याप्त करता है। जब यह अतिव्यापकता पूर्ण हो जाती है तब हेतु विरुद्ध हो जाता है। बौद्ध प्रणाली मे ये नियम तीन और हेत्वाभासो के वर्ग भी तीन ही है। उद्योतकर महोदय हेत्वाभासो के उन नियमो को परिवर्तित कर दिया जिसको कि गौतम और वात्स्यायन ने प्रतिष्ठित किया था, उद्योतकर महोदय ने अपनी नवीन व्याख्या के अनुसार तीन के स्थान पर पाँच नियमो का निर्माण किया है। पाँच नियम निम्न प्रकार से हैं–

(१) उद्देश्य मे उपस्थिति।

(२) सपक्षो मे उपस्थिति।

(३) असपक्षो से अनुपस्थिति।

(४) विरुद्धाव्यभिचारी न होना।

(५) कालातीत न होना।

यहाँ पर प्रथम तीन नियम बौद्ध अभिनियम के अनुकूल हैं। चौथा दिङ् नाग के विरुद्धाव्यभिचारी हेतु के अनुसार रचित है। पाँचवा उन हेत्वाभासी प्रतिज्ञाओ को स्थानान्तरित

करता है जिनको प्रतिज्ञा के रूप मे परित्याग करके इस नवीन सिद्धान्त के अनुसार हेतुओ के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है कि प्रत्येक हेत्वाभास हेतु का हेत्वाभास ही होता है। इसके अनुरूप हेत्वाभासो के पॉच वर्ग इस प्रकार है –

(१) सत्यभिचारी, जो दिङ् नाग के अनैकान्तिक के अनुरूप है,

(२) विरुद्ध, जो दिङ् नाग के विरुद्ध के अनुरूप है,

(३) साध्यसम, जो दिङ् नाग के असिद्ध के अनुरूप है,

(४) विरुद्धाव्यभिचारी, जो दिङ् नाग के इसी नाम के अनुरूप है, और

(५) कालातीत, जो दिङ् नाग से चार पक्षाभासो के अनुरूप है।

हेत्वाभासो की न्याय-पद्धति पर आचार्य दिङ् नाग के प्रभाव का निदर्शन करने वाली तालिका

न्यायसूत्र और भाष्य	दिङ्.नाग	उद्योतकर	भासर्वज्ञ	गंगेश
१ सव्यभिचार	१ अनैकान्तिक	१ सव्यभिचार	१ अनैकान्तिक	१ सव्यभिचार
२ विरुद्ध	२ विरुद्ध	२ विरुद्ध	२ विरुद्ध	२ विरुद्ध
३ प्रकरणसम				
४ साध्यसम				
५ कालातीत				
	३ असिद्ध	३ साध्य–सम (=असिद्ध)	३ असिद्ध	३ साध्यसम (=असिद्ध)
	४ असाधारण (अनैकान्तिक मे सम्मिलित)		४ अनध्यावसित (तुकी० प्रशस्तपाद)	
	५ विरुद्धाव्यभिचारी (अनैकान्तिक मे सम्मिलित)	४ प्रकरणसम	५ सत्–प्रतिपक्ष	४ सत्–प्रतिपक्ष
	६ पक्षाभास	५ कालातीत	६ बाधित	५ बाधित

एरिस्टॉटिल महोदय ने भी हेत्वाभास का वर्गीकरण अपने दृष्टिकोण से किया है। इन्होने यह दिखाया है कि ये सभी वर्गीकरण प्रतिज्ञान्तर सिद्धि–दोष के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रत्येक हेत्वाभास चाहे वह जो कुछ भी हो, या तो वह वैध परार्थानुमान का निर्माण करते हैं, या तो अतिक्रमण करता है या उसका सन्तोषजनक रूप से पालन करने मे असमर्थ होता है। प्रतिज्ञान्तर–सिद्धि किसी तर्कवाक्य के विरुद्ध प्रस्तुत एक प्रसगानुमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। किसी वैध प्रसंगानुमान के नियम भी सर्वथा वही हैं, जो किसी वैध

परार्थानुमान के होते है। यही भारतीय दृष्टिकोण भी है। यत यहाँ पर तर्कवाक्यो पर नही बल्कि तीन पदो और सर्वाधिक मध्यमपद अथवा हेतु पर ध्यान केन्द्रित है। उल्लघन करने पर हेत्वाभास हो जाता है, किन्तु जो परार्थानुमानीय अभिनियम के किसी नियम के उल्लघन नही है, उनके अनन्त प्रकार हो सकते है, किन्तु ये विशुद्ध आशय मे हेत्वाभास नही होते है।

हेत्वाभास के अध्याय के आरम्भ मे ही यह कथन है[31] "यदि कोई त्रिरूप लिग को वाणी मे निर्धारित करना चाहता है तो उसे शुद्धतापूर्वक ही ऐसा करना चाहिए। यह शु,द्धता उस समय प्राप्त होती है जब प्रत्येक नियम के निषेधात्मक प्रतिरूप का भी उसी प्रकार उल्लेख कर दिया जाता है। परार्थानुमान त्रिरूपलिग के अन्तर्गत किसी तथ्य की शाब्दिक अभिव्यक्ति होता है। यदि इनमे से एक नियम का अकेले अथवा दो का एक साथ उल्लघन किया जाय तो हमे हेत्वाभास ही मिलेगा। "हेत्वाभास वह है जिसमे परार्थानुमान का आभास होता है" किन्तु सत्य नहीं होता। यह एक ऐसा दोष है जिसमे त्रिरूप लिग के किसी न किसी नियम का उल्लघन होता है।"

एरिस्टॉटिल के प्रबन्ध के नाम का वितण्डा–प्रतिवाद अनुवाद किया जा सकता है। यह वितण्डा–प्रतिवाद साक्रेटीज के उस प्रतिज्ञान्तर–सिद्धि का प्रतिरूप है जो किसी प्रतिवादी से सत्य प्राप्त करने के लिये पूछे गये प्रश्नो मे निहित होता है। इसके विपरीत, वितण्डा–प्रतिवाद केवल अस्तव्यस्त उत्पन्न करने के लिये पूछे गये प्रश्नो मे निहित होता है। यह "प्रतिवाद का एक ऐसा भ्रामक आभास होता है जो साधारण मनुष्यो मे आरोपित होकर उन्हे इन प्रतिवादो को यथार्थ के रूप मे स्वीकार कर लेने के लिये प्रेरित करता है।" यह उस सस्कृत शब्द 'जाति' के सर्वथा अनुरूप है जिसकी कि 'दूषणाभास' के रूप मे व्याख्या की गई है। हेत्वाभासी प्रसगानुमान एक ऐसा परार्थानुमान है जो मिथ्या सादृश्य पर आधारित और अपने सकीर्ण आशय में प्रतिज्ञान्तर–सिद्धि–दोष के अनुरूप है। किन्तु एरिस्टॉटिल के शब्द–दोष उस भारतीय कोटि मे आते हैं जिन्हे 'छल' कहते हैं। इनका सदिग्धता पर आधारित हेत्वाभासो के रूप में सर्वथा पृथक विवेचन किया गया है। यह कि एरिस्टॉटिल द्वारा उल्लिखित इस प्रकार के हेत्वाभासों के सभी छ प्रकार तार्किक दोष नहीं है, स्पष्टतापूर्वक इस तथ्य द्वारा प्रकट हो जाता है कि ज्योही हम इनका किसी विदेशी भाषा मे अनुवाद करने का प्रयास करते हैं, त्योही ये हेत्वाभास के रूप में अदृश्य हो जाते हैं। स्वय एरिस्टॉटिल की दृष्टि में भी ये केवल शब्दिक मात्र हैं। शेष ७ प्रकारों को इन्होंने तो अ–शाब्दिक कहा है किन्तु इनमें से केवल तीन ही विशुद्ध आशय में तार्किक हैं, शेष मानोवैज्ञानिक अथवा विषयात्मक हैं।

आर्कबिशप व्हेटली हेत्वाभासो का तार्किक और अतार्किक के रूप मे विभाजन करते है। किन्तु यह कुछ आश्चर्यजनक ही है कि इनके तार्किक वर्ग के अन्तर्गत अर्ध–तार्किक शीर्षक के नीचे एरिस्टॉटिल के समस्त शाब्दिक हेत्वाभास, जैसे अनेकार्थक–दोष, वाक्यछल इत्यादि सम्मिलित है। जहाँ तक व्हेटली के विभाजन मे उस समय सत्य के कुछ बीज अवश्य मिलते है जब हम इससे यह समझे कि हेत्वाभासो को दो प्रमुख वर्गो, अनैकान्तिक और असिद्ध मे विभक्त कर सकते है। इनमे से केवल प्रथम ही विशुद्ध आशय मे तार्किक और साध्यपद के दोषो से सम्बद्ध होगे। द्वितीय वर्ग के हेत्वाभास विषय–वस्तु से सम्बद्ध अथवा अर्ध–तार्किक तथा पक्ष पद के दोषो को निर्दिष्ट करेगे। यह प्राय वही सिद्धान्त है जो वैशेषिक सूत्रो[३२] मे आता है और दिङ्नाग की प्रणाली का आधार है। इसका एक बहुत बडा गुण यह है कि यह मानव बुद्धि की स्वाभाविक त्रुटियो और वैतण्डिक के सोद्देश्य वितण्डा के बीच एक दृढ विभाजन रेखा खीचता है। एक वृत्तिक शास्त्रार्थी को सम्पन्नता प्रदान करनेवाली स्थितियो की दृष्टि से प्राचीन यूनान तथा प्राचीन भारत की अवस्थाओ मे प्रत्यक्षत कुछ समानता मिलती है। दोनो ही देशो मे सार्वजनिक शास्त्रार्थ बहुत कुछ प्रचलित था और सार्वजनकि जीवन की इस विशिष्टता ने वृत्तिक शास्त्रार्थियो के एक वर्ग को उत्पन्न कर दिया जो अपने लाभ[३३] के लिये अविवेकपूर्ण वितण्डा द्वारा मानव–बुद्धि के स्वाभाविक उत्तरदायित्व का उसे भ्रमित करने के लिये प्रयोग करते थे। वाचस्पति मिश्र[३४] कहते है कि मानव बुद्धि मे सत्य के प्रति एक स्वाभाविक पक्षपात होता है। किन्तु साथ ही साथ, इसमे भ्रान्तियो की भी प्रचुरता होती है।[३५] जब मिथ्या पाण्डित्य लाभार्थ वितण्डा[३६] मे प्रवृत्त होता है तो, उद्योतकर के कथानुसार, तर्कशास्त्र का भविष्य अन्धकारपूर्ण हो जाता है। सदुद्देशी वाद को उपदेशात्मक होना चाहिये। इसे वितण्डात्मक और विवादात्मक नहीं होना चाहिये।[३७] इसे उस समय तक अवश्य चलते रहना चाहिए जब तक कि पूर्वपक्षी आश्वस्त न हो जाये। इन परिस्थितियो मे हेत्वाभास एक इच्छात्मक वितण्डा नहीं बल्कि तार्किक प्रमाण का स्वाभाविक प्रतिरूप होता है।[३८]

एरिस्टॉटिल महोदय का मुख्य उद्देश्य वैतण्डिको का आवरण उठाना है।

अत इस क्षेत्र मे योरोपीय तर्कशास्त्र एरिस्टॉटिल के नियन्त्रण से अपने को मुक्त कर पाने मे सफल नहीं हो सका है, अत. वह हेत्वाभासो की एक सुदृढ प्रणाली की स्थापना करने मे असफल हो गया है।

इसके विपरीत, दिङ्नाग ने अपने परार्थानुमानीय अभिनियम के अनुरूप हेत्वाभासों की अपनी प्रणाली की स्थापना की है। इस प्रकार वह उनका छल पर आधारित समस्त प्रवादो और मनौवैज्ञानिक दोषो के साथ स्पष्ट विभेद करते हैं।

धर्मकीर्ति इसी दिशा मे एक पग और आगे बढ गये है। उन्होने दिङ्नाग के विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभास पर इसलिये आपत्ति की कि उनके मत से तार्किक विचार की स्वभाविक धारा मे इस प्रकार का हेत्वाभास असम्भव है।

प्रोफेसर ए० बेन का भी कुछ भिन्न आधारो पर यह विचार है कि इस प्रकार के उदाहरणो जैसे "साक्रेटीज निर्धन है, साक्रेटीज बुद्धिमान है, अत कुछ निर्धन व्यक्ति बुद्धिमान है," के परीक्षण द्वारा हमे इन्हे न्यायवाक्य के क्षेत्र से बहिष्कृत कर देने के अच्छे आधार प्राप्त हो सकते है। यहाँ हेतु की कोई गति नहीं है" यहाँ " समतुल्य तर्कवाक्य–रूप अथवा अनन्तरानुमान है।"[३९] धर्मोत्तर[४०] ने भी इस मानक भारतीय उदाहरण[४१] के प्रति कि "मोटा देवदत्त दिन के समय भोजन नहीं करता, अत वह रात्रि के समय भोजन करता है",यही विचार प्रगट किये है। तुल्य तर्कवाक्य वह होते हैं जिनमे अर्थ मे कोई परिवर्तन नही होता। यदि दो पदो के बीच एक सामान्य तथा अनिवार्य सम्बन्ध की स्थापना करने और इसका किसी प्रस्तुत दृष्टान्त मे प्रयोग करने का अर्थ हो तभी इसे न्यायवाक्य शीर्षक के अन्तर्गत लाया जा सकता है।

दूसरी ओर, एरिस्टॉटिल द्वारा तार्किक माने गये कुछ हेत्वाभासो को दिङ्नाग ने इसलिये छोड दिया है कि हेत्वाभासी तर्को के क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आते क्योकि ये न तो पक्षपद और न साध्यपद की दृष्टि से मध्यपद की यथार्थ स्थिति को प्रभावित करते है। आत्माश्रय–दोष ऐसा ही हेत्वाभास है। अपने मोटे रूप मे आकृत्यन्तरित होने तथा क्रमश नित्य, अनित्य, शब्द के प्रकार–उदाहरण के लिये व्यवहृत होने पर यह हेत्वाभास इस आकार मे उपलब्ध होगा "शब्द अनित्य है, क्योकि ये अनित्य है", अथवा "नित्य क्योकि नित्य है"। बौद्धो के अनुसार यहाँ कोई हेतु है ही नहीं। अत पूर्वपक्षी को इस प्रश्न के ही रूप मे उत्तर देना चाहिये कि क्यो? हमे हेतु समझाइये। शब्द अनित्य है क्योकि वह अनित्य है ऐसा कहना केवल यही कहने के समान है ""शब्द अनित्य है।" यह व्यवहार मे उस समय एक हेत्वाभास हो सकता है जब प्रच्छन्न हो तथा इसे ढूँढ पाना कठिन हो। इस रूप मे इसका भारतीय तर्कशास्त्रियों ने अक्सर ही उल्लेख किया है[४२] किन्तु सिद्धान्तत हेतु की समस्त स्थितियों की एक विशुद्ध तार्किक प्रणाली मे इसका कोई स्थान नहीं है क्योकि इसमें कोई हेतु है ही नहीं। यहाँ तक कि यह असाधारण हेतु कि "शब्द अनित्य है, क्योकि वह श्रव्य है", जो किसी हेतु की सर्वथा न्यूनता को व्यक्त करता है, फिर भी एक हेतु है। यह इस साध्य आधारवाक्य की कि "जो कुछ श्रव्य है वह अनित्य है", कल्पना करता है। किन्तु आत्माश्रय दोष में साध्य–आधारवाक्य इस आकार में आकृत्यन्तरित होगा. "जो कुछ भी अनित्य है वह अनित्य है", और इसका अर्थ हेतु की सर्वथा अनुपस्थिति तथा यह प्रतिप्रश्न है कि "हमे हेतु दो"।

विशुद्धत तार्किक एरिस्टॉटिल के केवल तीन ही हेत्वाभास है (१) उपाधि दोष, (२) शाब्दिक दोष, और (३) फलवाक्य–विधान दोष।

इन हेत्वाभासो का आचार्य दिङ्नाग के तदनुरूप वर्गो के साथ इस प्रकार का सम्बन्ध है –

१ उपाधि दोष – एरिस्टॉटिल यह उदाहरण देते है कि "कोरिस्कुस मनुष्य कहीं है, क्योकि वह सॉक्रेटीज नहीं है जो एक मनुष्य है", अथवा यह कि "यह एक व्यक्ति कोरिस्कुस नही है, क्योकि यह एक मनुष्य है, जबकि एक मनुष्य कोरिस्कुस नही है"। इन दोनो ही उदाहरणो को असिद्ध हेतु के अन्तर्गत वर्गीकृत नहीं किया जा सकता क्योकि हेतु उद्देश्य पर उपस्थित है। किन्तु हेतु की विधेय के साथ निरपवाद व्याप्ति की स्थापना नहीं होती। पूर्वपक्षी को, जिसके समक्ष ये परमार्थानुमान प्रस्तुत किये जाते है, यह उत्तर देना चाहिये कि "कोई व्याप्ति नहीं है"। हेत्वाभास साध्य आधारवाक्य मे है। प्रथम उदाहरण मे कोरिस्कुस उद्देश्य है, अ–मनुष्य विधेय है, अ–साक्रेटीज हेतु है। यह व्याप्ति कि "जो भी साक्राटीज नहीं है वह मनुष्य नहीं है" सन्दिग्ध है। अ–मनुष्यो (सपक्षो) मे अ–साक्रेटीज है, और मनुष्यो (अ–सपक्षों) मे भी। हेतु स्थिति सख्या ६ पर है। यह कुछ समानो (सपक्षो) मे और साथ ही साथ कुछ असमानो (असपक्षो) मे भी उपस्थित है। कोई निष्कर्ष सम्भव नही है। दूसरे उदाहरण मे 'यह एक–उद्देश्य, –अ–मनुष्य' विधेय, और 'कोरिस्कुस' हेतु है। यहाँ भी कोई व्याप्ति नही है। अभिप्रेत व्याप्ति यह है कि "जो भी कोरिस्कुस (इस नाम के अन्तर्गत एकीकृत समस्त घटनाये) है, वह मनुष्य नही है।" इसका विपरीत सिद्ध है, हेतु की विधेय के साथ असगति है। यह एक विरुद्ध हेत्वाभास है और इसलिये इसे विरुद्ध वर्ग के अन्तर्गत रखना चाहिये। इसकी स्थिति सख्या ८ है कोरिस्कुस कभी भी अ–मनुष्यो (समानो) मे उपस्थित नहीं है, और कुछ मनुष्यों (असमानों) मे सदैव उपस्थित है।

इन कुछ असमान हेत्वाभासो को एकत्र करके एरिस्टॉटिल प्रत्यक्षत· इसलिये प्रथम स्थान पर रखते हैं क्योकि उपाधि (कोरिस्कुस सॉक्रेटीज नहीं हैं) से एक सामान्य नियम (कोरिस्कुस मनुष्य नहीं है) के तर्क का कौतुक वैतण्डिको में बहुत प्रचलित था।

२ द्वितीय हेत्वाभास, अशाब्दिक, का प्रथम से कदाचित ही विभेद किया जा सकता है। एरिस्टॉटिल का उदाहरण यह है . "इथियोपियन के दॉत सफेद और त्वचा कृष्ण होती है, अत· वह एक साथ ही कृष्ण और अकृष्ण होता है।" "दाँत सफेद और त्वचा कृष्ण" हेतु स्थिति–सख्या २ पर स्थिति और विरुद्ध वर्ग के अन्तर्गत आता है। यह समानों (कृष्ण और

अकृष्ण समग्रत) मे कभी नही, और सभी असमानो (अशत कृष्ण और अशत अकृष्ण) मे सदैव उपस्थित मिलता है।

३ फलवाक्यविधान–दोष सर्वाधिक स्वाभाविक हेत्वाभास है। इसमे हेतु असमान क्षेत्र को भी कुछ–कुछ अतिव्याप्त करता है। यह सिद्ध हेतु के निकटतम है और इसका वितण्डात्मक महत्व बहुत अधिक नहीं है। साध्य आधारवाक्य एक सामान्य विधायक के गलत परिवर्तन को व्यक्त करता है। हेतु उस समय स्थिति सख्या ७ पर होता है जब वह समानो की सम्पूर्ण परिधि मे और, साथ ही साथ, कुछ असमानो मे भी उपस्थित रहता है। अथवा उस समय स्थिति सख्या ६ पर होता है जब वह दोनो ही पक्षो मे, अशत समानो के एक अश मे तथा असमानो के अश मे भी, उपस्थित रहता है। उदाहरण "यह एक चोर है, क्योकि यह रात्रि के समय बाहर चलता है।" यह स्थिति सख्या ६ है, क्योकि रात्रि के समय बाहर चलने वाले लोग दोनो पक्षो मे, चोरो मे और, साथ ही साथ, अ–चोरो मे भी मिलते है।

४ प्रतिज्ञान्तरसिद्धि–दोष अथवा एक ऐसे आधारवाक्य से निष्कर्ष निकालना जो वास्तव मे एक अनिवार्य आधारवाक्य नहीं है, और प्रश्नछल विशुद्धत तार्किक हेत्वाभास नहीं है क्योंकि ये मिथ्याधारणा मे निहित हैं।

यद्यपि सभी हेत्वाभास मिथ्याधारणा पर आधारित होते है, सभी, जैसा कि एरिस्टॉटिल कहते है, न्यूनाधिक प्रतिज्ञान्तरसिद्धि–दोष होते है, तथापि विशुद्धत तार्किक वही है जो इन बातो से उत्पन्न होते हैं– (१) समानो और असमानो के बीच मध्यपद की गलत स्थिति, ये साध्यआधारवाक्य हेत्वाभास होते है, (२) निष्कर्ष के उद्देश्य के सम्बन्ध मे मध्यपद की गलत स्थिति, ये पक्ष–आधारवाक्य के हेत्वाभास होते हैं। अत किसी न्यायवाक्य के विशुद्ध तार्किक मूल्याकन के लिये उसके तीनो पदो को पृथक् तथा (१) 'म' का 'उ' के साथ और (२) 'म' का 'सा' के साथ क्या सम्बन्ध है इसका परीक्षण कर लेना चाहिये। प्रतिज्ञान्तर उत्तर, अनिवार्य आधारवाक्य के प्रस्तुतीकरण, और प्रश्न के अनेकत्व के हेत्वाभास हो ही नहीं सकते यदि तीनो पदों को उनके असन्दिग्ध रूप मे व्यक्त किया जाय। ये हेत्वाभास व्यावहारिक जीवन में अक्सर ही मिलते हैं किन्तु ये तार्किक नहीं मनौवैज्ञानिक होते हैं। अत. न्यायवाक्य का ऐसे तर्कवाक्यो द्वारा नहीं जो सरलतापूर्वक भ्रामक हो, बल्कि तीनो पदो 'उ', 'म' और 'सा' को पृथक् करके बिना किसी प्रकार की सन्दिग्धता के लेश के ही निर्माण करना ही अधिक श्रेयस्कर है। तिब्बत और मगोलिया के विद्यालयों मे इसी विधि का अनुसरण किया जाता है। 'म' का 'उ' के साथ और 'म' का 'सा' के साथ सम्बन्ध प्रत्यक्ष हो जाता है। पूर्वपक्षी का उत्तर तब केवल या तो

'हॉ', अथवा 'हेतु असिद्ध', अथवा 'कोई व्याप्ति नही!' मात्र ही हो सकता है। इस बाद वाले उत्तर को तब दो विरुद्ध हेतुओ (स्थिति स० २ और ८), चार अनैकान्तिको (स० १,३,७ और ६) और एक असाधारण (स० ५) मे विभक्त किया जा सकता है। विरुद्धाव्यभिचारी हेतु को भी, जो तालिका मे एक साथ ही दो स्थानो (स० ४ अथवा ६, के साथ सयुक्त स० २ अथवा ८) पर स्थिति हो सकता है, जोड दिया जा सकता है। कोई अन्य स्थिति सम्भव नही है। दिङ्नाग की तालिका विषद् है। यह हेत्वाभासो की समस्या मे एक क्रमबद्धता तथा व्यवस्थित एकत्व ला देती है। किसी हेत्वाभास को किस वर्ग के अन्तर्गत रक्खा जाय इस सम्बन्ध मे कभी कोई सन्दिग्धता हो ही नहीं सकती।

एरिस्टॉटिल उस समय दिङ्नाग के समाधान के अत्यन्त निकट आ जाते है जब वह यह कहते है कि उस पूर्वपक्षी को, जिसके समक्ष कोई मिथ्या प्रतिवादात्मक न्यायवाक्य प्रस्तुत किया गया हो, इस बात का परीक्षण करना चाहिये कि "आधारवाक्यो मे से किसमे और किस रूप मे किसी न्यायवाक्य का मिथ्या प्राकट्य उत्पन्न हुआ है।" यदि एरिस्टॉटिल इसी सिद्धान्त तक रह गये होते, और यदि उन्होने सभी शाब्दिक तथा मनौवैज्ञानिक कारणों को एक ओर रख दिया होता तो वह भी सम्भवत दिङ्नाग जैसी ही प्रणाली पर आ गये होते।

इस प्रकार बौद्ध दर्शन के भ्रम सिद्धान्त के अन्तर्गत भ्रम की तत्वमीमासीय विवेचना मे, आचार्य दिङ्नाग व धर्मकीर्ति आदि कुछ अन्य योरोपीय दार्शनिको के विचारो से यह स्पष्ट होता है कि हेत्वाभास किसी नियम के उल्लघन के अतिरिक्त और कुछ नही है। यहाँ पर प्रत्येक नियम सख्या मे निश्चित और एक व्यवस्थित एकत्व के अनुसार क्रमबद्ध किया जा सकने योग्य होता है। प्रत्येक परार्थानुमानीय नियम उसके अनुरूप हेत्वाभास की निन्दा भी करता है। अन्तत उसका समाधान भी प्रस्तुत करता है। अत हम इस अध्याय के अगले क्रम मे विज्ञानवाद का आत्मख्यातिवादी मत एव शून्यवाद का असत्‌ख्यातिवादी मत क्या है? उसका स्वरूप क्या है? समाधान क्या है? आदि विषयो पर चर्चा करेगे।

खण्ड (ग) : विज्ञानवाद का आत्मख्याति

बौद्धादि दर्शनो के अनुसार बाह्य वस्तु यदि असत्य है तो किस रूप में असत्य है? उसका स्वरूप क्या है? वस्तुवादी एवम् प्रत्ययवादी दार्शनिकों ने भी अपने तर्कों के आधार पर इस सिद्धान्त की समीक्षा की है। जिसका वर्णन हम विज्ञानवाद एवम् शून्यवाद के सिद्धान्तो मे देखेगे।

बौद्धविज्ञानवाद के अनुसार एकमात्र आन्तर ज्ञान ही सत्य है, बाह्य वस्तुये असत्य है। विज्ञानवाद के प्राचीन आचार्य असग के अनुसार विषय और विषयी दोनो ही विज्ञान या चित है।[४३] आचार्य वसुबन्धनु ने बाह्यता से रहित विज्ञान को ही तत्व माना है। उन्होने 'चित्तमात्र भो जिनघुत्रा, यबुतत्रैधातुकमिति' इस सूत्र का ही अनुसरण किया है।[४४] इनके अनुसार कामधातु रूपधातु तथा अरूप धातु सब विज्ञप्तिमात्र है। वस्तुत बाह्य वस्तुओ की सत्ता नही है, जो कुछ भी है, विज्ञान ही है। विज्ञान के अतिरिक्त सब असत् है। इसलिये वसुबन्धु ने विशिका की प्रथम कारिका मे ही कहा है 'असदर्थावभासनात्' अर्थात् जिस प्रकार तिमिरादि रोगग्रस्त को असत् केशगुच्छादि के दर्शन यो ही होते है, उसी प्रकार न होते हुये भी अर्थ प्रतीत होते है।[४५] वसुबन्धु ने यहॉ पर असदर्थ की प्रतीति की बात कही है। प्रतीति के लिये 'अवभास' शब्द का प्रयोग किया है, जोकि शकर ने अध्यास के लक्षण मे कहा है, 'अवभासोऽध्यास' अध्यास का अर्थ भी अवभास ही है।[४६] जहॉ पर जो नहीं है, वहीं पर उसकी प्रतीति होना ही अवभास है। 'अतस्मिन् तद्बुद्धि' ही अवभास है। यही बात वसुबन्धु उक्त प्रथम कारिका मे 'असदर्थावभासनात्' शब्द द्वारा कहना चाहते हैं। असत् का अर्थ है– न होना, जहॉ पर अर्थ या विषय न हो वही पर विषय की प्रतीति ही अवभास है, जैसे सीपी मे चॉदी का भ्रम है, क्योकि सीपी मे चॉदी का आभास है, अत सीपी मे चॉदी असत् है। असत् होने पर भी वही चॉदी की प्रतीति होना ही 'अवभास' है। यहॉ पर वसुबन्धु ने तिमिर रोगी के केश–गुच्छादि के दर्शन को भ्रम का उदाहरण दिया है, जोकि शकर के अनुसार प्रातिभासिक है, क्योकि शकर के अनुसार अलीक की तो प्रतीति ही सम्भव नहीं है।[४७] यदि प्रतीति हो रही है तब तो उसे प्रातिभासिक या व्यावहारिक सत् कहना होगा। तिमिर रोगी एक विशेष द्रष्टा हुआ, उसको विशेषरूप से जो दोष के कारण अभाव मे केश–गुच्छादि की प्रतीति होती है, वह प्रातिभासिक प्रतीति ही है। यद्यपि वसुबन्धु ने प्रातिभासिक सत्ता का नाम नही लिया है, तथापि केश–गुच्छादि के उदाहरण प्रातिभासिक प्रतीति की ओर साक्ष्य देता है, एव अवभास शब्द व्यावहारिक सत्ता की ओर सकेत करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वसुबन्धु शकर के ही समान व्यावहारिक वस्तुओ को स्वतन्त्र सत्ता नहीं देने को तैयार है। शश्कर मे रज्जु–सर्पादि भ्रम के उदाहरणो द्वारा जगत् की अध्यस्तता एव मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है, इसी प्रकार वसुबन्धु ने भी केश–गुच्छादि के प्रातीतिक ज्ञान के उदाहरण द्वारा विज्ञप्तिमात्रता के अतिरिक्त बाह्य वस्तुओ की स्वतन्त्रसत्ता का निषेध किया है। हमने मिथ्यात्व लक्षणों में देखा है कि अद्वैतवेदान्ती 'प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्व' को मिथ्यात्व कहते हैं– जैसे कि रज्जु–सर्प भ्रमस्थल रज्जु में सर्प का परमार्थत' त्रैकालिक निषेध सम्भव है। यद्यपि रज्जु–विषयक अज्ञानकालीन प्रातीतिक सर्प भ्रमकाल में होता है, फिर

भी उस काल मे भी पारमार्थिक दृष्टिकोण से सर्प नही होता, अत भ्रमकाल के सर्प का तीनो कालो मे निषेध होता है, इसी कारण भ्रमकालीन सर्प मिथ्या है। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपच का ब्रह्मरूप प्रतिपन्नोपाधि मे त्रैकालिक निषेध है, अत परमार्थत प्रपच भी मिथ्या है, फिर भी अधिष्ठान ज्ञान से पूर्व प्रपच की प्रातीतिक सत्ता शंकर के अनुसार स्वीकार्य है। इसी प्रकार वसुबन्धु के अनुसार बाह्य वस्तुये तीनो कालो मे नही है। फिर भी बाह्य वस्तुये तीनो कालो मे नही है। जो कुछ भी है, विज्ञप्तिमात्रता ही है। वसुबन्धु आत्मा और धर्मो को आलयविज्ञान के परिणाम कहते है,[४८] किन्तु वसुबन्धु के अनुसार परिणाम का अर्थ साख्य के परिणाम से भिन्न, है।[४९] वसुबन्धु द्वारा प्रयुक्त परिणाम शब्द का अर्थ करते हुये स्थिरमति ने कहा है 'कोऽय परिणामो नाम? अन्यथात्वम्'– अन्यथाभाव को ही परिणाम कहा है।[५०] साख्य के परिणाम मे नवीन वस्तु की उत्पत्ति नहीं मानी गई, क्योकि साख्य के अनुसार कारण मे पूर्व से ही सत् कार्य की उत्पत्ति होती है, न कि नवीन कार्य की। विज्ञानवादी वसुबन्धु के अनुसार कारण से विलक्षण कार्य की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार वसुबन्धु के विज्ञानवाद के अनुसार अनादि विकल्प–वासनाओ के कारण आत्मादि एव रूपादि का आरोप होता है। वसुबन्धु का उपचार और शकर का अध्यास या आरोप समानार्थक शब्द है। जिस प्रकार अद्वैत मे वस्तुत ब्रह्म मे प्रपच के तीनो कालो मे न रहने पर भी अज्ञान के कारण उसको आरोपित माना जाता है, उसी प्रकार आचार्य स्थिरमति विज्ञान मे बाह्य वस्तुओ के अभाव होने पर भी उन्हे, विज्ञान मे आरोपित मानते है। उपचार का अर्थ आरोप है। स्थिरमति का कहना है 'जो पदार्थ जहा पर नहीं, उसके वहा पर होने का जो आरोप होता है, उसे उपचार कहते है यथा शुक्तिका मे रजत का उपचार अथवा बाहीक मे बैल का उपचार'। इसी अर्थ मे विज्ञानस्वरूप मे बाह्य पदार्थो का आरोप या उपचार होता है, अत बाह्यवस्तुये परिकल्पित हैं। परमार्थत वे वस्तुये नही हैं।[५१] वसुबन्धु के अनुसार सम्पूर्ण परिणाम या उपचारो का कारण या अधिष्ठान आलय विज्ञान है। आलयविज्ञान ही ससार का बीज है।[५२] इसी आलय विज्ञान को आलम्बन करके मनोविज्ञान एव विषय विज्ञप्ति की उत्पत्ति होती है। इन सभी आरोपित सत् वस्तुओ का विशुद्धआलम्बन या अधिष्ठान विशुद्धविज्ञप्ति है, जिसे विज्ञप्तिमात्रता कहा है। यह नित्य है, शाश्वत है। इस प्रकार हम वसुबन्धु की विज्ञप्मिात्रता की तुलना शकर के बह्म से कर सकते हैं। आचार्य वसुबन्धु के अनुसार विशुद्ध विज्ञप्ति समुद्र के समान है और बाह्य वस्तुये तरंगो के समान उस पर परिकल्पित हैं। विशुद्ध विज्ञप्ति ग्राह्य–ग्राहकता से परे है। प० विधुशेखर भट्टाचार्य के अनुसार विशुद्ध विज्ञप्तिमात्रता भी सापेक्षनित्य है।[५३] परन्तु भट्टाचार्य जी का कथन समीचीन नहीं जान पडता। वसुबन्धु ने विज्ञप्तिमात्रता को ध्रुव कहा है।[५४] भट्टाचार्य जी ने ध्रुव शब्द का जो सापेक्षनित्य

अर्थ किया है, वह आचार्य स्थिरमति के भाष्य के आधार पर समीचीन नही बैठता, क्योकि स्थिरमति ने त्रिशिकाभाष्य मे ध्रुव शब्द का अर्थ नित्य किया है।[५५] अत इस विषय मे आचार्य चन्द्रधशर्मा का कथन सत्य है कि वसुबन्धु ने यहा पर ध्रुव शब्द का प्रयोग निरपेक्ष सत्य के अर्थ मे किया है।[५६] वसुबन्धु जब यह कहते है कि दृश्यप्रपच स्वप्नवत् है या तिमिर–रोगी के केश–गुच्छादि के समान है, इसका अर्थ यह नहीं कि बाह्यवस्तुये है ही नही। इसका तात्पर्य इतना ही है कि सविकल्पक बुद्धि की कोटियो द्वारा कल्पित जगत् स्वतन्त्र अस्तित्व नही रखता। विज्ञप्तिमात्रता या धर्मनैरात्म्य का सिद्धान्त सविकल्पक बुद्धि द्वारा कल्पित कर्त्ता और कर्म, ग्राहक और ग्राह्य, द्रष्टा और दृश्य के द्वन्द्व पर अधिष्ठित जगत् का खण्डन करता है, न कि विशुद्ध निर्विकल्पक विज्ञप्तिमात्रता का। यह मत व्यावहारिक जगत् को परतन्त्र सत्ता प्रदान करता है। जबतक निर्विकल्पक आर्यज्ञान की अनुभूति नही होती तब तक परिकल्पित जगत् का अस्तित्व है, तबतक यह मिथ्या नही भासता। व्यावहारिक जगत् की व्याख्या करने के लिये ही वसुबन्धु ने त्रिविध सत्तावाद को स्वीकार किया है। शकर मे स्वीकृत प्रातिभासिक, व्यावहारिक एव परमार्थिक सत्ता के समान ही आचार्य वसुबन्धु भी त्रिविध सत्ता स्वीकार करते है। परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न ये त्रिविध सत्ताये है। इन त्रिविध सत्ताओ द्वारा जगत् की व्याख्या सम्यक् रूपेण हो जाती है। इन त्रिविधसत्ताओ को वस्तुस्वभाव भी कहा गया है। परिकल्पित स्वभाव वाली वस्तुये आरोपित है, क्योकि उन वस्तुओ का अपना स्वभाव नही है, जैसे शुक्ति मे रजत की कल्पना परिकल्पित है। वस्तुत शुक्ति मे रजत है ही नहीं, अत उसमे रजत का ज्ञान आरोपित वस्तुविषयक ज्ञान ही है। आरोपित वस्तुविषयक ज्ञान को ही वसुबन्धु परिकल्पित कहते है।[५७] परिकल्पित वस्तु स्वाधिष्ठान मे न होने के कारण ही स्थिरमति ने अपने भाष्य मे कहा है 'न स विद्यते इति'[५८] अर्थात् कल्पित वस्तु की अपनी सत्ता का अभाव हुआ करता है। यहॉ तक कि कल्पित वस्तु मे हेतुप्रत्यय से प्राप्त स्वभाव भी नहीं। हेतुप्रत्यय स्वभाव व्यावहारिक वस्तुओ का ही होता है। प्रातिभासिक वस्तुओ का स्वभाव कल्पित ही है। द्विचन्द्रज्ञान के समान परिकल्पित ज्ञान तथ्यरहित है। एवमेव परिकल्पित वस्तु भी तथ्यहीन है। परतन्त्र सत्य या परतन्त्र ज्ञान सापेक्ष है, क्योकि यह कार्य–कारण सम्बन्ध पर आधारित है। परतन्त्र स्वभाववाला पदार्थ परिकल्पित की अपेक्षा सत्य अवश्य है, किन्तु यह भी परसापेक्ष होने के कारण स्वतन्त्र सत्ता से रहित है। सापेक्ष का अर्थ है प्रतीत्यसमुत्पन्न। संसार की वस्तुये परतन्त्र है, क्योकि वे वस्तुये किसी हेतु प्रत्यय से उत्पन्न हैं। जो वस्तु कारण सापेक्ष है, वह परतन्त्र है, अत परतन्त्र को भी शुद्ध सत्ता प्राप्त नहीं है, यह भी एक प्रकार सत् स्वभाव से रहित ही है। शाकर–वेदान्त की व्यावहारिक सत्ता से इसकी तुलना की जा सकती है, क्योंकि शंकर के

अनुसार व्यावहारिक जगत् अपनी सत्ता के लिये ब्रह्मसापेक्ष है। कारण के बिना कार्य अस्तित्व मे नही आ सकता, अत ब्रह्मसत्ता के बिना जगत् कार्य रूप मे नहीं रह सकता। घटोऽस्ति, पटोऽस्ति इत्यादि बाह्य वस्तुये अस्तिसापेक्ष है। वह अस्ति ही कारणरूप ब्रह्म है, अत अद्वैत के अनुसार जगत्प्रपच सापेक्षसत् है। विज्ञानवादी के अनुसार भी सभी वस्तुये प्रतीत्यसमुत्पन्न है, अत परतन्त्र स्वभाव है।[५९]

परिनिष्पन्न वस्तुस्वभाव है अर्थात् परिनिष्पन्न ही तत्व है। परिनिष्पन्न परतन्त्र का भी अधिष्ठान है। बिना परिनिष्पन्न के परतन्त्र की सत्ता हो ही नही सकती, क्योकि परिनिष्पन्न को लेकर ही परतत्र का व्यवहार सम्भव है। यह ग्राह्य–ग्राहकादि भावो से परे है। यह परतन्त्र से भिन्न भी नहीं, अभिन्न भी नही। हम इसे यह भी नही कह सकते कि यह परतत्र से तादात्म्य है या भिन्न भी है। परतन्त्र से भिन्न इसलिये नहीं कह सकते, क्योकि परिनिष्पन्न ही अविद्या के कारण परतन्त्र के रूप मे भासने लगता है। साथ में परिनिष्पन्न परतन्त्र की पहुॅच से सर्वथा बाहर है, अत परतन्त्र से अभिन्न भी कहना समीचीन नहीं। जिस प्रकार शाकर वेदान्त मे एकमात्र विशुद्ध परमार्थ ब्रह्म ही सत्य है और सम्पूर्ण प्रपच का अधिष्ठानरूप है फिर भी प्रपच से वह परे है, उसी प्रकार परिनिष्पन्न शुद्ध और शाश्वत है। वह देश–काल से परे है। देश–काल उसी परिनिष्पन्न मे आरोपित है। परिनिष्पन्न समस्त प्रपच का आधार होते हुये भी प्रपच से वह रहितावस्था है,[६०] अतएव यह इन्द्रियानुभवातीत है। यह निरपेक्ष सत् है। बाह्य विषय को अस्तित्व इसी के अस्तित्व से प्राप्त है। इसी सदधिष्ठान मे घटादि विकल्प कल्पित हैं, क्योकि कारणव्यतिरेक कार्य की सिद्धि नहीं है, अत कारण ही कार्यरूप से भासित होता है।

इस प्रकार हमने दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार वसुबन्धु के विज्ञानवादानुसार बाह्यवस्तुये विशुद्ध विज्ञान या विज्ञप्ति मे आरोपित हैं। शाकर–वेदान्त के आचार्य प्रकाशात्मयति ने पचपादिका–विवरण मे त्रिविध सत्ता की स्थापना करते हुए कहा है कि परमार्थ सत्ता ब्रह्म की है, अर्थक्रियासामर्थ्यसत्व आकाशादि का, एव अविद्योपाधिकसत्व शुक्ति-रजतादि का।[६१] जिस प्रकार रजतादि शुक्ति मे आरोपित हैं, उसी प्रकार आकाशादि भी ब्रह्म मे आरोपित हैं, अत शुक्ति–रजतादि के समान ही आकाशादि भी मिथ्या हैं। यहॉ पर विज्ञानवाद और शकर मत की समानता है। शंकर में जिस प्रकार प्रातिभासिक को व्यावहारिक दृष्टि से सत्–स्वभाव–रहित कहा है और व्यावहारिक वस्तुओं को पारमार्थिक दृष्टिकोण से सत्स्वभावरहित कहा है, उसी प्रकार आचार्य वसुबन्धु भी तीन प्रकार नि·स्वभावो का कथन करते हैं। इन्हे लक्षण नि स्वभावता, उत्पत्ति नि·स्वभावता एव परमार्थ नि·स्वभावता कहते हैं। परिकल्पित

वस्तुये आकाशकुसुम के समान निस्वभाव है। ये लक्षण से उपेक्षित है। परिकल्पित वस्तुओ की सिद्धि के लिये जिन लक्षणो का समावेश किया जाता है, वे वास्तविक नही है, अत ऐसी वस्तुये लक्षणो से निस्वभाव होने के कारण लक्षण निस्वभाव कहलाती है। परतन्त्र वस्तुये कारण सापेक्ष होने के कारण उत्पत्ति निस्वभाव है, क्योकि स्वय स्वभाव वाले परतन्त्र नही है। स्वय स्वभाव वाले होते तो परतन्त्र ही नही कहलाते। इसी प्रकार परिनिष्पन्न परमार्थ निस्वभाववाला है। परमार्थत उसमे किसी प्रकार के धर्म नहीं है अत वह विशुद्ध विज्ञप्तिमात्र होने के कारण परमार्थत निस्वभाव है।[६२] इस प्रकार परमार्थ विशुद्ध विज्ञान ही एक निरपेक्ष सत्ता है। आचार्य असग ने भी उक्त त्रिविध सत्वो का प्रयोग महायान सूत्रालकार मे किया है।[६३]

वसुबन्धु के विज्ञानवाद के विषय मे ऊपर दिये गये विवरण से हम यह धारणा बना सकते है कि असग तथा वसुबन्धु ने जगत् की बाह्यता को तो आरोपित या मिथ्या कहा है, किन्तु वे जगत् की बाह्यता का अपलाप नहीं करते। इन विज्ञानवादी आचार्यो के अनुसार बाह्यता या ग्राह्य–ग्राहक आदि सर्वप्रपच विज्ञान मे आरोपित है। आरोपित वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, अत वे मिथ्या हैं। शकर ने भी अध्यस्ततया प्रपच को मिथ्या कहा है। वसुबन्धु ने जगत् को आलय विज्ञान का परिणाम कहा है, और विशुद्ध विज्ञाप्ति को कार्य–कारण भाव से अतीत कहा है। जब विशुद्ध विज्ञप्ति सासारिक द्वन्द्व या विकल्पो से परमार्थत परे हैं, और शाश्वत एकरूप है, तब विशुद्ध विज्ञप्ति से कार्य–कारणात्मक ससार सम्बन्धित नहीं हो सकता, अथवा व्यावहारिक दृष्टि से सम्बन्धित मानना होगा, जैसाकि शाकर–वेदान्त का ब्रह्म परमार्थत किसी का अधिष्ठान भी नहीं है, क्योकि सत्य अर्थ मे किसी का अधिष्ठान होना भी निर्गुणत्व को आघात पहुँचाना है, अत कहा गया है प्रपच ब्रह्म मे विवर्त है। विवर्त का अर्थ है अध्यस्ततया कार्य का होना न कि वस्तुत। इसी प्रकार वसुबन्धु की विशुद्ध विज्ञप्ति भी जब परतन्त्रो से भी सम्बन्धित नहीं है, फिर जगत् को विज्ञप्ति का परिणाम कैसे कहा जाय? ऐसा लगता है वसुबन्धु जगत् को आलय विज्ञान का परिणाम और पारमार्थिक दृष्टि से विशुद्धविज्ञप्ति का विवर्त मानते है। यदि विशुद्ध विज्ञप्ति का परिणाम जगत् है, तब तो विशुद्ध विज्ञप्ति में भी विकृति आनी चाहिये? ऐसा होता नहीं है। जगत् परिणाम के होने पर भी विज्ञप्ति विशुद्ध ही रहती है, अत. जगत् परिणाम को विवर्त के अर्थ मे लेना आवश्यक है। इसी अर्थ मे वसुबन्धु ने आत्म–धर्मो को विज्ञान मे उपचरित कहा है, अर्थात् आत्मा और धर्मादि का उपचार होता है न कि वस्तुत. हैं।

वसुबन्धु के द्वारा परतन्त्र वस्तुओ का स्वीकार करना ही सिद्ध करता है कि वसुबन्धु बाह्यता का सम्पूर्णतया अपलाप नहीं करते, जैसाकि आचार्य चन्द्रधर शर्मा का कथन है कि इस

विज्ञानवाद मे प्रपच की बाह्यता का प्रत्याख्यान नही किया गया'।[६४] इस कारण विज्ञानवाद को विशुद्ध विषयीवाद नही कह सकते।[६५] विज्ञानवाद मात्र यह कहता है कि बाह्यता विज्ञानातिरिक्त के रूप मे असत् है, किन्तु विज्ञानसापेक्ष बाह्यता है। यही शकर के अनुसार बाह्यता की स्थिति है।

लकावतार के दर्शन को विज्ञानवाद और शून्यवाद दोनो ही का मिश्रण कहा जा सकता है। यह न विशुद्ध शून्यवाद है, न ही विज्ञानवाद। इस ग्रन्थ के अनुसार एकमात्र चित्त ही सत्य है। लकावतार मे विशुद्ध विज्ञान के लिये चित्त शब्द का ही प्रयोग मिलता है।[६६] चित्त ही विज्ञान है, इस विज्ञान के अतिरिक्त काम, रूप एव अरूप अर्थात् भौतिक वस्तुये असत् है। बाह्यता नाम की कोई भी वस्तु वस्तुत है नहीं। बाह्य वस्तु व्यक्तिगत मन की सृष्टि नही है, अपितु विशुद्ध विज्ञान की सृष्टि है। लंकावतार मे बाह्य वस्तुओ के अस्तित्व का जोरदार शब्दो मे प्रत्याख्यान मिलता है।[६७] बाह्यवस्तुओ के प्रत्याख्यान मे वसुबन्धु सम्भवत इतना बल नहीं देते जितना कि लंकावतार देता है। लकावतार मे बाह्यवस्तुओ के अरितत्वप्रत्याख्यान मे नागार्जुन एव गौडपाद के समान स्वप्न माया वन्ध्यापुत्रादि के दृष्टान्तो का पर्याप्त प्रयोग मिलता है।[६८] लकावतार के अनुसार सम्पूर्ण बाह्य वस्तुये विकल्पमात्र है। यहा पर वस्तुत न द्रष्टा है, न द्रष्टव्य ही कुछ है, न कोई वाच्य है, और न ही उसका वाचक।[६९] जिस प्रकार शकर के ब्रह्म मे परमार्थत उक्त भेदो से रहित है। न ग्राह्य है, न ग्राहक, वन्ध्यापुत्र के समान सभी कल्पित है। न उत्पत्ति है और न ही कोई उत्पाद्य है, किन्तु व्यवहार मे सभी कल्पित हैं।[७०] जिस प्रकार आकाशकुसुम, वन्ध्यापुत्र न होने पर भी कहे जाते है, उसी प्रकार भाव वस्तुओ की कल्पना होती है।[७१] वस्तुत सभी धर्म नि स्वभाव है। दार्शनिक विश्लेषण करने पर या कार्यकारण–भाव के विश्लेषण करने पर बाह्यवस्तुओ की सत्ता नहीं सिद्ध होती है, इसलिये अनभिलाप्य कहा गया है।[७२] शकर के अनुसार भी प्रपच को सदसद् अनिर्वचनीय कहा है– अर्थात् सद्रूप से असद्रूप से अथवा उभयरूपो से वस्तुओ का कथन सम्भव नहीं, क्योंकि शकर के अनुसार सत् का बोध नही होता, असत् की प्रतीति नहीं होती। बाह्य वस्तुओ में दोनो बाते हैं, अत सद्असद् अनिर्वचनीय है, इसी प्रकार लकावतार मे भी वस्तुओ को अनभिलाप्य कहा है, अर्थात् अनिर्वचनीय हैं। वस्तुओ के स्वभाव की खोज करने पर स्वभाव का परिचय नहीं मिलता, अपितु परभाव का ही परिचय मिलता है। घटादि का स्वभाव कुछ भी नहीं है, विज्ञानातिरिक्त घटादि की सत्ता नहीं है, किन्तु घटादि की प्रतीति होती है, इसी कारण घटादि माया के समान है। जिस प्रकार माया की सिद्धि सम्भव नहीं है। उसी प्रकार ससार की भी सिद्धि सम्भव नहीं।[७३] शंकर मे भी माया को सदसद् अनिर्वचनीय कहा है क्योकि उसकी उक्त रूपो मे सिद्धि सम्भव

नही है। इस प्रकार लकावतार मे यद्यपि प्रपच के बाह्यत्व का जोरदार प्रत्याख्यान किया है, फिर भी उसके मायिक या परिकल्पित अस्तित्व को अस्वीकार नही किया गया। जैसाकि आचार्य पी० टी० राजू ने कहा है कि लकावतार के अनुसार ससार न यथार्थ है, न भिन्न है, और न अभिन्न है, फिर भी यह बिना सत्य के नहीं है। इसे माया अवश्य कहा गया है, किन्तु माया असत्य अथवा अनस्तित्व का वाचक नहीं है। माया इसलिये कहा गया है, क्योंकि सत् न होने पर भी प्रतीत होता है।[७४] यही शकर का, भावरूप अज्ञान के कारण प्रतीत ससार है। पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो विज्ञान के अतिरिक्त बाह्यवस्तुये है ही नहीं। यही बात शकर के अनुसार भी कही गयी है। आरम्भणाधिकरण ब्रह्मसूत्र–भाष्य–टीकाओ मे अद्वैताचार्यो ने वाचारम्भण के दृष्टान्त से कार्य को कारणभिन्न कहा है।[७५] लकावतार के द्वितीय परिवर्तन मे भी बाह्य जगत् को वाक्विकल्पित कहा गया है। शकर के ही समान कहा गया है कि हे महामते, मृत्परमाणुओ से मृत्पिण्ड न भिन्न है, न अभिन्न है। सुवर्ण भूषणो से न अन्य है, न अनन्य। यदि अन्य होता तो उनसे आरब्ध नहीं होता, अर्थात् यदि मृत्परमाणुओ से मृत्पिण्ड एकान्त भिन्न होता, तब परमाणुओ से उसे आरब्ध नहीं कहा जा सकता, क्योकि एकान्त भिन्न–एकान्त भिन्न वस्तु का कारण नहीं बन सकता। और यदि अभिन्न कहा जाय तो भी मृत्पिण्ड और परमाणुओ मे कार्य–कारण–विभाग नहीं बन सकता।[७६] अत कार्य न कारण से अभिन्न है, न भिन्न है। शकर के अनुसार भी कार्य जगत् न ब्रह्म से अभिन्न है, क्योकि अभिन्न होने पर कार्य की पृथक् प्रतीति नहीं होनी चाहिए, और न भिन्न ही है, ऐसा होने पर कारण सत्ता से कार्यसत्ता की भिन्नता सिद्ध होगी और द्वैतवाद की आपत्ति होगी। शाकर–वेदान्त के ही समान लकावतार मे भी त्रिविध–सत्ताओ का वर्णन है– परिकल्पित, परतन्त्र एव परिनिष्पन्न।[७७] परिकल्पित के अनुसार अवस्तु मे भी वस्तुत्व की कल्पना करना है जैसे रज्जु मे सर्प की कल्पना, एक चन्द्र मे द्विचन्द्र की कल्पना। परतन्त्र सापेक्षता को कहते है। सभी वस्तुये प्रतीत्यसमुत्पन्न है। विश्लेषण करने पर नि स्वभाव हो जाती हैं। परिनिष्पन्न वस्तुओ का मूल सत्व है। वही विशुद्ध विज्ञान है।

ऊपर के विवरण से हम यह समझने मे समर्थ हो सकते हैं किस प्रकार लकावतार के विज्ञानवाद की बाह्यवस्तुविषयक धारणा शकर के भ्रम–विचार से समानता रखती है। अन्तर इतना ही है कि शाकर–वेदान्त बाह्यवस्तुओ की अनिर्वचनीयता एव उनकी प्रतीतिक बाह्यता की सिद्धि मे बल देता है, इसके विपरीत उक्त विज्ञानवाद बाह्यता या बाह्यवस्तुओं की विज्ञानातिरिक्तता के प्रत्याख्यान मे बल देता है। यह बात नहीं कि इस विज्ञानवाद के अनुसार बाह्यवस्तुये प्रातीतिक भी हैं नहीं। प्रतीति का अपलाप कोई भी नहीं कर सकता।

बौद्ध--विज्ञानवाद का दूसरा रूप है स्वतन्त्रविज्ञानवाद। इस विज्ञानवाद के प्रतिपादक आचार्य दिङ्नाग है। आचार्य दिङ्नाग के विज्ञानवाद का अनुसरण आचार्य धर्मकीर्ति ने किया है। इनके बाद इस विज्ञानवाद का विकास आचार्य शान्तरक्षित एव कमलशील ने किया है। यह वसुबन्धु के विज्ञप्तिमात्रतावाद से अत्यन्त भिन्न विज्ञानवाद है। इसी विज्ञानवाद का प्रत्याख्यान आचार्य शकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य मे किया है, न कि वसुबन्धु के शाश्वत विज्ञानवाद का।[७८] भारतीय दर्शन का आलोचनात्मक सर्वेक्षण मे आचार्य चन्द्रधर शर्मा ने इसी को 'स्वतन्त्रविज्ञानवाद' कहा है।[७९]

आचार्य दिङ्नाग के अनुसार बाह्य वस्तुओ का कोई अस्तित्व नहीं है। जो कुछ भी घट–पटादि के रूप मे दिखायी देते है, वे सब विज्ञान के ही आकार है। वस्तुत विज्ञान ही बाह्य वस्तुओ के रूप मे अवभासित हो रहा है। दिङ्नाग के अनुसार बाह्य वस्तुओ की कल्पना दो रूपो मे की जा सकती है– अणुरूप मे या सघात रूप मे। अणु अविभाज्य एव अमूर्त है। अणुओ का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं क्योकि प्रत्यक्ष केवल मूर्त द्रव्य का ही सम्भव है। यदि एक अणु का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं, तब अणुओ के सघात के विषय मे भी वही बात होगी, अर्थात् अणुओ के सघात का भी प्रत्यक्ष असम्भव है। इस प्रकार बाह्य वस्तुये न अणुरूप हो सकती है और न ही अणुओ का सघातरूप ही, किन्तु बाह्य वस्तुये प्रत्यक्षगोचर होती हैं। अणु या सघात बाह्य वस्तुओ के कारण नहीं बन सकते।[८०] दिङ्नाग के अनुसार आन्तरिक प्रत्यय ही बाह्य वस्तुओ के रूप मे भासित होते है। ये ही आन्तरिक प्रत्यय ग्राह्य–ग्राहकता के रूप मे अवभासित होते है। वस्तुत ग्राह्य और ग्राहक दोनो ही आन्तरिक है। बाह्यता अलीक है।

धर्मकीर्ति के अनुसार "सत् वह है जो प्रभावोत्पादन मे समर्थ हो" जो वस्तु किसी कार्य को उत्पन्न करने मे असमर्थ है वह असत् है, अत "अर्थ–क्रियाकारित्वप्रभावोत्पादन सामर्थ्य" परमार्थ का लक्षण है। धर्मकीर्ति के अनुसार बाह्यवस्तुये असत् हैं, फिर भी अनादि वासना के कारण नानात्व एव बाह्यत्व दिखायी देता है। परम सत् ग्राह्य–ग्राहकत्व से परे है। पाण्डु रोगी रोग के कारण जिस प्रकार शख को पीला देखता है– उसी प्रकार अविद्याग्रस्त होने के कारण चित्त को परमसत् नहीं समझ पाते, न ही बाह्य वस्तुओ को ही असत् समझते हैं, आन्तरिक प्रत्ययो को ही बाह्य वस्तुयें मान बैठते हैं। एकमात्र चित्त ही शुद्ध सत् है, वह स्वयप्रकाश एव स्वत देदीप्यमान है।[८१]

शान्तरक्षित ने भी धर्मकीर्ति के समान अर्थक्रियाकारी सामर्थ्य को ही परमार्थ कहा है। वह प्रभावोत्पादन मे समर्थ है तथा क्षणिक है। ससार की सभी वस्तुयें शान्तरक्षित के अनुसार

क्षणिक है, क्योकि वे विनाशी है। क्षणिक वस्तु की उत्पत्ति का अर्थ है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है।[८२] विनाश वस्तु मे कही बाहर से नही आता, किन्तु वस्तु के साथ ही होता है।[८३] अविनश्वर और नित्य वस्तु असम्भव है। यह विवेक और तर्क के विपरीत है। यदि कोई वस्तु नित्य और शाश्वत है तो उसमे उत्पन्न होने वाले सभी कार्यो की एक साथ उत्पत्ति होनी चाहिये, क्योकि निमित्तकारण या प्रभावोत्पादक कारण विद्यमान होने के कारण विलम्ब का कोई हेतु नहीं है। इस प्रकार की कल्पना यथार्थ जीवन के विपरीत है। वस्तुये प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। भ्रमवश उसकी सादृश्यता को हम एकरूपता मान बैठते हैं, और लगने लगता है कि वस्तुये नित्य है। वस्तुत वस्तुये क्षणिक हैं। क्षणिक विज्ञानवाद का प्रतिपादन करते हुए शान्तरक्षित ने कहा है कि विज्ञान के अतिरिक्त बाह्यता नहीं है। ज्ञातृ–ज्ञेय–ज्ञान, कर्म–कर्तृ–क्रिया आदि का भेद तात्विक नही है। ये सब क्षणिक विज्ञान के ही विलासमात्र है। इस क्षणिक विज्ञान का प्रकाशक अन्य नहीं है। यदि प्रकाश्य–प्रकाशक है भी, तो भी वे विज्ञानमात्र है, इसीलिये विज्ञानवाद मे ज्ञान और ज्ञेय को अभेद कहा है। दोनो मे भेद नही है। इसी को धर्मकीर्ति ने प्रमाणविनिश्चय मे सहोपलम्भ नियम कहा है।[८४] इस नियम के अनुसार वस्तु और वस्तु के ज्ञान मे पार्थक्य नहीं है। प्रत्ययवाद का यह मूल और प्रधान तर्क है कि विज्ञान और विज्ञेय मे अन्तर नहीं किया जा सकता, क्योकि प्रत्ययवादी का कहना है कि कोई भी वस्तु ज्ञान के बिना उपलब्धि का विषय कैसे बन सकती है? ज्ञान के बिना वस्तु को जानना वदतोव्याघात है। ज्ञान के बिना वस्तु की सिद्धि करना असम्भव है। जहा भी वस्तु की सिद्धि की जायेगी, ज्ञान वही पर होगा। ज्ञान और ज्ञेय मे एक प्रकार यह व्याप्ति है, किन्तु प्रत्ययवादी का कहना है कि ज्ञान विषय–निरपेक्ष हो सकता है, विषय ज्ञान निरपेक्ष नहीं हो सकता। बर्कले ने भी इसी तर्क से बाह्य वस्तुओ का प्रत्याख्यान किया है। उनके अनुसार 'सत्ता सर्वदा अनुभव–मूलक होती है'[८५] जहॉ अनुभव नही, सत्ता नही। इसी प्रकार विज्ञानवादी बौद्ध का भी यही कथन है कि ज्ञान के बिना ज्ञेय के अस्तित्व की सिद्धि कैसे सम्भव है? जहॉ पर भी घट को जाना गया वह ज्ञात पाया गया है। धर्मकीर्ति का सहोपलम्भ नियम भी यही बतलाया है कि विषय नील और उसकी धी अर्थात् ज्ञान दोनो अभिन्न हैं– नील वस्तु और नील ज्ञान दोनो अभिन्न पदार्थ हैं। जिसे ज्ञान का विषय कहा जाता है वह भी ज्ञान का ही आकार विशेष है। नीलाकार विज्ञानविशेष ही नीलवस्तु है। घटाकार विज्ञानविशेष ही घट है। ज्ञातातिरिक्त विषय की पृथक् सत्ता नहीं है। ज्ञानातिरिक्त विषय असत् है। विज्ञानवादी विज्ञान और वस्तु मे अभेदसिद्धि करने के लिये 'सहोपलम्भनियमात्' इस प्रकार 'सहोपलम्भ' का हेतुरूप से उपन्यास करते हैं। और इसी हेतुबल से अनुमान करके ज्ञान–ज्ञेय मे नील और नीलज्ञान में अभेदसिद्धान्त की स्थापना करते हैं।

ज्ञान और ज्ञेय के इस अभेद सिद्धान्त को जानने के लिये उक्त अनुमान के हेतु 'सहोपलम्भ नियमात्' को जानना आवश्यक है। यहॉ पर 'सह' और 'नियम' दो विशेष शब्द है। ज्ञान के साथ ज्ञेयनीलादि की उपलब्धि होती है। ज्ञान के बिना ज्ञेय विषय की उपलब्धि नही हो सकती यही उक्त 'सह' शब्द का अर्थ है, किन्तु 'सह' शब्द के इस प्रकार अर्थ करने पर ज्ञान और ज्ञेय मे अभेद की सिद्धि नही हो सकती। 'किसी के होने पर किसी का होना' इससे दो पदार्थों की सिद्धि होती है, न कि अभेद की। 'सह' शब्द का स्वअर्थ है, साहित्य। साहित्य या असभाव दो भिन्न पदार्थों मे ही सम्भव है। अभेद मे सहभाव कैसा? इसी कारण भदन्त शुभगुप्त ने कहा है– 'विरुद्धोऽय हेतु' यह सहोपलम्भनियम हेतु विरुद्धहेतु है।[८६] ज्ञान और ज्ञेय पूर्णरूप से अभिन्न होने पर सहभाव सम्भव नहीं, अत उक्त हेतु ज्ञान–ज्ञेय मे अभेद का साधक न होकर भेद का ही साधक हुआ, इसीलिये विपरीत हेतु होने के कारण विरुद्ध हेतु हुआ। विरुद्ध हेतु का अर्थ हुआ हेत्वाभास। हेत्वाभास–युक्त अनुमान से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। उक्त हेत्वाभास–दोष से मुक्त होने के लिये शान्तरक्षित ने 'तत्व–संग्रह' मे सह शब्द का प्रयोग न करके प्रकारान्तर से ज्ञान और ज्ञेय के अभेदसिद्धान्त की स्थापना की है। शान्तरक्षित का कहना है कि नील ज्ञान और नील–वस्तु–ज्ञान दोनो एक है।[८७] एक या अभिन्नोपलब्धि ही सहोपलम्भ है। सर्वत्र ज्ञानाकार ही विषयाकार है, अत ज्ञान की उपलब्धि ही विषय की उपलब्धि है, अत ज्ञान और ज्ञेय मे भेद नहीं है। ज्ञान और ज्ञेय एक हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा एक होने पर भी नेत्ररोग के कारण द्विचन्द्रमादर्शन किया करते हैं। वस्तुत चन्द्रमा एक होने पर भी नेत्ररोग के कारण द्विचन्द्रमादर्शन किया करते है। वस्तुत चन्द्रमा दो नहीं हैं, उसी प्रकार ज्ञान–ज्ञेय एक हैं, फिर भी अज्ञानवश लोग दो समझ बैठते हैं।[८८] शान्तरक्षित ने एकोपलब्धि को सहोपलम्भ कहा है। इनके अनुसार 'सह' शब्द का अर्थ एक है, न कि साहित्य। तत्व–सग्रह पंजिका मे किसी विज्ञानवादी आचार्य के अनुसार 'सह' शब्द का अर्थ 'एक काल' किया है। इनके अनुसार कालभेद वस्तुभेद का व्याप्य है। 'कालभेदस्य वस्तुभेदेन व्याप्यत्वात्'[८९] अर्थात् कालभेद होने पर वस्तु मे भी भेद अवश्य होगा। ज्ञान और ज्ञेय की उपलब्धि एक काल मे है, अतः दोनो एक हैं। इस प्रकार स्वतन्त्र विज्ञानवादानुसार ज्ञान की उपलब्धि ही ज्ञेय सत्ता को सिद्ध करती है, अत. ज्ञान–व्यतिरिक्त ज्ञेय की पृथक सत्ता नहीं है। शंकर–वेदान्त के अनुसार भी दृक् व्यतिरेक दृश्य की सिद्धि सम्भव नहीं, क्योंकि अध्यस्त कभी भी अधिष्ठानातिरिक्त नहीं होता। अधिष्ठानसापेक्ष होता है। उक्त सहोपलम्भनियम का और उससे साधित बाह्य सत्ता रहित विज्ञानवाद का अद्वैताचार्यो ने जोरदार शब्दो में प्रत्याख्यान किया है। अद्वैत आचार्यो का कहना है कि नील और नीलज्ञान अभेद अथवा एक साधक हेतु हेत्वाभासमात्र है, क्योंकि घट और

घट–दर्शन का भेद ससार मे प्रसिद्ध है। ज्ञान–ज्ञेय अभेद सिद्धान्त अथवा ज्ञान–ज्ञेय एक सिद्धान्त प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधित है। प्रत्यक्ष प्रमाण प्रबल प्रमाण है, अत प्रबल प्रमाण प्रत्यक्ष द्वारा बाधित अनुमान प्रमाण की गति सम्भव नही है। उक्त हेतु प्रत्यक्ष बाधित होने के कारण विरुद्ध हेत्वाभास है, अत एव प्रकार हेतु से विज्ञानवादी विज्ञान और विज्ञेय मे एकत्व या अभेदत्व साधन नही कर सकते। आचार्य शकर ने 'नाभाव उपलब्धे' (२/२/२८) ब्रह्मसूत्र के इस सूत्रभाष्य मे विज्ञानवाद के उक्त सहोपलम्भनियम का जोरदार खण्डन किया है। वहिर्विश्व को विज्ञानातिरिक्त न मानने के सिद्धान्त के खण्डन मे शकर ने उपलब्धि का प्रश्न उठाया है, अर्थात् वहिर्विश्व घट–पटाादि कैसे नहीं हैं? हमारे सामने जो स्तम्भ या घट दिखायी दे रहे हैं उन्हे नही है– ऐसा कैसे कहा जा सकता है? क्योकि उनकी उपलब्धि हो रही है। उपलभ्यमान वस्तु के अस्तित्व का अपलाप नहीं किया जा सकता।[६०] वाचस्पति मिश्र का कहना है कि बाह्य वस्तु घटादि की उपलब्धि इतनी स्पष्ट है कि उनका अपलाप नही किया जा सकता। मात्र स्पष्ट अनुभव ही नहीं 'यह घट है', 'यह पट है' इत्यादि सार्वजनिक अनुभव हुआ करता है, अर्थात् एक व्यक्ति के लिये जो घट प्रत्यक्षसिद्ध बाह्य वस्तु है, वह सभी के लिये प्रत्यक्षसिद्ध घट है, अत उनका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता।[६१] एक बात और भी है कि जो भी बाह्यविषय की उपलब्धि करता है, वह उपलब्धि की ही उपलब्धि नहीं करता, अपितु बाह्य विषय की उपलब्धि विषयतया करता है, अत बाह्यार्थ का अभाव नहीं है।

शाकर–वेदान्ती बाह्य वस्तु को विज्ञानातिरिक्त व्यावहारिक बाह्यवस्तुयें स्वीकार करते है, इसी कारण विज्ञानवाद के ऊपर उनका आक्षेप है कि वे बाह्य वस्तु को स्वीकार किये बिना ठहर नही सकते, क्योकि बाह्यता का खण्डन करने के लिये भी उसे स्वीकार करना होगा।

आचार्य दिड्.नाग के आलम्बन परीक्षा मे विज्ञानवाद की स्थापना करते हुये कहा है कि– 'यदन्तज्ञेयरूप तु बहिर्वदवभासते'[६२] अर्थात् जो आन्तरविज्ञान है, वही बहिर्विश्व में ज्ञेयरूप से भासता है। ज्ञान के समान ज्ञेय वस्तु भी आन्तर है, बाह्य नहीं। बाह्यता अलीक है, अलीक बाह्यता ही मन मे भासती है और उस बाह्यता को हम सत्य समझ बैठते हैं। आचार्य दिड्.नाग की इस उक्ति को उद्धृत करते हुये अद्वैताचार्यो ने इसका प्रत्याख्यान किया है। आचार्य शंकर का कहना है कि यदि बहिर्विश्व विज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, तब तो घटादि भी अलीक वस्तु है। इस प्रकार सम्पूर्ण बहिर्वस्तुयें अलीक हैं। यदि ऐसी बात है कि बाह्य वस्तुये अलीक हैं, तब उस अलीक वस्तु का उपमान कैसे सम्भव है? विज्ञानवादी जो कहते हैं– 'बहिर्वत', यहाँ बहिर्वस्तु के अभाव मे 'बहिर्वत्– 'बाह्यवस्तु के समान' यह शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है? अर्थात् यदि बाह्य वस्तुयें हैं ही नहीं तब उन्हें उपमान के रूप में कैसे लिया

जा सकता है?[६३] बहिर्वस्तु यदि आकाशकुसुम के समान अलीक है, तब तो 'बहिर्वत्' करके उपमान नही दिया जा सकता, 'आकाशकुसुम के समान देखा जा रहा है।' ऐसा कथन नही होता। 'विष्णुमित्र वन्ध्यापुत्र के समान है' ऐसा कथन कोई भी नहीं करता।[६४] विज्ञानवादी बहिर्विश्व के अस्तित्व को नही स्वीकार करते, फिर भी 'बहिर्वत्' शब्द का प्रयोग करते है। इस प्रकार वे विरुद्धोक्ति करते है। ज्ञेय विषय से ही ज्ञान मे विशेषता आती है। यदि ज्ञेय विषय के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार न किया जाय तब ज्ञान में विशेषता कहॉ से आयेगी? घट–ज्ञान, पट–ज्ञान आदि सभी मे ज्ञान है। ऐसी अवस्था मे घट–पटादि को अलीक कह दिया जाय, तब तो ज्ञान ही मात्र रह जायेगा जिसमे घट–पटादि विशेषताए होगी नहीं। इस पर यदि वासना–वैचित्र्य के कारण ज्ञान मे वैचित्र्य माना जाय तो भी समस्या का समाधान नही हो पाता, क्योकि वासना–वैचित्र्य भी तो ज्ञेय वैचित्र्यता पर निर्भर करेगा। बिना ज्ञेय वैचित्र्य के वासना मे विचित्रता सम्भव नही। विज्ञानातिरिक्त बाह्य सत्ता के अभाव होने पर सर्वत्र ज्ञान का ही ज्ञान होगा, किन्तु व्यवहार मे 'मैने ज्ञान को जाना है' ऐसा बोध न होकर 'मैंने घट को जाना है' ऐसा होता है। यदि काल्पनिक बाह्य वस्तु को माना जाय, तब उसे मिथ्या रूप मे स्वीकार करना ही होगा।

आचार्य शकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य मे (२/२/२९) जाग्रत् और स्वप्न के वैधर्म्य भी बतलाये है। विज्ञानवाद के अनुसार बाह्यवस्तुये स्वप्न की वस्तुओ के समान नि स्वभाव हैं, किन्तु आचार्य शकर यहा पर बाह्य वस्तुओ को स्वप्नतुल्य कहने के भी विरुद्ध हैं। उनका कहना है, जाग्रत् और स्वप्न मे महदन्तर है। प्रथम वैधर्म्य तो बाध–अबाध है, अर्थात् स्वप्नदृष्ट वस्तुये जाग्रत् मे बाधित हो जाती है। स्वप्नदृष्ट महाजन समागम जागने पर नहीं रहता। स्वप्न मे सिह देखकर भीत हुआ व्यक्ति जागने पर भीत नहीं रहता। इस प्रकार स्वाप्निक वस्तुये जाग्रत मे बाधित हो जाती हैं, अत जाग्रत् से स्वाप्निक वस्तुये कम सत्ता वाली हैं।[६५] जाग्रत् वस्तुये अनुभूत वस्तुयें होती है, जबकि स्वप्न की वस्तुये स्मृति मे निहित होती हैं। स्वप्न व्यक्तिगत होता है। जाग्रत् सार्वजनिक है, अर्थात् स्वप्न मे देखी हुई वस्तुये उसी स्वप्नद्रष्टा को ही दिखायी देती हैं, पास मे सोये हुये को नही दिखायी देतीं, जबकि जाग्रत् की वस्तुयें सभी को समानरूप से दिखायी देती है। इस प्रकार शकर ने जाग्रत्–स्वप्न में वैधर्म्य दिखाकर बाह्यवस्तुयें स्वप्नवत् नहीं हैं, सिद्ध किया है।

हमने ऊपर के विवरणो मे देखा है कि किस प्रकार आचार्य शंकर और उनके अनुयायी बौद्ध विज्ञानवाद के खण्डन के प्रसग मे वस्तुवादी दृष्टिकोण को अपनाते हैं। इससे कुछ स्पष्ट हो जाता है कि शकराचार्य प्रत्ययवादी होते हुये भी बाह्य वस्तुओं की सत्ता को अस्वीकार नहीं

करते, यह दूसरी बात है कि वे बाह्य वस्तुओ को व्यावहारिक सत्ता प्रदान करते है। सहोपलम्भ नियम के प्रत्याख्यान से तथा जाग्रत् स्वप्न वैधर्म्य के कथन से शकराचार्य बाह्यविषयक धारणा मे और भी स्पष्ट हो जाते है। बाह्य वस्तुओ का अद्वैत अपलाप नही करता। वाचस्पति मिश्र ने विज्ञानवाद के ज्ञेय निरपेक्ष विज्ञान के विषय मे कहते हुये अद्वैत की बाह्य वस्तु विषयक धारणा को और स्पष्ट किया है। उन्होने कहा है कि ब्रह्मवादी नीलादि की आकारवाली वित्ति को नही मानता किन्तु नील से अनिर्वचनीय को मानता है।[९६] इसी कारण महायानिक मत मे उसका अनुप्रवेश नही होता। कल्पतरुकार ने भी भामती का समर्थन करते हुये कहा है कि बौद्धविज्ञानवादी नीलादि आकार को विज्ञानाकार मानते है न कि वेदान्ती।[९७] न्यायमकरन्दकार आनन्द भट्टारक ने भी शकर मत को विज्ञानवाद से भिन्न प्रकार का बतलाने के लिये कहा है कि– हम प्रपच को आकाशकमल नही कहते। यदि प्रातीतिक प्रपच को स्वीकार न करते तब तो विज्ञानवाद मे ही अनुद्रवेश हो जाता।[९८]

इस प्रकार हमने देखा कि शाकर–वेदान्ती जगत् की अनिर्वचनीयता की रक्षा के लिये व्याकुल हैं, जबकि बौद्धविज्ञानवादी जगत् की वस्तुओ के आकारों को भी विज्ञानाकार बतलाते हैं। शाकर–वेदान्त मे 'दृष्टिसृष्टिवाद' नामक एक सिद्धान्त है, जिसकी तुलना विज्ञानवाद से की जा सकती है। प्रो० दासगुप्त के अनुसार शकर मे दृष्टिसृष्टिवादी आचार्य मण्डनमिश्र और बाद मे उनका अनुयायी प्रकाशानन्द है। इस मत के अनुसार भी दृष्टि समकालीन सृष्टि मानी गई है। ज्ञान मे प्रतिभास होता है, इसलिये विषय है, ज्ञान प्रतिभासक न होने पर विषय भी नही है। समस्त वस्तुये इस मत के अनुसार साक्षी–भास्य है। यदि द्रष्टा जीव न हो तो जगत्दर्शन भी नही रहेगा, क्योकि द्रष्टा के बिना दृश्य नहीं है।, दृश्य द्रष्टा के आधीन है। मण्डन मिश्र के अनुसार बाह्य वस्तुये सिद्ध होती तो उन्हे ज्ञान निरपेक्ष कह सकते, किन्तु दृष्टि के बिना दृश्य असिद्ध है।[९९]

मण्डन मिश्र के उक्त सिद्धान्त का अनुसरण प्रकाशानन्द ने किया है और दृष्टि निरपेक्ष सत्ता का उन्होने भी प्रत्याख्यान किया है।[१००] प्रकाशानन्द के अनुसार बौद्ध विज्ञानवाद के समान ही ज्ञान और ज्ञेय साथ मे पाये जाने के कारण सब कुछ ज्ञान का ही प्रतिभास है।[१०१] किन्तु शाकर–वेदान्त के विवरण सम्प्रदाय के आचार्य पद्मपाद और प्रकाशात्मयति इस दृष्टिसृष्टि के विरोधी है। उनके अनुसार ज्ञान व्यतिरिक्त भी बाह्य वस्तुओं का व्यावहारिक अस्तित्व है।[१०२] अद्वैतसिद्धिकार ने उक्त दृष्टिसृष्टि का अर्थ ही व्यावहारिक–सत्तापरक किया है। उनके अनुसार दृष्टिसृष्टि का अर्थ 'दृष्टि रेव सृष्टि' नहीं है, क्योंकि दृष्टि ही सृष्टि मानने

पर बौद्ध विज्ञानवाद मे अनुप्रवेश होगा। न ही उन्होने दृष्टि व्यतिरिक्त सृष्ट्यभाव को ही 'दृष्टिसृष्टि' माना है। 'दृष्टिसमकालीनसृष्टि' इस पक्ष का भी प्रत्याख्यान करके उन्होने 'ज्ञातैकसत्व' अथवा 'अज्ञातसत्वाभाव' को ही 'दृष्टिसृष्टि' कहा है।[१०३] घट–पटादि वस्तुएँ जब भी है ज्ञानपूर्वक है, अर्थात् उनकी सत्ता ज्ञात होती है। कोई भी वस्तु अज्ञातसत्व नही होती। इस प्रकार अद्वैतसिद्धिकार ने बाह्यवस्तुओं को ज्ञान–भिन्न माना है। साथ मे वे वस्तुये ज्ञातसत्व होने के कारण दृगध्यस्त भी है। दृष्टिसृष्टि के अद्वैतसिद्धिकार द्वारा प्रदर्शित अर्थ से वस्तुएँ ज्ञानातिरिक्त होते हुए भी ज्ञानाध्यस्त होती है। इस प्रकार शकर का अनिर्वचनीय वस्तुवाद शान्तरक्षित और धर्मकीर्ति के क्षणिक विज्ञानवाद से भिन्न सिद्ध होता है, क्योंकि इनके अनुसार 'ज्ञातैकसत्व होना' ज्ञान ही हो जाना नही है। घट ज्ञात है, किन्तु ज्ञान से भिन्न सत्व वाला है। वह सत्व न सत् है न असत् है, किन्तु सद्सदनिर्वचनीय है। उक्त स्वतन्त्र विज्ञानवाद से अद्वैत् मत का अन्तर यह है कि शकर मत मे स्थिर अधिष्ठान मे अध्यस्त मिथ्या जगत् को माना जाता है, जबकि विज्ञानवाद मे क्षणिक विज्ञान ही सत् है।[१०४]

स्वतन्त्र विज्ञानवाद मे बाह्यवस्तुविषयक धारणा क्या है, ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जाती है। जैसाकि हमने पहले दर्शाया है कि वसुबन्धु का विज्ञानवाद शाश्वत विज्ञानवाद है, जबकि धर्मकीर्ति–शान्तरक्षित की ओर से ऐसा कोई आग्रह नहीं। सहोपलम्भ नियम से उक्त विज्ञानवाद ने सिद्ध किया है कि विज्ञानातिरिक्त वस्तुएँ है नहीं, जबकि शकर ने ज्ञानतिरिक्त वस्तु की सिद्धि किया है कि विज्ञानातिरिक्त वस्तुएँ है नही, जबकि शकर मे ज्ञानातिरिक्त वस्तु की सिद्धि के लिए बहुत प्रयास देखा जाता है 'अन्तर्ज्ञेयरूप बहिर्वत्' के प्रत्याख्यान मे देखा है कि किस प्रकार शकर और उनके अनुयायी बाह्यवस्तुओ को विज्ञानरूपता से भिन्न सिद्ध करने को तत्पर है। इसी प्रकार जाग्रत् स्वप्न वैधर्म्य–विचार मे भी शकराचार्य दोनो मे अन्तर दिखाते है। तात्पर्य यही निकलता है कि स्वप्न प्रातिभासिक है। स्वाप्निक वस्तुएँ भी प्रातिभासिक है। किन्तु जाग्रत् के घटादि पदार्थ उससे भिन्न व्यावहारिक हैं। घटादि पदार्थ सार्वजनिक होने के कारण व्यावहारिक है। साथ मे घटादि का बाध ब्रह्म के ज्ञान से पूर्व नहीं होता, अत घटादि वस्तुएँ प्रातिभासिक स्वप्न या रज्जु–सर्प के समान मिथ्या न होकर अन्य प्रकार मिथ्या हैं, अर्थात् व्यवहारविषय होते हुए भी त्रिकालाबाध्य न होने के कारण मिथ्या हैं। स्वप्नादि के दृष्टान्त अद्वैत मे भी दिये गये हैं, किन्तु व्यवहार में दोनो मे सत्ताभेद को स्वीकार करते हुए ही ऐसे दृष्टान्त दिये गये हैं।

इस प्रकार बौद्धो के विज्ञानवाद के अन्तर्गत आत्मख्यातिवादी सिद्धान्त की समीक्षा की गयी है। लेकिन इसमे आचार्य शंकर के मत के साथ ही साथ वस्तुवादी दार्शनिकों ने भी

आत्मख्यातिवादी सम्बन्धी भ्रम सिद्धान्त की अपने तर्को के द्वारा समीक्षा की है। जिसकी चर्चा हम अपने अगले प्रकरण मे करने जा रहे है।

वस्तुवादी दार्शनिक रामानुज द्वारा आत्मख्याति का प्रत्याख्यान

आत्मख्यातिवाद का प्रत्याख्यान

रामानुज ने सर्वप्रथम विज्ञानवादी बौद्धो के आत्मख्यातिवादी भ्रम–सिद्धान्त की विवेचना की है। तदुपरान्त अपना मत दिया है।

विज्ञानवादी बौद्धो के अनुसार न तो कोई बाह्य पदार्थ है, और न तो कोई नित्य आत्म तत्व है। जो कुछ है वह विज्ञप्तिमात्र या चित्त मात्र है और वह क्षणिक है। शुक्ति रजत के विषय मे उनका कहना है कि विज्ञान के रूप मे शुक्ति और रजत दोनो सत्य हैं, किन्तु बाह्य पदार्थ के रूप मे दोनो असत्य है। 'इद रजतम्' के मिथ्यात्व का अर्थ वे यह लगाते है कि 'रजतम् इदं न' अर्थात् रजत कोई बाह्य पदार्थ नहीं है। भ्रम के कारण बाह्य पदार्थवत् मालूम पडता है। सौत्रान्तिक एव वैभाषिक भी आत्मख्यातिवादी हैं, किन्तु सौत्रान्तिक एव वैभाषिक बाह्य पदार्थस्तित्वादी हैं, वैभाषिक मत मे बाह्य पदार्थ प्रत्यक्ष है, सौत्रान्तिक मत मे अनुमेय। इसलिए दोनो के मत मे भ्रम का अधिष्ठान बाह्य पदार्थ और आरोप्यवस्तु ज्ञानाकार है।[१०५] विज्ञानवादी बौद्धो का कहना है कि जो वस्तु जिस रूप मे हमारे ज्ञान मे प्रतीत होती है, वह वस्तु उसी रूप मे है, यही ज्ञान का साधारण नियम है। जहॉ पर इस नियम का व्यतिक्रम होता है अर्थात् किसी प्रबल बाधक प्रत्यय द्वारा पूर्वोत्पन्न ज्ञान का बाध हो जाता है तब वह भ्रम सिद्ध होता है।[१०६] न्यायमकरन्द मे आत्मख्यातिवाद को प्रस्तुत करते हुए आनन्दबोध कहते हैं कि विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञानाकार रजत के बाहर अवभास को ही विभ्रम कहते हैं[१०७] माधवाचार्य ने भ्रम स्थल मे विज्ञानवादियो के दृष्टिकोण को 'शुक्ति रजत विज्ञानरूप है', अनुमान द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। अनुमान इस प्रकार है– विमतरजत बुद्धिरूप है, क्योकि यह इन्द्रिय सन्निकर्ष के बिना ही प्रत्यक्ष होता है, जैसा कि बुद्धि।[१०८] जिस प्रकार बुद्धि के प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं पडती, क्योकि बुद्धि का मानस प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार शुक्ति रजत भी बुद्धि रूप होने के कारण इन्द्रिय सन्निकर्ष निरपेक्ष होकर प्रत्यक्ष होता है, अतः वह बुद्धि या विज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं। इस पर माधवाचार्य शंका करते हुए कहते हैं–विज्ञानवाद के अनुसार सहकारी प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय, समनन्तर प्रत्यय और आलम्बन प्रत्यय इन चार प्रकार के हेतुओं से ही चित्तचैत्यों की उत्पत्ति होती है।[१०९]

सहकारी प्रत्यय- प्रत्येक ज्ञान मे सहकारी प्रत्यय की आवश्यकता होती है। घटादि विषयो के ज्ञान के लिए प्रकाश एव सामीप्य आदि सहकारी प्रत्ययो की आवश्यकता होती है, क्योकि समीप होने पर भी अन्धकार मे घटादि विषयो का ज्ञान नही हो सकता। इसी प्रकार प्रकाशादि के रहने पर भी दूरवर्ती घट का ज्ञान सम्भव नही है।

आलम्बन प्रत्यय- किसी भी विषय के ज्ञान मे उस विषय का आलम्बन भी हेतु होता है। घट के ज्ञान का कारण बाह्य घट है। यही घट ज्ञान का आलम्बन एवम् आधार है।

समनन्तर प्रत्यय- मन स्थित पूर्ववर्ती ज्ञान के आधार पर ही किसी विषय का ज्ञान सम्भव होता है। इसी को समनन्तर प्रत्यय कहते हैं। घटपटादि के ज्ञान के लिए चित्त मे पूर्वस्थित घट–पटादि ज्ञान का होना आवश्यक है।

अधिपति प्रत्यय- इन्द्रियॉ ज्ञान की नियामक होने के कारण अधिपति है। बिना इन्द्रियो के किसी बाह्य विषय का ज्ञान नहीं हो सकता, यही अधिपति प्रत्यय है।

सहकारी प्रत्यय आलोकादि से रजत की उत्पत्ति नहीं मान सकते, क्योकि आलोकादि तो स्पष्टता के प्रति हेतु होते हैं। अधिपति प्रत्यय चक्षुरादि विषय नियमन मे हेतु है, न कि उत्पन्न करने मे। इसी प्रकार समनन्तर प्रत्यय पूर्वज्ञान से भी रजत उत्पन्न नही हो सकता, क्योकि विजातीय घटादि के ज्ञान, उससे विजातीय रजत भ्रम उत्पन्न करने मे बाधक हो जायेगे और आलम्बन प्रत्यय से भी शुक्ति रजत की उत्पत्ति नहीं मान सकते, क्योकि विज्ञानवादी बाह्य वस्तु मानते ही नही, फिर विज्ञान को रजत का आकार कहॉ से प्राप्त होगा। इसका उत्तर देते हुए विज्ञानवादी कहते हैं कि अनादि सस्कार के सामर्थ्य से ही विज्ञान रजताकार हो सकेगा। संस्कार आन्तर पदार्थ है, इसके लिए बाह्य वस्तु को मानने की आवश्यकता नहीं है। आत्मख्यातिवादी कहते हैं कि 'इद रजतम्' में इदमंश का ही बाध होता है। रजतांश का बाध नहीं होता, उसके लिए विज्ञानवादी गौरवदोष का तर्क प्रस्तुत करते हैं।[११०] इनका कहना है कि 'इद रजतम' मे रजत विशेष्य या धर्मी है एवम् 'इद' विशेषण या धर्म है। यदि न इद रजतम इस प्रकार बाध मे रजत का बाध माने तो रजतरूपी धर्मी के बाध के साथ धर्म इद का भी बाध हो जायेगा, क्योकि धर्मी या विशेष्य के बिना धर्म या विशेषण रह नहीं सकता। इस प्रकार दो का बाध मानना पडेगा। यदि एक के बाध मानने पर कार्य सिद्ध हो तो लाघव होगा और लाघव होना हमारे पक्ष मे एक समीचीन युक्ति है। दो के बाध मानने पर गौरव होगा, गौरव एक दोष है जो कि पक्ष को कमजोर करता है, अत. मात्र इदं का ही बाध माना जाय।[१११] इससे इदमंश का भी मिथ्यात्व हो जायेगा। इदमंश के बिना रजत ज्ञानाकार ही रह जायेगा, क्योंकि बाह्यता

इदन्तामात्र मे ही थी। इदन्ता के बाध होने पर बाह्यता का बाध हो जाता है, तब रजत जो कि सामने नही है ज्ञान मे ही रह जाता है। सामने तो इद होता है न कि रजत, वह तो पहले से ही ज्ञान मे है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि बाध बुद्धि द्वारा इदन्ता का ही निराकरण होता है न कि रजत का।[११२]

प्रत्ययवादी दार्शनिक अद्वैतवादियो के साथ ही साथ वस्तुवादी दार्शनिको ने भी इस मत (आत्मख्यातिवाद) को अनेक तर्कों से असगत स्वीकार किया। रामानुजाचार्य इसका खण्डन करते हुए कहते है कि ज्ञान से भिन्न बाह्यार्थ नही है, ऐसा कथन तर्कसगत नहीं है, क्योकि ज्ञाता को जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अर्थ विशेष व्यवहार योग्यता निष्पादन रूप ही प्राप्त होता है।[११३] 'ज्ञा' धातु का अर्थ सकर्मक सकर्तृक ही प्राप्त होता है। यदि आप (विज्ञानवादी) "सहोपलम्भ नियम" से इसे सिद्ध करने का प्रयत्न करे तब तो आपका सिद्धान्त ही खण्डित हो जायेगा, क्योंकि एक साथ प्रतीति कहने का अर्थ ही है पदार्थ की भिन्नता। अत अर्थ की विचित्रता के कारण ही ज्ञान की विचित्रता है। यदि आप विज्ञान की रजत का अवभासन सस्कार मात्र से कहे तो यह सस्कार स्थायी है या क्षणिक। यदि स्थायी कहेगे तो आपका सिद्धान्त भग होगा। यदि क्षणिक कहेगे तो द्वितीय क्षण मे सस्कार रहेगा ही नहीं। अत "इद रजतम्" की प्रतीति नहीं हो सकेगी। मीमासक नैयायिक आदि बाह्य वस्तुओ को यथार्थ स्वीकार करते हैं। इस कारण उन्होने भी आत्मख्यातिवाद का अनेक तर्कों से खण्डन किया है। ये विज्ञानवादियो से यह प्रश्न उठाते है कि भ्रम का जो सशोधन होता है वह किस प्रकार होता है? यह रजत नहीं है, इस प्रकार अथवा रजत यह नही है। इस प्रकार स्पष्ट है कि निवारण का बाधक स्वरूप यह नहीं है कि रजत यह नही है बल्कि यह है कि यह रजत नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि रजत के बाह्यत्व मात्र का निषेध करना है तो उसके लिए सीप के ज्ञान की क्या आवश्यकता है? परन्तु क्या सीप के ज्ञान के बिना हम यह कह सकते हैं कि यह रजत नहीं है? विज्ञानवादियो के अनुसार बाह्यार्थ न मानने से ज्ञान तथा स्मृति अथवा कल्पना का भेद नहीं किया जा सकता है। विज्ञान को स्वसवेद्य मानने से विज्ञान मे ज्ञाता और ज्ञेय का भेद हो जाता है। यदि प्रत्येक ज्ञान स्वसवेद्य और क्षणिक है तो यह सर्प है इस प्रकार का ज्ञान ही सम्भव नहीं है। भ्रम के विश्लेषण से सहोपलम्भ नियम भी गलत सिद्ध होता है। जिस समय हमको सर्प का प्रत्यक्ष होता है उस समय रज्जु का ज्ञान नहीं रहता, फिर भी जब भ्रम का बोध होता है तो हम यही कहते हैं, रज्जु वहॉ थी किन्तु हमने उसे सर्प समझ लिया था। अर्थात् रज्जु का अस्तित्व जिस समय रज्जु का ज्ञान नहीं था उस समय भी सिद्ध होता है। भामतीकार ने मीमांसकों की ओर से बौद्ध

विज्ञानवादी से प्रश्न किया है कि 'इद रजतम्' इस भ्रम स्थल मे रजत को विज्ञान का ही आकार निश्चित रूप से कहा गया है? इसमे प्रश्न यह उठता है कि किस प्रमाण से विज्ञानवादी रजत को ज्ञान का धर्म स्वीकार करते है? प्रत्यक्ष से नही कहा जा सकता, क्योकि प्रत्यक्ष द्वारा "इद रजतम्" इस ज्ञान मे सामने स्थित वस्तु का प्रत्यक्ष हो रहा है न कि आन्तर विज्ञान का।[११४] इस प्रत्यक्ष मे "इद" रजत के आधार के रूप मे प्रतीत होता है, इसी कारण से रजतार्थी रजत को सत्य समझकर सामने उसे उठाने के लिए दौड पडता है। प्रत्यक्ष द्वारा यदि 'रजत' का ज्ञान का आकार जाना जाता तब तो यह रजत अनुभव न होकर "मै रजत" ऐसा अनुभव होता, क्योकि विज्ञानवाद के अनुसार "मै" भी विज्ञानातिरिक्त कुछ नहीं है। इसलिए रजत जब ज्ञान मे भासता है तब इदन्ता करके बाह्यता का प्रतिभास नहीं हो सकता। बाह्यता असत्य है, इसलिए आनन्दबोध का पूर्वपक्ष की ओर से कहना है कि असत्य बाह्यता का प्रतिभास अयुक्त है।[११५] चित्सुखाचार्य का भी कहना है कि 'इद रजतम्' ऐसा ज्ञान होने के पश्चात् 'नेद रजतम्' ऐसा विशिष्ट का बाध देखा जाता है, अत अनुभव–विरोध होने से कल्पना लाघव न्याय का अवतरण नहीं हो सकता।[११६] पुन इनका आक्षेप है कि जब सभी वस्तुऍ बुद्धि रूप है तो बुद्धिरूप अग्नि से बुद्धिरूप अग्नि प्राप्त होता है। बुद्धि रूप अग्नि से बुद्धि रूप भोजन भी पकता है। किसी को यदि गुजाफल देखकर अग्नि की बुद्धि होती हो तो उसी से उसकी बुद्धिरूपी ताप भी मिलना चाहिए, भोजन भी पक जाना चाहिए, क्योकि यहॉ बाहर क्या है उसका सवाल नहीं है? इष्टसिद्धिकार ने आत्मख्याति की आलोचना करते हुए इसे भी एक प्रकार की सत्ख्याति ही कहा है जिसकी कहीं न कहीं प्रतीति होती है, वह वहॉ पर सत् है, अत सत् की ही ख्याति होगी। उनके अनुसार "आत्मख्याति, अख्याति और अन्यथाख्याति भी सत्ख्याति है, क्योकि इनमे किसी ने विज्ञान के रूप मे, किसी ने स्मृति के विषय के रूप मे, किसी न रजत के रूप में रजत को सत माना है।[११७] अन्तर्ज्ञेय रूप रजत ही बाहर सा लगता है अर्थात् बाहर रजत नहीं है अपितु अन्तर स्थित है। आन्तर पदार्थ ही आन्तर के रूप मे प्रतीत न होकर विपरीत बाह्य रूप में प्रतीत होता है, इस कारण जयन्त भट्ट ने इसे भी विपरीतख्याति कहा है।[११८] वाह्यता को पूर्ण रूप से अस्वीकार करने के कारण यह असत्ख्याति भी है।[११९] वस्तुत विज्ञानवाद के अनुसार शुक्ति रजत और व्यावहारिक रजत दोनों ही बाह्यता शून्य हैं। उनमें बाह्यतांश भ्रम है, यह बात तो समझ मे आती है, किन्तु विज्ञानवादी के अनुसार उक्त दोनों रजतों में अन्तर करने की कसौटी क्या है? यदि दोनों ही एक प्रकार से विज्ञान रूप हुए अर्थात् भ्रम स्थल की वस्तु और व्यावहारिक वस्तु दोनो ही यदि विज्ञानाकार ही हुई तब भ्रम और प्रमा में अन्तर ही नहीं हो सकेगा।[१२०] इस प्रकार भ्रम की व्याख्या आत्मख्यातिवाद के अनुसार भी अपूर्ण है। शंकराचार्य ने

सहकारी प्रत्यय- प्रत्येक ज्ञान मे सहकारी प्रत्यय की आवश्यकता होती है। घटादि विषयो के ज्ञान के लिए प्रकाश एव सामीप्य आदि सहकारी प्रत्ययो की आवश्यकता होती है, क्योकि समीप होने पर भी अन्धकार मे घटादि विषयो का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार प्रकाशादि के रहने पर भी दूरवर्ती घट का ज्ञान सम्भव नहीं है।

आलम्बन प्रत्यय- किसी भी विषय के ज्ञान मे उस विषय का आलम्बन भी हेतु होता है। घट के ज्ञान का कारण बाह्य घट है। यही घट ज्ञान का आलम्बन एवम् आधार है।

समनन्तर प्रत्यय- मन स्थित पूर्ववर्ती ज्ञान के आधार पर ही किसी विषय का ज्ञान सम्भव होता है। इसी को समनन्तर प्रत्यय कहते है। घटपटादि के ज्ञान के लिए चित्त मे पूर्वस्थित घट–पटादि ज्ञान का होना आवश्यक है।

अधिपति प्रत्यय- इन्द्रियॉ ज्ञान की नियामक होने के कारण अधिपति है। बिना इन्द्रियो के किसी बाह्य विषय का ज्ञान नही हो सकता, यही अधिपति प्रत्यय है।

सहकारी प्रत्यय आलोकादि से रजत की उत्पत्ति नहीं मान सकते, क्योकि आलोकादि तो स्पष्टता के प्रति हेतु होते है। अधिपति प्रत्यय चक्षुरादि विषय नियमन मे हेतु है, न कि उत्पन्न करने मे। इसी प्रकार समनन्तर प्रत्यय पूर्वज्ञान से भी रजत उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योकि विजातीय घटादि के ज्ञान, उससे विजातीय रजत भ्रम उत्पन्न करने में बाधक हो जायेगे और आलम्बन प्रत्यय से भी शुक्ति रजत की उत्पत्ति नहीं मान सकते, क्योकि विज्ञानवादी बाह्य वस्तु मानते ही नहीं, फिर विज्ञान को रजत का आकार कहॉ से प्राप्त होगा। इसका उत्तर देते हुए विज्ञानवादी कहते हैं कि अनादि संस्कार के सामर्थ्य से ही विज्ञान रजताकार हो सकेगा। सस्कार आन्तर पदार्थ है, इसके लिए बाह्य वस्तु को मानने की आवश्यकता नहीं है। आत्मख्यातिवादी कहते हैं कि 'इद रजतम्' मे इदमश का ही बाध होता है। रजताश का बाध नही होता, उसके लिए विज्ञानवादी गौरवदोष का तर्क प्रस्तुत करते है।[११०] इनका कहना है कि 'इद रजतम' मे रजत विशेष्य या धर्मी है एवम् 'इद' विशेषण या धर्म है। यदि न इदं रजतम इस प्रकार बाध मे रजत का बाध माने तो रजतरूपी धर्मी के बाध के साथ धर्म इदं का भी बाध हो जायेगा, क्योकि धर्मी या विशेष्य के बिना धर्म या विशेषण रह नहीं सकता। इस प्रकार दो का बाध मानना पडेगा। यदि एक के बाध मानने पर कार्य सिद्ध हो तो लाघव होगा और लाघव होना हमारे पक्ष मे एक समीचीन युक्ति है। दो के बाध मानने पर गौरव होगा, गौरव एक दोष है जो कि पक्ष को कमजोर करता है, अत. मात्र इदं का ही बाध माना जाय।[१११] इससे इदमश का भी मिथ्यात्व हो जायेगा। इदमंश के बिना रजत ज्ञानाकार ही रह जायेगा, क्योंकि बाह्यता

इदन्तामात्र मे ही थी। इदन्ता के बाध होने पर बाह्यता का बाध हो जाता है, तब रजत जो कि सामने नही है ज्ञान मे ही रह जाता है। सामने तो इद होता है न कि रजत, वह तो पहले से ही ज्ञान मे है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि बाध बुद्धि द्वारा इदन्ता का ही निराकरण होता है न कि रजत का।[११२]

प्रत्ययवादी दार्शनिक अद्वैतवादियो के साथ ही साथ वस्तुवादी दार्शनिको ने भी इस मत (आत्मख्यातिवाद) को अनेक तर्को से असगत स्वीकार किया। रामानुजाचार्य इसका खण्डन करते हुए कहते है कि ज्ञान से भिन्न बाह्यार्थ नहीं है, ऐसा कथन तर्कसगत नहीं है, क्योकि ज्ञाता को जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अर्थ विशेष व्यवहार योग्यता निष्पादन रूप ही प्राप्त होता है।[११३] 'ज्ञा' धातु का अर्थ सकर्मक सकर्तृक ही प्राप्त होता है। यदि आप (विज्ञानवादी) "सहोपलम्भ नियम" से इसे सिद्ध करने का प्रयत्न करे तब तो आपका सिद्धान्त ही खण्डित हो जायेगा, क्योकि एक साथ प्रतीति कहने का अर्थ ही है पदार्थ की भिन्नता। अत अर्थ की विचित्रता के कारण ही ज्ञान की विचित्रता है। यदि आप विज्ञान की रजत का अवभासन सस्कार मात्र से कहे तो यह सस्कार स्थायी है या क्षणिक। यदि स्थायी कहेंगे तो आपका सिद्धान्त भग होगा। यदि क्षणिक कहेगे तो द्वितीय क्षण मे सस्कार रहेगा ही नहीं। अत "इद रजतम्" की प्रतीति नहीं हो सकेगी। मीमासक नैयायिक आदि बाह्य वस्तुओ को यथार्थ स्वीकार करते हैं। इस कारण उन्होने भी आत्मख्यातिवाद का अनेक तर्को से खण्डन किया है। ये विज्ञानवादियो से यह प्रश्न उठाते हैं कि भ्रम का जो सशोधन होता है वह किस प्रकार होता है? यह रजत नहीं है, इस प्रकार अथवा रजत यह नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट है कि निवारण का बाधक स्वरूप यह नहीं है कि रजत यह नही है बल्कि यह है कि यह रजत नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि रजत के बाह्यत्व मात्र का निषेध करना है तो उसके लिए सीप के ज्ञान की क्या आवश्यकता है? परन्तु क्या सीप के ज्ञान के बिना हम यह कह सकते हैं कि यह रजत नहीं है? विज्ञानवादियो के अनुसार बाह्यार्थ न मानने से ज्ञान तथा स्मृति अथवा कल्पना का भेद नहीं किया जा सकता है। विज्ञान को स्वसवेद्य मानने से विज्ञान मे ज्ञाता और ज्ञेय का भेद हो जाता है। यदि प्रत्येक ज्ञान स्वसवेद्य और क्षणिक है तो यह सर्प है इस प्रकार का ज्ञान ही सम्भव नहीं है। भ्रम के विश्लेषण से सहोपलम्भ नियम भी गलत सिद्ध होता है। जिस समय हमको सर्प का प्रत्यक्ष होता है उस समय रज्जु का ज्ञान नहीं रहता, फिर भी जब भ्रम का बोध होता है तो हम यही कहते हैं, रज्जु वहॉ थी किन्तु हमने उसे सर्प समझ लिया था। अर्थात् रज्जु का अस्तित्व जिस समय रज्जु का ज्ञान नहीं था उस समय भी सिद्ध होता है। भामतीकार ने मीमांसकों की ओर से बौद्ध

विज्ञानवादी से प्रश्न किया है कि 'इद रजतम्' इस भ्रम स्थल मे रजत को विज्ञान का ही आकार निश्चित रूप से कहा गया है? इसमे प्रश्न यह उठता है कि किस प्रमाण से विज्ञानवादी रजत को ज्ञान का धर्म स्वीकार करते है? प्रत्यक्ष से नही कहा जा सकता, क्योकि प्रत्यक्ष द्वारा "इद रजतम्" इस ज्ञान मे सामने स्थित वस्तु का प्रत्यक्ष हो रहा है न कि आन्तर विज्ञान का।[११४] इस प्रत्यक्ष मे "इद" रजत के आधार के रूप मे प्रतीत होता है, इसी कारण से रजतार्थी रजत को सत्य समझकर सामने उसे उठाने के लिए दौड पडता है। प्रत्यक्ष द्वारा यदि 'रजत' का ज्ञान का आकार जाना जाता तब तो यह रजत अनुभव न होकर "मै रजत" ऐसा अनुभव होता, क्योकि विज्ञानवाद के अनुसार "मै" भी विज्ञानातिरिक्त कुछ नहीं है। इसलिए रजत जब ज्ञान मे भासता है तब इदन्ता करके बाह्यता का प्रतिभास नहीं हो सकता। बाह्यता असत्य है, इसलिए आनन्दबोध का पूर्वपक्ष की ओर से कहना है कि असत्य बाह्यता का प्रतिभास अयुक्त है।[११५] चित्सुखाचार्य का भी कहना है कि 'इद रजतम्' ऐसा ज्ञान होने के पश्चात् 'नेद रजतम्' ऐसा विशिष्ट का बाध देखा जाता है, अत. अनुभव–विरोध होने से कल्पना लाघव न्याय का अवतरण नहीं हो सकता।[११६] पुन इनका आक्षेप है कि जब सभी वस्तुऍ बुद्धि रूप है तो बुद्धिरूप अग्नि से बुद्धिरूप अग्नि प्राप्त होता है। बुद्धि रूप अग्नि से बुद्धि रूप भोजन भी पकता है। किसी को यदि गुजाफल देखकर अग्नि की बुद्धि होती हो तो उसी से उसकी बुद्धिरूपी ताप भी मिलना चाहिए, भोजन भी पक जाना चाहिए, क्योकि यहॉ बाहर क्या है उसका सवाल नहीं है? इष्टसिद्धिकार ने आत्मख्याति की आलोचना करते हुए इसे भी एक प्रकार की सत्ख्याति ही कहा है जिसकी कहीं न कहीं प्रतीति होती है, वह वहॉ पर सत् है, अत. सत् की ही ख्याति होगी। उनके अनुसार "आत्मख्याति, अख्याति और अन्यथाख्याति भी सत्ख्याति है, क्योकि इनमे किसी ने विज्ञान के रूप मे, किसी ने स्मृति के विषय के रूप मे, किसी न रजत के रूप मे रजत को सत माना है।[११७] अन्तर्ज्ञेय रूप रजत ही बाहर सा लगता है अर्थात् बाहर रजत नहीं है अपितु अन्तर स्थित है। आन्तर पदार्थ ही आन्तर के रूप मे प्रतीत न होकर विपरीत बाह्य रूप मे प्रतीत होता है, इस कारण जयन्त भट्ट ने इसे भी विपरीतख्याति कहा है।[११८] वाह्यता को पूर्ण रूप से अस्वीकार करने के कारण यह असत्ख्याति भी है।[११९] वस्तुत विज्ञानवाद के अनुसार शुक्ति रजत और व्यावहारिक रजत दोनो ही बाह्यता शून्य हैं। उनमें बाह्यताश भ्रम है, यह बात तो समझ में आती है, किन्तु विज्ञानवादी के अनुसार उक्त दोनो रजतों में अन्तर करने की कसौटी क्या है? यदि दोनों ही एक प्रकार से विज्ञान रूप हुए अर्थात् भ्रम स्थल की वस्तु और व्यावहारिक वस्तु दोनो ही यदि विज्ञानाकार ही हुई तब भ्रम और प्रमा में अन्तर ही नहीं हो सकेगा।[१२०] इस प्रकार भ्रम की व्याख्या आत्मख्यातिवाद के अनुसार भी अपूर्ण है। शंकराचार्य ने

आत्मख्यातिवाद के समर्थक विज्ञानवादी बौद्ध के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि अर्थ से अतिरिक्त भी विज्ञान स्वय ही अनुभव मे आता है, यह कथन अनुचित है, क्योकि आत्मा मे क्रिया का विरोध है। अनुभव के अनुसार तत्व स्वीकार करने वालो को यही स्वीकार करना चाहिए कि बाह्य अर्थ का ही अवभास होता है न कि यह कहना चाहिए कि बहिर्वत् भासता है।[१२१] पुन आचार्य शकर का कहना है कि बौद्ध दार्शनिको का यह कथन नितान्त असगत है कि बाह्य अर्थ के बिना भी वासना–वैचित्र्य से ही ज्ञान वैचित्र्य हो सकता है। शकर का तर्क है कि बाह्यार्थों की अनुपलब्धि रहने पर वासनाओ की विचित्रता उत्पन्न नहीं हो सकती।[१२२] वासनाओ के अनादि मानने पर तो अन्ध परम्परा से व्यवहार का लोप करने वाली अनवस्था उत्पन्न हो जायेगी। इसलिए आत्मख्यातिवादी का बाह्यार्थ का निषेध करना अत्यन्त अनुचित है।

खण्ड (घ) : शून्यवाद का असत्ख्याति

नागार्जुन ने माध्यमिक कारिका मे शून्यवाद की स्थापना की है। नागार्जुन के अनुसार बाह्यवस्तुएँ अबोध्य होने के कारण अयथार्थ हैं। शून्यवादी माध्यमिक दृश्य प्रपच को एव विज्ञान को भी असत् कहते है अर्थात् उनके अनुसार विषय भी असत् और विषयविज्ञान भी असत्। विषय और ज्ञान को असत् मानने पर ज्ञाता को भी असत् मानना ही पडेगा। इस प्रकार माध्यमिक के अनुसार ज्ञेय, ज्ञाता एव ज्ञान तीनो ही असत् है।[१२३] जिस प्रकार विज्ञानवादी ने बाह्य पदार्थों को असत् कहा है, उसी प्रकार माध्यमिको ने विज्ञान को भी असत् कहा है। भ्रमस्थल मे भी भ्रमअधिष्ठानशुक्ति असत् है एव आरोप्य विषय रजत् भी असत् है। शुक्ति रजत भ्रम मे अत्यन्त असत् रजत की प्रतीति होती है।

ज्ञान–ज्ञेय–ज्ञाता तीनो के रूप मे वस्तुएँ सिद्ध नहीं हो सकतीं। सम्बन्धो की जटिलता को ही लोग ससार कहते है, परन्तु विश्लेषण करने पर सम्बन्ध दुर्बोध्य है। नागार्जुन ने चेतन–अचेतन सभी को अवास्तव कहा है। जिस प्रकार माया, गन्धर्वनगर, स्वप्न मिथ्या है उसी प्रकार प्रपच मिथ्या है। आचार्य नागार्जुन ने ससार की सभी वस्तुओ को अवास्तव कहा है, क्योकि वे प्रतीत्यसमुत्पन्न है। प्रतीत्यसमुत्पन्न का अर्थ है, कारण पर निर्भरशीलता। कोई भी कार्य अपने कारण से व्यतिरिक्त उत्पन्न नहीं हो सकता। कारण नाना हैं। इसका अर्थ हुआ नाना कारणो पर निर्भरशीलता ही कार्य है। कार्य यथार्थ नहीं हैं। यदि वे यथार्थ हैं तब उत्पन्न होने की क्या आवश्यकता? यदि अयथार्थ हैं, तब कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? नागार्जुन के अनुसार जो भी सापेक्ष हैं, प्रातीतिक हैं। संसार की वस्तुएँ सापेक्ष हैं, इसलिये अवास्तव हैं।[१२४]

कार्य से अन्य रूप से कारण की, और कारण से अन्य रूप से कार्य की उपलब्धि नहीं होती, यदि अतिरिक्त रूप से कारण कार्य की उपलब्धि हो, तब तो उनमे कार्य–कारण सम्बन्ध ही नही होगा, क्योकि कार्य–कारण का सम्बन्ध अनिवार्य माना गया है। विग्रहव्यावर्तिनी मे नागार्जुन कहते है कि सभी धर्म तत्व–रहित है, निःस्वभाव है, क्योकि वे प्रतीत्य–समुत्पन्न है। इसी प्रकार आत्मा और स्कन्धो की सत्ता का भी प्रत्याख्यान किया है। इनके अनुसार जो परमार्थ है वह उत्पत्ति और विनाश का विषय नही बनता। वस्तुएँ भी वस्तुत न उत्पन्न होती है, न नष्ट होती है।[१२५] उत्पत्ति–विनाश प्रतीत होते हैं। वस्तुएँ न भावरूप है, न अभावरूप हैं, न वस्तु का लक्षण सम्भव है, न वस्तु ही लक्ष्य बन सकती है।[१२६] लक्ष्य–लक्षण–भाव, कार्य–कारण–भाव आदि बाते काल्पनिक हैं। माध्यमिक के अनुसार वस्तु न सत् है, न असत् है और न सदसत् है, न उभयभिन्न है। इस प्रकार वस्तु 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' है। जिस वस्तु का कथन उक्त किसी भी पक्षावलम्बनपूर्वक सम्भव नहीं उस वस्तु की उपलब्धि के विषय मे किस प्रकार का कथन सम्भव है? अर्थात् वस्तु का कथन किसी भी पक्ष से सम्भव नहीं।[१२७] भाव पदार्थ न स्वत उत्पन्न होते हैं, न परत और न दोनो से, न बिना हेतु के ही होते हैं। इस प्रकार भाव पदार्थ कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकते।[१२८] जिनकी उक्त प्रकार से उत्पत्ति सम्भव नहीं, उनकी निवृत्ति भी सम्भव नहीं, क्योकि जो उत्पन्न होते है वे ही नष्ट होते है। यदि उत्पत्ति उक्त विरोध के कारण सम्भव नही, तब विनाश या निरोध भी सम्भव नही।[१२९]

नागार्जुन वस्तुओ को ही शून्य नहीं कहते, अपितु तत्व को भी शून्य कहते हैं। तत्व को शून्य कहने का तात्पर्य है स्वभावशून्यता। तत्व मे किसी प्रकार के स्वभाव नहीं हैं, इस कारण शून्य है। चन्द्रकीर्ति ने शून्यता की व्याख्या निःस्वभावता से ही की है।[१३०] धर्मशून्यता या स्वभावशून्यता तो अद्वैत–ब्रह्म मे भी है, क्योकि शकर के अनुसार ब्रह्म मे सत्यत्वादि गुण भी नही रहते। वह निधर्मक है। शंकर ने भी कार्य को कारण–व्यतिरिक्त कहा है। पारमार्थिक दृष्टि से कार्य जगत् कारणानन्य है और व्यावहारिक दृष्टि से कारणभिन्नत्वेन प्रतीत होने के कारण कार्य–जगत् मिथ्या है। शून्यवाद के अनुसार कारणाधीन कार्य है, अत. कार्य–सत्ता भिन्न नहीं। जब कारणाधीन कार्यसत्ता है तब कार्य की अपनी सत्ता नहीं है, अत' वह मिथ्या है, 'स्वसत्ताराहित्य' ही मिथ्या है। शून्यवादीकार्यकारणात्मक जगत् का सत्व नहीं मानते। कहीं–कहीं पर कार्य–जगत् को परशृंग, स्वप्नसदृश कहा गया है। कहीं पर मरीच्युपम कहा है। कहीं पर उदक प्रतिबिम्ब के उदाहरण से मिथ्यात्व समझाया है।[१३१] शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता में मायोपम कहा है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान सभी मायोपम हैं।[१३२] इसी प्रकार उक्त रूप, वेदना, संज्ञा, सस्कार और विज्ञान के लिये प्रतिभास शब्द का भी प्रयोग मिलता है।[१३३]

इस प्रकार हम देखते है कि माध्यमिक वस्तुओ को जब शून्य कहते है तब उनका तात्पर्य स्वभावशून्यता से है, न कि वस्तुओ के अभाव से। इसी कारण से वस्तुओ के विषय मे निजस्वभाव और परस्वभाव का खण्डन किया गया है। वस्तुत वस्तुओ के अभाव का कथन सम्भव ही नही। न्याय की भाषा मे अभाव–प्रतियोगी सापेक्ष होता है। यदि वस्तुओ के पूर्ण अभाव का कथन हो तब तो प्रतियोगित्वेन अन्यत्र वस्तुएँ सिद्ध हो जायेगी। नागार्जुन सापेक्षता के कारण वस्तुओ की सत्ता का खण्डन करते है। शकर वेदान्त मे भी कार्य–जगत् अधिष्ठान सापेक्षतया सत्स्वभावशून्य है। शकराचार्य कहते है कि 'घट' सत् नहीं है, क्योकि वह ब्रह्मज्ञान–बाध्य है। अधिष्ठान ज्ञान से आरोपित वस्तु के मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाता है। घटाधिष्ठान ब्रह्मचैतन्य को जान लेने पर शकर के अनुसार 'घट' बाधित हो जायेगा। तब वह सत् नहीं रहेगा, क्योकि जो बाध्य है वह परमसत् नहीं है। व्यावहारिक सत् भले ही हो। यहॉ पर सापेक्षता द्वारा वस्तुओ को मायोपम कहना शकर के मिथ्यात्व से साम्य रखता है। शकर मे मिथ्यात्वानुमान मे 'परिच्छिन्नत्व' हेतु दिया है। सभी वस्तुएँ परिच्छिन्न हैं, अत मिथ्या है। वस्तुएँ देशगत और कालगत हैं, कोई भी वस्तु देश और काल से परे नहीं है। देश–काल से वस्तुएँ सीमित है। घट न उत्पत्ति के पूर्व था, न विनाश के बाद मे रहेगा, अत मिथ्या है। इसी प्रकार घट किसी देश मे होता है और घट–घट ही में व्याप्त है, पट मे नही है, अत मिथ्या है। नागार्जुन के अनुसार वस्तुएँ इसी अर्थ मे सापेक्ष हैं। सापेक्ष वस्तु परमसत् नही हो सकती। परमसत् निरपेक्ष होगा। यद्यपि नागार्जुन ने वस्तुओ के लिये शशविषाण, गन्धर्वनगरादि उदाहरण प्रस्तुत किये है और वस्तुओ को असत् कहा है, फिर भी व्यवहार का वे अपलाप नहीं करते। शकर के ही समान वे जागतिक वस्तुओ को व्यावहारिक सत्ता प्रदान करते हैं। वैदिक दार्शनिको ने, (जिनमे शंकर भी है) शून्यवाद को सर्वाभाववाद के रूप मे लिया है। न्याय–दर्शन मे माध्यमिक के शून्यवाद को 'सर्वाभाववाद'[१३४] कहा है, क्योकि शून्यवादी सभी वस्तुओ को असत् कहते हैं। वाचस्पति मिश्र ने भी शून्यवाद को अभाववादपरक ही कहा है। उनका भी कहना है कि इस मतानुसार अश्वात्मना गौ नहीं है और गवात्मना अश्व नहीं है। इतरेतराभाव सिद्ध होने के कारण सर्वत्र सर्व का अभाव है।[१३५] आचार्य शकर ने भी भाष्यो में 'शून्य' को अभाव के रूप मे ही लिया है 'सदभावमात्र तत्व परिकल्पयन्ति बौद्धाः'[१३६] बौद्ध शून्यवादी तत्व को सद्भाव के रूप मे कहते हैं। ब्रह्मसूत्र भाष्य मे शंकर ने व्यावहारिक सत्य को सर्वप्रमाण–सिद्ध कहा है। जब तक तत्वज्ञान नही होता तब तक लोक–व्यावहारिक वस्तुओं का अपलाप नहीं किया जा सकता। पचपादिकाकार ने भी शून्यवाद को असदर्थ में ग्रहण किया है। बौद्ध शून्यवाद और शंकर ब्रह्मवाद मे अन्तर दिखाते हुए उन्होने भी कहा है कि अध्यस्त वस्तु को असत् नहीं कहा

जा सकता, ऐसा कहने पर उसकी प्रतीति की सगति नही बनेगी। अध्यस्त वस्तु प्रतीत होती है, अत शकर के अनुसार अध्यस्त वस्तु सद्सदनिर्वचनीय है, किन्तु बौद्धमत के अनुसार वस्तु असत् ही है। 'ननु सर्वमेवेदमसदिति भवतो मतम्।'[१३७] खण्नकार श्रीहर्ष ने भी शून्यवाद और शकर के अनिर्वचनीयतावाद मे भेद सिद्ध किया है।, किन्तु खण्डनकार ने पूर्वोक्त आचार्यो के समान शून्यवाद के साथ अन्याय नहीं किया है। खण्डनकार ने शून्यवाद के लिये कहा कि शून्यवाद सभी को अनिर्वचनीय कहता है जबकि अद्वैतवादी विज्ञानस्वरूप ब्रह्म को छोडकर विश्व को सदसद् रूप से अनिर्वचनीय कहते हैं।[१३८]

ऊपर के विचारो से वैदिक दार्शनिको की शून्यवाद के प्रति धारणा को हम ठीक प्रकार से समझ सकते हैं। शून्य का अर्थ इन दार्शनिको ने विशेष न करके लोक मे गृहीत अर्थ ही किया है और विश्व को सापेक्षतया शून्य कहने वाले माध्यमिक को सर्वाभाववादी सिद्ध किया है।[१३९] परन्तु शून्यवाद का प्रधान ग्रन्थ माध्यमिक कारिका के साक्ष्य पर माध्यमिक सर्वाभाव या असत्वादी सिद्ध नहीं होता।[१४०] माध्यमिक विश्व की सावृतिक सत्ता का अपलाप नहीं करता। प्रपच को माध्यमिक सवृतिसत्य कहता है। वस्तुत शाकर वेदान्त के ही समान माध्यमिक भी व्यवहार और परमार्थ मे भेद करता है। माध्यमिक के अनुसार सत्य दो हैं।—सावृतिक सत्य और परमार्थ सत्य।[१४१] सवृति का अर्थ है अविद्या जो वस्तु के ऊपर आवरण डाल देती है। शकर मे अविद्या की दो शेक्तिया मानी गई है—आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति वस्तुस्वरूप को आवृत कर लेती है, विक्षेप शक्ति उसी मे नवीन वस्तु का आरोप करती है। जैसे रज्जुगत अज्ञान की आवरण शक्ति द्वारा रज्जु को आवृत कर दिया जाता है और विक्षेपशक्ति द्वारा वहीं पर सर्पज्ञान की दृष्टि होती है, इस प्रकार अध्यस्त मिथ्या वस्तु की उत्पत्ति होती है। माध्यमिक के अनुसार सवृति का कार्य भी —वस्तु को आवृत करके अवस्तु का ज्ञान कराना है।[१४२] बोधिचर्यावतार मे कहा है—'जिस प्रकार कामला रोगी रोग के कारण श्वेत वस्तु (शखादि) को श्वेत रूप को पीलेपन मे आवृत कर देता है और उसके स्थान पर अन्य रूप—अर्थात् पीतरूप को आरोपित कर देता है उसी प्रकार अविद्या वस्तु के स्वरूप को आवृत करके अविद्यमान रूप को आरोपित करती है।'[१४३] अविद्या के कारण असत् का सत् मे आरोप होता है और असत् सत् के समान लगने लगता है। जो दृश्यमान है, वह सत् नहीं है, क्योकि वह विनाशी है। सवृत्ति से सम्पूर्ण व्यावहारिक वस्तुओ का कथन है जिसे साधारण लोग सत्य समझते हैं। यह सांवृतिक सत्य भी दो प्रकार का है— लोकसंवृत्ति और अलोकसंवृत्ति। लोक संवृत्ति परमार्थ ज्ञान होने से पूर्व तक सत्य है। कार्यकारणभवादि सर्वजगत् सापेक्षतया परमार्थज्ञान अर्थात् शून्यता के स्वरूप

ज्ञान से बाध्य है। साथ मे परमार्थ ज्ञान के लिये साधना भी इसी लोकसवृत्ति मे ही करनी है। अत लोकसवृत्ति आकाशकुसुमादि से भिन्न है, क्योकि आकाशकुसुमादि की सत्ता की कभी भी प्रतीति लौकिक वस्तुओ के समान नहीं होती। लौकिक वस्तुये अपरमार्थ होने पर भी है। दूसरी है अलोकसवृत्ति। अलोक–सवृत्ति भ्रान्ति है, जैसे सीपी मे चॉदी का भ्रम। यह अलोक–सवृत्ति है। शाकर वेदान्त की व्यावहारिक सत्ता ही माध्यमिक की लोकसवृत्ति है और आलोक सवृति शकर की प्रतिभासिक सत्ता के समान है। अलोक सवृति की पृथक सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योकि अलोकसवृत्ति भी लोकसवृत्ति के अन्दर ही आ जाती है।[१४४] वस्तुत· सत्ता तो परमार्थशून्यता की है। परमार्थिक दृष्टि से सवृत्ति का बाध हो जाता है।[१४५]

ऊपर के विवरण माध्यमिक सम्प्रदाय का शकर सम्प्रदाय के साथ साम्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। शकर के समान त्रिविध सत्तावाद के द्वारा नागार्जुन अपने दर्शन को सर्वाभाववाद से बचा लेते हैं।[१४६] साथ मे व्यावहारिक जीवन एव वस्तुओ की आवश्यकता को भी अक्षुण्ण रखते हैं। जब माध्यमिक अलोकसंवृत्ति सत्य रज्जुसर्पादि भ्रम के विषयो को कहता है तब लोकसंवृत्ति सत्य को प्रतिभासिक या शशविषाण के समान अलीक कैसे कहा जाय? शशविषाण और रज्जु–सर्प में अन्तर तो अगत्या मानना पडेगा। जहॉ पर नागार्जुन शशविषाण या गन्धर्वनगरादि शब्दो का प्रयोग बाह्यवस्तु के लिये करते हैं, वहॉ पर उन्हे मात्र उदाहरण के रूप मे समझना चाहिए। तात्पर्यमात्र 'बाध' से है। जिस प्रकार आकाशकुसुम का अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार भ्रमकालीन सर्प का वस्तुत अस्तित्व नही है, उसी प्रकार व्यावहारिक कार्य कारणात्मक वस्तुओ का भी अस्तित्व नहीं रहेगा। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इन तीनो स्वभावो मे अन्तर है ही नहीं। इन तीनों मे जो व्यक्तिगत सर्वजनीनादि तथा कालगत अन्तर हैं वे अवश्य नागार्जुन को भी स्वीकार्य हैं। ए० बी० कीथ का यह कथन कि नागार्जुन ससार को वन्ध्यापुत्र के समान अलीक मानता है समीचीन नहीं है।[१४७] आचार्य चन्द्रधर शर्मा का कथन सत्य है कि माध्यमिक जब वन्ध्यापुत्रादि शब्दो का प्रयोग करता है तो उसका तात्पर्य अलीक कथन करना नहीं है, किन्तु परमार्थ दृष्टि से सत्ताशून्य से तात्पर्यता है। इसी कारण माध्यमिक ने मध्यम मार्ग को अपनाया है। शाकर–वेदान्त मे संसार मायामय है और मिथ्या है। मिथ्यात्व के एक लक्षण में कहा गया है 'ज्ञाननिर्वत्यत्व मिथ्यात्वम्' जिसका अर्थ हुआ ज्ञान द्वारा बाधित। ज्ञान द्वारा बाधित घट होता है। जब ब्रह्म–स्वरूप का ज्ञान होता है तब घटादि वस्तुएँ भी बाधित होती हैं– जैसाकि रज्जु–ज्ञान से भ्रमस्थानीय सर्प का बाध हो जाता है, वैसा ही ब्रह्मज्ञान से सभी वस्तुएँ बाधित होती हैं, क्योंकि शंकर के अनुसार घटादि प्रपंच का अधिष्ठान ब्रह्म है। बाधित्वेन प्रपंच

मिथ्या है। इसी प्रकार माध्यमिक के अनुसार भी परमार्थ ज्ञान से प्रतीत्य–समुत्पन्न जगत् बाधित होता है और परमार्थशून्यता ही दिखती है, अत जगत् को बाध्यत्वेन मिथ्या कहा जा सकता है। सद्–विविक्तत्त्व को भी मिथ्यात्व का लक्षण कहा है। नागार्जुन के अनुसार परमार्थसत् शून्य है। जगत् परमार्थ सत् से रहित है, अत मिथ्या है। फिर भी प्रतीतिकालीन जगत् की सत्ता तो है ही। डॉ० मूर्ति के अनुसार 'वस्तुएँ शून्य हैं' का अर्थ सापेक्ष और परतन्त्र स्वभाव है।[१४८] परमार्थशून्य को व्यावहारिक दृष्टि से शून्य कहा गया है, विश्व को सापेक्षतया शून्य कहा गया है। वस्तुत. शून्यवाद और शकर मे अन्तर केवल इतना है कि शून्यवाद बाह्यवस्तु की सत्तासिद्धि पर जोर नहीं देता जबकि शाकर वेदान्त प्रपच के अनिर्वचनीयत्व की सिद्धि के लिए तत्पर रहता है।

बौद्धो के माध्यमिक शून्यवादी के अन्तर्गत असत्ख्याति की समीक्षा का अवलोकन किया गया है। आचार्य शकराचार्य ने जगह–जगह पर अपने मतो को व्यक्त किया है। कुछ वस्तुवादी दार्शनिकों नक भी अपना मत असत्ख्याति के सम्बन्ध में दिया है। यहाँ पर उनका भी मत देना समीचीन प्रतीत होता है। अत· आगे हम वस्तुवादियो की असत्ख्याति के सम्बन्ध में क्या समीक्षा की गयी है, उसकी विवेचना करेगे।

वस्तुवादी दार्शनिक रामानुज द्वारा असत्ख्याति का प्रत्याख्यान

असत्ख्याति (शून्यवादी माध्यमिक) का प्रत्याख्यान

आत्मख्यातिवादी बाह्यार्थ या दृश्य प्रपच को ही असत् बतलाते हैं, किन्तु शून्यवादी माध्यमिक दृश्य प्रपच को एव विज्ञान को भी असत् कहते हैं, अर्थात् उनके अनुसार विषय भी असत् और विषय विज्ञान भी असत् है। विषय और ज्ञान को असत् मानने पर ज्ञाता को भी असत् मानना ही पडेगा। इस प्रकार माध्यमिक के अनुसार ज्ञेय, ज्ञाता एव ज्ञान तीनों ही असत् हैं।[१४९] जिस प्रकार विज्ञानवादी ने बाह्य पदार्थो को असत् कहा है उसी प्रकार माध्यमिकों ने विज्ञान को भी असत् कहा है। भ्रम स्थल मे भी भ्रम अधिष्ठान शुक्ति असत् है एवम् आरोप्य विषय रजत भी असत् है। शुक्ति–रजत भ्रम मे अत्यन्त असत् रजत की प्रतीति होती है। न्यायमकरन्दकार ने कहा है कि "शून्यवादी के अनुसार अत्यन्त असद् अर्थ को प्रकाशित करने वाला ज्ञान ही विभ्रम है।[१५०]" इस प्रकार माध्यमिक सर्वशून्य सिद्धान्त को मानते हैं इसी कारण माध्यमिको को शून्यवादी कहते हैं। न्यायवैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त के दर्शन ग्रन्थों में माध्यमिक को शून्य या असद्वादी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। नागार्जुन के शून्य को माध्यमिक

कारिका मे कहीं–कहीं अलीक शशश्रृगादि के समान निस्वभाव कहा गया है।[१५१] कही–कहीं चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य को कहा है।[१५२] वैदिक दार्शनिको ने शून्यवाद को असत् अलीकवाद मानकर ही प्रत्याख्यान किया है। प्रश्न उठता है कि यदि सर्वत्र असत् ही असत् है तो बिना अधिष्ठान के रजतादि का अध्यास कैसे सम्भव होगा, क्योकि बिना अधिष्ठान के कोई भी कल्पना उपपन्न नहीं हो सकती। इसके उत्तर मे शून्यवादी का कथन है कि जिस प्रकार निराधार केशेण्डक का भ्रम हो जाता है उसी प्रकार असत् शक्ति मे भी रजतादि भ्रम की उत्पत्ति हो जायेगी। शुक्ति मे रजतादि विपरीत धर्मो का बाध ही रजतादि के असत् होने का प्रमाण है। मयूखसंहिता मानरत्नावली मे वैशणवाचार्य ने असत्ख्यादिवाद का निरूपण करते हुए कहा है कि शून्यवादी बौद्धो के अनुसार प्रमाण और प्रमेय भेद से पदार्थ दो प्रकार के होते हैं। उनका कहना है कि प्रमेय सिद्धि में प्रमाण सिद्धि अपेक्षित होती है। प्रश्न उठता है कि क्या प्रमाण की सिद्धि उसी प्रमाण से होती है या अन्य से? यदि प्रमाणसिद्धि उसी प्रमाण से होती है, यह प्रथम पक्ष स्वीकार करे तो आत्माश्रय दोष होता है, और यदि प्रमाणसिद्धि उस प्रमाण से नहीं किन्तु अन्य प्रमाण से होती है, यह द्वितीय पक्ष स्वीकार करें तो अनवस्थादोष प्राप्त होता है। इसलिए प्रमाण सिद्धि नहीं होती है। प्रमाणों के सिद्ध हुए बिना प्रमेय पदार्थो की सिद्धि भी दुर्लभ ही है। इसलिए शून्यवादी बौद्ध लोग शुक्ति रजत स्थल मे असत् रजत् की ही ख्याति मानते हैं।[१५३] वास्तव मे माध्यमिक रज्जु सर्प आदि प्रत्यक्ष सम्बन्धी भ्रम का विचार नहीं करते। वे विचार सम्बन्धी भ्रम को ही लेते हैं और कहते हैं कि बुद्धि द्वारा प्रदत्त चतुष्कोटि या चारों प्रकार के सम्भव सिद्धान्त असत्य हैं, क्योकि असगत हैं।

रामानुजाचार्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि असत् पथार्थ का भान उसी प्रकार असम्भव है जैसे शशश्रृग का भान। पदार्थ प्रमाण प्रमेयभेद मे विभक्त है। प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के अधीन है, प्रमाण की सिद्धि किससे कहेगे? यदि अन्य प्रमाण से कहेगे तो उस प्रमाण की सिद्धि किससे होगी? इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होगा। माध्यमिको का 'सब कुछ असत् है' कहने का अर्थ है सब कुछ सत् है।[१५४] न्यायवैशेषिक इत्यादि अनेक दार्शनिकों ने भी असत्ख्यातिवाद को दोषयुक्त बताया है। न्यायमजरीकार जयन्त भट्ट ने असत्ख्याति के लिए दो विकल्प करके प्रश्न किया है कि असत्ख्याति का अर्थ एकान्त असत् की ख्याति या देशान्तर में स्थित यहां पर भ्रम स्थल में असत् की ख्याति? एकान्त असत् की ख्याति असम्भव है, क्योंकि आकाश कुसुम की ख्याति नहीं देखी गयी। देशान्तर में स्थित रजत की ख्याति मानने पर विपरीत ख्याति होगी न कि असत्ख्याति।[१५५] अद्वैतियों का भी कहना है कि असत् का अर्थ

सत्ताशून्य है। उसकी प्रतीति नहीं हो सकती है। यदि असत् की प्रतीति होती है तो क्या वह सदात्मना प्रतीति होती है या असदात्मना? असत् आत्मना ज्ञान नहीं हो सकता, क्योकि अलीकार्थ असत् का ज्ञान सम्भव नहीं और तदात्मना ज्ञान होने पर सत्ख्याति होगी।[१५६] सत् और असत् का सम्बन्ध भी नहीं हो सकता।[१५७] असत् यदि निष्प्रकारक है तो प्रत्यक्ष द्वारा रजत ऐसे विशेष प्रतिभास का अभाव हो जाता है। यद्यपि उत्तर काल मे वह वस्तु रजत प्रतिभासित नहीं होती तथापि जिस समय वह प्रतिभासित होती है उस समय उसे विद्यमान मानना पडेगा अन्यथा स्वप्रतिभास समय मे किसी भी वस्तु का अस्तित्व सिद्ध नहीं होगा। यदि अत्यन्त असत् को अरोपणीय माना जायेगा तो प्रतिभासभेद और तद्नुसार प्रवृत्ति भी अनुपपन्न होगी। आरोपणीय और आरोपाधिष्ठान दोनो को असत् मानने पर असत् आरोपाधिष्ठान को जानने पर भी भ्रम की निवृत्ति नहीं होगी, क्योकि माध्यमिको ने शुक्ति–रजत एव शुक्ति दोनो को असत् कहा है। सबसे अधिक कठिनाई इन सिद्धान्त मे भी विज्ञान वाद के समान ही भ्रम और व्यवहार मे अन्तर का होना है। घट ज्ञान और शुक्ति–रजत ज्ञान मे एक को भ्रम और अन्य को प्रमा कहने की कसौटी ही नहीं रहेगी। इसलिए भ्रम की व्याख्या असत्ख्याति को मान कर नहीं दी जा सकती।[१५८] वैष्णवाचार्य का भी आक्षेप है कि यदि प्रमाण निषेध को प्रमाण से ही सिद्ध करते हैं तो क्यो कहते हैं कि प्रमाण नहीं है। यदि प्रमाण निषेध अप्रामाणिक है तब प्रमाण को अगीकार कैसे किया जा सकता है।[१५९] यदि अविद्या के द्वारा असत् विषय का ज्ञान स्वीकार किया जायगा तो यह आशका होगी कि अविद्या असत् विषय की उत्पादिका है अथवा केवल प्रदर्शिका। अविद्या को उत्पादिका तो कहा नहीं जा सकता, क्योकि शून्यवाद के मत मे असत् को शून्य होने के कारण उत्पन्न नहीं किया जा सकता है।

प्रत्ययवादी दार्शनिक शंकर द्वारा सत्ख्याति, आत्मख्याति एवम् असत्ख्याति की समीक्षा

आचार्य शकर ने अपने भ्रम सम्बन्धी सिद्धान्त 'अनिर्वचनीय ख्याति' द्वारा अन्य मतो की समीक्षा की है। आचार्य शंकर का मानना है कि भ्रमस्थलीय शुक्तिरजत की व्याख्या असत्ख्याति, आत्मख्याति और सत्ख्याति द्वारा नहीं की जा सकती हैं। अत॰ अनिर्वचनीय ख्याति द्वारा उसकी व्याख्या करके तत्कालीन प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति स्वीकार कर लेनी चाहिए।[१६०] प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति न मानने पर शून्यवादी के समान असत् रजत की प्रतीति संभव है। भ्रमस्थल मे रजत की उत्पत्ति न मानने पर शून्यवादी के समान असत् रजत स्वीकार करना होगा। असत् का अर्थ शाकर–वेदान्तियो ने अलीक से लिया है, सांवृतिकसत् नहीं लिया है। विज्ञानवादी की आत्मख्याति के अनुसार भी रज्जु में रजत असत् ही है, यद्यपि वह आन्तरविज्ञान

रूप मे अन्य? (भीतर) सत् है। इसी प्रकार अन्यथाख्यातिवादी के अनुसार भी उक्त स्थल मे रजत् असत् है, अन्यत्र देशान्तर मे सत् है, अत उक्त प्रकार से विज्ञानवादी असत्ख्यातिवादी और सत्ख्यातिवादी हुए एव अन्यथा ख्यातिवादी भी असत्ख्याति वादी और सत्ख्यातिवादी हुए। दोनो के अनुसार ही रजत की प्रतीति सगत नहीं है। सत्ख्यातिवादी या सद्सत्ख्यातिवादी की व्याख्या अव्यवहारिक है। इन कारणो से तथा निर्विषयकज्ञान न होने के कारण भ्रमस्थलीय रजत की प्रतीति ही उक्त स्थल मे रजत विषय की उपस्थिति सिद्ध करती है। वह रजत प्रातिभासिक ही हो सकता है, व्यावहारिक या पारमार्थिक नहीं। शकर के अनुसार ज्ञान सर्वदा वस्तुतन्त्र होता है।[१६१] अत भ्रमकाल मे होने वाला रजत–ज्ञान रजत विषय को सिद्ध करता है। मिथ्यारजत के बाध होने पर भ्रान्तिदर्शी व्यक्ति 'मिथ्यारजत देखा था', ऐसा अनुभव करता है। 'कुछ भी नहीं देखा था', ऐसा अनुभव नहीं करता। उक्त बाध के समय रजताभाव का प्रतियोगी वहीं का प्रातिभासिक रजत है।

इस प्रकार शकराचार्य जी भ्रम की व्याख्या के द्वारा तत्वमीमांसीय समस्या का समाधान करते हैं। जिस प्रकार भ्रमस्थलीय रजत अलीक नहीं है, अपितु प्रातिभासिकत्वेन, एव बाध्यत्वेन मिथ्या है या भ्रम है, ठीक उसी प्रकार व्यावहारिक रजत भी ब्रह्मज्ञान द्वारा बाध होने तक सत्य है, एव बाध होने के पश्चात् असत् है, अत· व्यावहारिक रजत भी सत् से भिन्न है, क्योकि उसका बाध होता है। असत् (अलीक) से भिन्न है, क्योकि उसकी प्रतीति होती है, सद्सत् दोनो साथ मे विरोध के कारण सभव नही है। ऐसा मानने पर विरोध के नियम का उल्लघन होगा, अत व्यावहारिक रजत भी अनिर्वचनीय होने के कारण मिथ्या है, तथा शुक्ति रजत का ज्ञान जिस प्रकार अनिर्वचनीयता मिथ्या है, उसी प्रकार व्यावहारिक रजतज्ञान भी मिथ्या या भ्रम है। व्यावहारिक ज्ञान मे प्रामाण्य भी व्यावहारिक ही होता है।[१६२]

बौद्ध विज्ञानवाद के आत्मख्यातिवाद को वस्तुवादी दार्शनिकों ने तो स्वीकार किया ही नहीं था, प्रत्ययवादी दार्शनिक शकराचार्य ने भी इसका प्रत्याख्यान किया है। मीमासक, नैयायिक आदि बाह्यवस्तुओ को यथार्थ स्वीकार करते हैं इसी कारण उन्होंने आत्मख्याति का अनेक तर्कों से खण्डन किया है। शाकर–वेदान्ती प्रत्ययवादी होते हुए भी विश्व–प्रपंच को अलीक नहीं मानते हैं, इसी कारण आत्मख्याति के खण्डन में उन्होंने न्यायवैशेषिक जैसे यथार्थवादी दार्शनिकों का साथ दिया है। भामतीकार ने बौद्धविज्ञानवाद के खण्डन में मीमांसकों के मत को सामने प्रस्तुत किया और उन्ही की युक्तियो से आत्मख्याति का खण्डन किया है।[१६३] भामतीकार ने मीमांसकों की ओर से बौद्धविज्ञानवादी से प्रश्न किया है कि 'इदं रजतम्' इस भ्रमस्थल में रजत को

विज्ञान का ही आकार निश्चित रूप से कहा गया है? इसमे प्रश्न यह उठता है कि किस प्रमाण से विज्ञानवादी रजत को ज्ञान का धर्म सिद्ध करते है? प्रत्यक्ष से नहीं कहा जा सकता, क्योकि प्रत्यक्ष द्वारा 'इद रजतम्' इस ज्ञान मे सामने स्थित वस्तु का प्रत्यक्ष हो रहा है, न कि आन्तर विज्ञान का।[१६४] इस प्रत्यक्ष मे 'इद' रजत के आधार के रूप मे प्रतीत होता है, इसी कारण से रजतार्थी रजत को सत्य समझकर सामने उसे उठाने के लिए दौडता है। प्रत्यक्ष द्वारा 'रजत' को ज्ञान का आकार जाना जाता तब तो यह रजत अनुभव न होकर 'मैं रजत' ऐसा अनुभव होता, क्योकि विज्ञानवाद के अनुसार 'मै' भी विज्ञानातिरिक्त कुछ नहीं है।[१६५] इसलिए रजत जब ज्ञान मे भासता है तब इदन्ता करके बाह्यता का प्रतिभास नहीं हो सकता। बाह्यता असत्य है। इसलिए आनन्दबोध का पूर्वपक्ष की ओर से कहना है कि 'असत्य बाह्यता का प्रतिभास अयुक्त है।'[१६६]

यदि विज्ञानवादी यह कहे कि परवर्ती बाधक-प्रत्यय द्वारा अर्थात् यह 'रजत नहीं है' इस ज्ञान द्वारा रजतज्ञान का आकार जाना जाता है, क्योकि इद के लिए ही रजत का निषेध है न कि ज्ञान के लिए, अतः ज्ञान के रूप में रजत रह जाता है, इद के रूप मे इदं मे रजत न था और न रहता है, इसलिए मानना पडेगा कि रजत आन्तर ज्ञान ही है न कि बाह्य वस्तु। इस पर विज्ञानवादी से यह पूछा जाए कि बाधक प्रत्यय पुरोवर्ती वस्तु को रजत से भिन्न प्रतीत कराता है या 'रजत ज्ञान धर्म है', यह प्रतीत कराता है? प्रथमपक्ष समीचीन है, क्योकि इदं पदार्थ रजत नहीं है और बाधक प्रत्यय से यह ज्ञान होता है, इसे कैसे अस्वीकार किया जा सकता है? किन्तु बाधक प्रत्यय द्वारा रजत को ज्ञानधर्म समझा जाना, यह पक्ष असमीचीन है, क्योकि रजत इद नहीं है। अनिद कोई भी वस्तु अर्थात् अन्य बाह्य वस्तु भी हो सकती है। 'लाल नहीं है' ऐसा बाधक ज्ञान से 'नील है' इस प्रकार का निश्चय करना उचित नहीं, क्योंकि 'वह लाल नहीं' काला भी हो सकता है, सफेद भी, नील ही है, ऐसा निष्कर्ष नहीं निकलता, इसी प्रकार विज्ञानवादी जो बाधक-प्रत्यय द्वारा यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जो इदं नहीं वह अनिद अर्थात् ज्ञानरूप है, गलत है। मीमांसको ने ऐसे तर्क इसलिए प्रस्तुत किए हैं कि उनके मत मे भी रजत इद तो नहीं है, किन्तु वह ज्ञानरूप भी नहीं है, वह तो ज्ञान के विषयरूप है। उनके मत हैं स्मृतिज्ञान का अनुभूत विषय ही रजत है, अत ज्ञानकार रजत नहीं हुआ। और भी यदि रजत आन्तर ज्ञानरूप होता तो बाध का रूप 'नेदं रजतम्' ऐसा न होकर 'यह बहिस्थ रजत नहीं है, अपितु आन्तर रजत' है। ऐसा होता। शुक्तिज्ञान के पश्चात् 'मिथ्या-बाह्यता की प्रतीति हुई थी' ऐसा होना चाहिए। रजत के बाध के साथ इदन्ता का भी बाध होने से दो बाधरूपगौरवदोष है, अत इदन्तामात्र का ही बाध होना उचित है- यह विज्ञानवादी का कहना

भी अनुचित है, क्योकि वह अनुभव–विरोधी बात है। चित्सुखाचार्य का कहना है कि 'इदं रजतम्' ऐसा ज्ञान होने के पश्चात् 'नेद रजतम्' ऐसा विशिष्ट का बाध देखा जाता है।, अत अनुभव–विरोध होने से कल्पनालाघवन्याय का अवतरण नहीं हो सकता।[१६७]

विज्ञानवादी भ्रमस्थल के रजत और सत्यरजत दोनो को ही विज्ञानाकार अर्थात् बुद्धिरूप मानते है। चित्सुखाचार्य ने आपत्ति उठायी है कि यदि समस्त वस्तुए बुद्धिरूप हैं और उन्हीं बुद्धिरूप पदार्थो से ही व्यवहार भी चलते हैं तब तो गुजाफलगुच्छा मे अग्निबुद्धि होने पर उससे भी ताप मिल जाना चाहिए, क्योंकि वहॉ पर भी बाहर अग्नि तो है नहीं?

इष्टसिद्धिकार ने आत्मख्याति की आलोचना करते हुए इसे भी एक प्रकार की सत्ख्याति ही कहा है। उनके अनुसार जिसकी कहीं न कहीं प्रतीति होती है, वह वहा पर सत् है, अत सत् की ही ख्याति होगी। विज्ञानवादी विज्ञानरूप में रूप्य को सत् मानते हैं, अतः विमुक्तात्मा उन्हे सत्ख्यातिवादी कहते हैं।[१६८] अन्तर्ज्ञेयरूपरजत ही बाहर सा लगता है,

अर्थात् बाहर रजत नहीं है अपितु अन्तरस्थित है। आन्तर पदार्थ ही आन्तर के रूप मे न प्रतीत होकर विपरीत बाह्यरूप मे प्रतीत होता है, इस कारण जयन्तभट्ट ने इसे भी विपरीतख्याति कहा है।[१६९] बाह्यता को पूर्णरूप से अस्वीकार करने के कारण यह असत्ख्याति भी है।[१७०] वस्तुत. विज्ञानवाद के अनुसार शुक्ति–रजत और व्यावहारिक रजत दोनों ही बाह्यताशून्य हैं। उनमें बाह्यताश भ्रम है, यह बात तो समझ मे आती है, किन्तु विज्ञानवादी के अनुसार उक्त दोनो रजतो मे अन्तर करने की कसौटी क्या है? यदि दोनो ही एक प्रकार से विज्ञानरूप हुए अर्थात् भ्रमस्थल की वस्तु और व्यावहारिकवस्तु दोनों ही यदि विज्ञानकार ही हुई, तब भ्रम और प्रमा मे अन्तर ही नहीं हो सकेगा।[१७१] इस प्रकार भ्रम की व्याख्या आत्मख्यातिवाद के अनुसार भी अपूर्ण है।

बौद्ध के माध्यमिक शून्यवाद के अन्तर्गत असत्ख्यातिवाद का भी प्रत्याख्यान प्रत्ययवादी दार्शनिको न्याय–वैशिषिको और शांकर–वेदान्तियो ने किया है।

जयन्तभट्ट ने असत्ख्याति के लिए दो विकल्प करके प्रश्न किया है कि असत्ख्याति का अर्थ एकान्त असत् की ख्याति या देशान्तर मे स्थित यहां पर भ्रमस्थल मे असत् की ख्याति? एकान्त असत् की ख्याति असंभव है, क्योंकि आकाशकुसुम की ख्याति नहीं देखी गई। देशान्तर मे स्थित रजत की ख्याति मानने पर विपरीतख्याति ही होगी न कि असत्ख्याति।[१७२] शाकरवादियों ने भी इसी प्रकार की युक्तियों से खण्डन किया है। अद्वैतवादियों का कहना है कि असत् का अर्थ सत्ता–शून्य है। उसकी प्रतीति नहीं हो सकती। यदि असत् की प्रतीति होती

है तो क्या वह सदात्मना प्रतीत होता है या असदात्मना? असत् आत्मना ज्ञान नहीं हो सकता, क्योकि अलीकार्थ असत् का ज्ञान सभव नहीं और सदात्मना ज्ञान होने पर सत्ख्याति होगी।[१७३] सत् एव असत् का सम्बन्ध भी नहीं हो सकता।[१७४] असम्बद्ध वस्तु प्रकाशित नहीं होती, जैसे बन्ध्यापुत्र, शशश्रृग इत्यादि असत् बोधक शब्द द्वारा विकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है, फिर भी इन्द्रिय कभी भी असन्निकृष्ट का ग्राहक नहीं होती। असत् यदि निष्प्रकारक है तो प्रत्यक्ष द्वारा 'रजत' ऐसे विशेष प्रतिभास का अभाव हो जाता है। यद्यपि उत्तरकाल मे वह वस्तुरजत प्रतिभासित नहीं होता तथापि जिस समय वह प्रतिभासित होता है, उस समय उसे विद्यमान मानना पडेगा, अन्यथा स्वप्रतिभास समय मे किसी भी वस्तु का अस्तित्व सिद्ध नहीं होगा। यदि अत्यन्त असत् को आरोपणीय माना जायेगा तो प्रतिभास भेद और तदनुसार प्रवृत्ति भी अनुपन्न होगी। आरोपणीय और आरोपाधिष्ठान दोनो को असत् मानने पर असत् आरोपाधिष्ठान को जानने पर भी भ्रम की निवृत्ति नहीं होगी, क्योकि माध्यमिको ने शुक्तिरजत एवं शुक्ति दोनो को असत् कहा है।, सबसे अधिक कठिनाई इस सिद्धान्त मे भी विज्ञानवाद के समान ही भ्रम और व्यवहार मे अन्तर का न होना। घटज्ञान और शुक्तिरजतज्ञान मे एक को भ्रम और अन्य को प्रमा कहने की कसौटी ही नहीं रहेगी, इसलिए भ्रम की व्याख्या असत्ख्याति को मान कर नही दी जा सकती।

पाद-टिप्पणी

१ Buddhist Logic, Vol 1, p 155

२ भ्रान्ति सवृतिसञ्ज्ञानमनुमानानुमानिकम्
स्मार्ताभिलाषिकञ्चेति प्रत्यक्षाभ सतैमिरम्।।– प्रमाणसमुच्चय, १८।

३ सतैमिरम्मिति तु तिमिरशब्दोऽयमज्ञानपर्याय। 'तिमिरघ्न च मन्दानामिति यथा। तिमिरे भव तैमिर विसवादकमित्यर्थ। – तत्वसग्रहपञ्जिका, पृ० ४८३।

४ त्रिविध कल्पनाज्ञानमाश्रयोपप्लवोद्भवम्।
अविकल्पकमेक च प्रत्यक्षाभ चतुर्विधम्।।– प्रमाणवार्तिक, २२८८।

५ Dignaga, on Perception, p 97

६ भ्रान्ति– विश्रम, शब्द द्विधार्थक है, क्योकि– इससे 'मुख्याभ्राति' तथा 'प्रातिभासिकी भ्रान्ति', दोनो का अर्थ है। अनुमान उदाहरण के लिए, आनुभविक दृष्टि से यह 'सवादकम्' होता है। तुकी० तस प० पृ० ३६० १४ 'सवादित्वेऽपि न प्रामाण्यम् इष्टम्'। किन्तु तस पृ० ३६४ १६ मे 'विभ्रमेऽपि प्रमाणता' मे 'प्रमाण' शब्द का 'सवाद' के आशय में प्रयोग हुआ है। "अविसवादित्व" का अर्थ 'उपदर्शित– अर्थ–प्रापण–सामर्थ्य" है। जब उपदर्शन, प्रवर्तन और प्रापण के एक ही वस्तु का बोध हो तब वहाँ सवादित्व होता है। चन्द्रमा और नक्षत्र 'देश–काल–आकार–नियता' होते हैं, और इसलिए प्रापक, यथार्थ और सवादक होते हैं (स्वोचितासु अर्थ–क्रियासु विज्ञान–उत्पाद आदिषु समर्था.), किन्तु अनुभवातीत यथार्थता की दृष्टि से ये भ्रान्तियाँ हैं, क्योंकि यहाँ मात्र क्षण ही यथार्थ है। तुकी० न्याकणि० पृ० १६३ १६ और बाद, और न्याबिटी० पृ० ५ और बाद।

७ न्याबिटी० पृ० ७ १७ 'प्रत्यक्षम् ग्राह्येरूपे (परमार्थसति) अविपर्यस्तम्, भ्रान्तम् ह्य अनुमानम् स्वप्रतिभासे अनर्थे (सवृत्तिसति) . ।

८ धर्मोत्तर के अनुसार– वृक्ष' अश सम्यक् प्रत्यक्ष है, और 'चलायमान' अश भ्रान्ति है। तुकी० न्याबिटी० पृ० ७५ और बाद तथा टिप्प० पृ० २०१४

६ न्याकणि० पृ० १६४८ अप्रतिभासो धर्मोऽस्ति स्थौल्यम्'। वाचस्पति मिश्र यह व्याख्या करते हैं– 'प्रतिभास–काल–धर्म प्रतिभास–धर्म '।

१० 'निरधिष्ठानम् ज्ञानम् केशोन्द्राडि विज्ञानम्', तुकी० न्याकणि० पृ० १६२२० और तस पृ० ३६२३।

११ यत कल्पना (योजना), जो प्रज्ञा की स्वाभाविकता का सार है, की 'यथार्थ वस्तु की प्रतीति' अर्थात् 'सामान्य आकार के रूप मे विशेष की प्रतीति' (सामान्य–आकार प्रतीतिर वस्तुनिकल्पना) के रूप मे परिभाषा की गई है, अत इस प्रकार की विकल्पात्मक रचना किसी निरधिष्ठान–ज्ञान मे अनुपस्थित होगी, क्योकि इसमे विशेष बाह्य वस्तु अनुपस्थित रहती है। तब यह निर्विकल्पक होगी, यह परिभाषा एक सम्यक् इन्द्रिय–प्रत्यक्ष होगी। 'आकाश के पुष्प' तथा स्पष्ट स्वप्नो की भी यही दशा होगी। ये सब यथार्थ इन्द्रिय–प्रत्यक्ष पर आधारित कल्पनाएँ नहीं हैं, अत 'निर्विकल्पक' होने के रूप मे ये सम्यक् इन्द्रियप्रत्यक्ष की परिभाषा के अन्तर्गत आ सकती हैं। दिङ्नाग का मानना यह है कि यदि 'अ–भ्रान्तित्व' को इसकी अनुभवातीत सीमा तक ले जाया जाय तब यह तर्कशास्त्र के लिए घातक होगी। तुकी० न्याकणि० पृ० १६१–१६४।

१२ तद्विकारविकारित्वादाश्रयाश्चक्षुरादय ।
अतोऽसाधारणत्वाच्च विज्ञान तैनिरुच्यते।।– अभिधर्मकोश, १.४५।

१३ असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद्व्यपदिश्यते।– प्रमाणसमुच्चय, ४।

१४ मानसमपि रूपादिविषयालम्बनमविकल्पकमनुभवाकार प्रवृत्तम्।
Dignaga on Perception, प्रमाणसमुच्चय, ५ की वृत्ति।

१५ एतच्च सिद्धान्तप्रसिद्धं मानसं प्रत्यक्षम्। न त्वस्य प्रसाधकमस्ति प्रमाणम्।– न्यायबिन्दु, १.६,पृ० ६०।

१६ यहाँ पर दृश्य वस्तु उदाहरण के रूप में प्रस्तुत है। दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष के लक्षण मे 'अभ्रान्त' का सन्निवेश नहीं किया था, क्योंकि उन्होंने भ्रम को कल्पना प्रसूत माना है और इसलिए प्रत्यक्षाभास को कल्पना प्रवृत्त कहा है। न्याय सूत्रो मे प्रत्यक्ष के लिए दिये हुए 'अव्यभिचारी' विशेषण पर भी उन्होने आपत्ति की है और अनुमान को विभ्रमयुक्त होने पर भी सवाद होने से प्रमाण माना है। उनके मत से निर्विकल्प ज्ञान सदा प्रमाण है। सविकल्प अविसंवादक होने पर साव्यवहारिक प्रमाण एव अन्यथा अप्रमाण है। दिङ्नाग का लक्षण मूलत विज्ञानवादी है। धर्मोत्तर केवल सौत्रान्तिक मत से व्याख्या करते हैं और भ्रम को इन्द्रियज मानते हैं।

१७ दिङ्नागीय लक्षण मूलत प्रत्यक्ष को अनुमान से पृथक् करता है।

१८ 'कल्पनापोढ' सविकल्पना प्रत्यक्ष की निवृत्ति के लिए है।

१६ तत्र त्रयाणा रूपाणामेकस्यापि रूपस्यानुक्तौ साधनाभास । –न्यायबिन्दु, ३५५।

२० न्यायबिन्दुटीका पृ० २०५, अनुवाद–५७।

२१ न्यायबिन्दु और न्यायबिन्दुटीका, पृ० ६२१३, अनुवाद पृ०, १७३।

२२ न्यायबिन्दु और न्यायबिन्दुटीका, पृ० १६७, अनुवाद– पृ० ५४।

२३ आचार्य दिङ्नाग चार असिद्धो की गणना करते हैं, उभय, अन्यतर, सन्दिग्ध और आश्रय–असिद्ध। दूसरी और अन्तिम के उपविभाजन द्वारा आचार्य धर्मकीर्ति प्रत्यक्षत छ की गणना करते हैं।– न्यायमुख द्वारा दिङ्.नाग, अनुवादित– तुकी० पृ० १४।

२४ न्यायबिन्दु और न्यायबिन्दुटीका, पृ०, ६३.१३, अनुवाद पृ० १७५।

२५ असिद्ध–व्यतिरेकिन्, सन्दिग्ध–व्यतिरेकिन् वा।

२६ न्यायबिन्दु टीका, पृ० ८०२१ और बाद, अनुवाद पृ० २२१।

२७ न्यायबिन्दु टीका, अनुवाद पृ २२२।

२८ न्यायबिन्दु पृ० ८०६, अनुवाद पृ० २२०।

२६ यह उल्लेखनीय है कि सूत्र ३.१, १४–१५ को विपर्यस्त करने के बाद प्रशस्तपाद, अपना यह कहकर औचित्य सिद्ध करते हैं (पृ० २०४) कि इस प्रकार सूत्रकार की भी हेत्वाभास की वही प्रणाली हो जायेगी, जो काश्यप की थी। किन्तु आप त्रैरूप्य को किसी सूत्र के साथ सम्बद्ध करने की परवाह नहीं करते। स्थिति ऐसी है कि त्रैरूप्य सर्वथा काश्यप से निष्कृष्ट है, किन्तु हेत्वाभास की उनकी प्रणाली, यदि थोड़े

परिवर्तन का समावेश कर दिया जाय तो, सूत्रो मे भी मिल सकती है। यह रहस्यमय व्यक्ति, काश्यप कौन है? क्या यह दिङ् नाग या वसुबन्धु ही तो नहीं हैं?

३० सपक्षो और असपक्षो के बीच दिङ् नाग की नौ स्थितियो मे उद्योतकर इन्हे और जोड देते है १ पाँच स्थितियाँ जिनमे कोई भी असपक्ष नहीं है, २ तीन स्थितियाँ जिनमे कोई सपक्ष नहीं है, ३ एक स्थिति जहाँ सपक्ष और असपक्ष दोनो ही अनुपस्थित है, क्योकि उद्देश्य विद्यमान वस्तुओ की समग्रता को आवृत करता है। (जैसे कि 'सर्वमनित्यम् कृतकत्वात्', उद्देश्य सभी विद्यमान को आवृत करता है, जहाँ न तो सपक्ष हैं और न असपक्ष)।

३१ न्यायबिन्दु टीका, पृ० ६११८ और बाद, अनुवाद पृ० १७१।

३२ वैशेषिक–सूत्र, ३१,१५ 'असन् सन्दिग्धश्च'।

३३ न्याय–वार्तिक, पृ० १५२ लाभ–पूजा–ख्याति–काम।

३४ न्याय–कणिका, पृ० १५११५, 'बुद्धेर् भूतार्थ–पक्षपात'।

३५ न्याय–वार्तिक, पृ० २१२१, 'पुरुष–धर्म एव भ्रान्तिर् इति'।

३६ न्याय–वार्तिक, पृ० १५२, 'तीर्थ–प्रतिरूपक प्रवाद'।

३७ न्याय–वार्तिक, 'न शिष्यादिभि सह अप्रतिभादि–देशणा कार्या।' पृ० २११८।

३८ न्याय–वार्तिक, पृ० २११८, 'प्रमाण–प्रतिरूपकत्वाद् धेत्व् अभासानाम् अविरोध ।

३९ लॉजिक, ११५६, तुकी० कीन्स उपु० पृ० २६६।

४० न्यायबिन्दु टीका, पृ० ४३.१२, अनुवाद, पृ ११५।

४१ मीमासक इसे अर्थापत्ति, प्रशस्तपाद (पृ २२३) एक अनुमान और बौद्ध–तुल्य तर्कवाक्य मानते हैं।

४२ साध्य–सम, सिद्ध–साधन।

४३ महायानसूत्रालकार– पृ० ६३। असग। सम्पा० एम० लेवी, पेरिस, १६०७।

४४ विशिका–पृ० १।

४५ विज्ञप्तिमात्रमेवेदमसदर्थावभासनात्। यद्वत् तैमिरिकस्यासत्केशोण्ड्रकादिदर्शनम्।। वही–कारिका १–पृ० १।

४६ ब्रह्मसूत्र शकरभाष्य भामती– पृ० १८।

४७ अद्वैतसिद्धि–पृ० ३३२ तथा ३३३।

४८ आत्मधर्मोपचारो हि विविधो य प्रवर्तते। विज्ञान परिणामेऽसौ। त्रिशिका का० १–पृ० २८, चौखम्बा, १६६७।

४९ Indian Idealism- P 113, Dasgupta (1962)

५० विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि– पृ० २८, स्थिरमति भाष्य। चौखम्बा, १६६७।

५१ यच्च यत्र नास्ति तत् तत्रोपवर्यते। तद्यथावाहीके गौ । विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि–स्थिरमति भाष्य–का० १–पृ० २६

५२ सर्वबीज हि विज्ञानम्–विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि कारिका १८–पृ० ८१।

५३ The Agam Shastra of Gaudapada- Introduction. P CXLII V, Bhattacharya, Calcutta Univ., 1943.

४५ विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि –का० ३० अचिन्त्य कुशलोध्रुव ।

५५ ध्रुवो नित्यत्वात् अक्षयतया अय च नित्य इति। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि भाष्य पृ० १०१।

५६ Vasubandhu uses the word "Dhruva" here in the sense of the absolutely permanent- A Critical Survey of Indian philosophy- p 122, C.D Sharma,- (London,1960)

५७ येन–केन विकल्पेन यद्यद् वस्तु विकल्प्यते, परिकल्पित एवासौ स्वभावो न स विद्यते– का० २०, त्रिशिका।

५८ त्रिशिकाभाष्य– पृ० ८६ का० २०।

५९ परतन्त्रस्वभावस्तु विकल्प प्रा ययोद्भव ।। त्रिशिका का० २१।

६० निष्पन्नस्तस्य पूर्वेणरहितता तु या– त्रिशिका का० २१।

६१ त्रिविध सत्व– परमार्थ सत्व ब्रह्मण, अर्थक्रियासामर्थ्यसत्वं मायोपाधिकमाकाशादेः, अविद्योपाधिक सत्वरजतादे । पचपादिका–विवरण–पृ० १६५। (मद्रास, १६५८)।

६२ त्रिशिका–का० २५।

६३ महायानसूत्रालकार–११। ३६, ४०, ४१, बौद्धदर्शन मीमासा २५० में उद्धृत, बलदेव उपाध्याय चौखम्बा, १६५४।

६४ The objectivity of the external world is not denied A Critical Survey of Indian Philosophy- P 122

६५ Vijnanavada can not be called subjectivism- ibid

६६ A Critical Survey of Indian Philosophy- P 110

६७ लकावतार– १८६ तथा १५८। (सम्पा० बी० नानजिओ, लदन, १९२३)

६८ स्वप्नोऽथवा मायानगर गन्धर्व शब्दितम्। लकावतार पृ० ६।

६९ लकावतार का० ४३, पृ० ६।

७० वही का० १४४, द्वितीय परिवर्त।

७१ वही का० १६६, पृ० १०५।

७२ बुद्ध्या विवेच्यमानाना स्वभावोनावधार्यते।
तस्मादनमिलाप्यास्ते नि स्वभावाश्चदेशिता । लकावतार सूत्र पृ० ११६ २। १७५।

७३ लकावतार– पृ० १३०।

७४ The Idealistic Thought of India- P 264

७५ विमतमधिष्ठानातिरिक्तसत्वशून्य सावधित्वात्। न्यायनिर्णय पृ० ३७४। भामती भी द्रष्टव्य पृ० ३७४।

७६ लकावतार द्वितीय परिवर्त पृ०, ३४।

७७ The Idealistic Thought of India- P 264,

७८ A Critical Survey of Indian Philosophy- p 323

७९ Ibid - P 124

८० आलम्बन परीक्षा का० १।। एवं आलम्बन परीक्षावृत्ति पृ० ३ तथा ४। १९४२।

८१. प्रभास्वरमिद चित्त प्रकृत्यागन्तवोमला। प्रमाणवार्तिक २२०८। धर्मकीर्ति, सम्पा० राहुलसाकृत्यायन, किताबमहल, इलाहाबाद, १९४३।

८२ तत्व–सग्रह कारिका ३७५।

८३ वही– पृ० ३७६।

८४ सहोपलम्भनियमादभेदो–नीलतद्धियो
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैदृश्यतेन्दाविवाद्वये–भामती मे उद्धृत पृ० ५४४

८५ Essert Percipi

८६ तत्व–सग्रह पजिका ६९२। (कमलशील, बौद्ध भारती, वाराणसी, ६९२)।

८७ यत्सवेदनमेवस्याद्यस्य सवेदन ध्रुवम्
तस्मादव्यतिरिक्त तत् ततोवान विभद्यते।। तत्वसग्रह पृ० ६९१।

८८ आलम्बनपरीक्षा का० २ पृ० १

८९ तत्सग्रहपजिका– पृ० ६९३

९० न खल्वभावो बाह्यस्यार्थस्याध्यवसातु शक्यते। कस्मात्, उपलब्धे । –ब्रह्मसूत्र–शाकरभाष्य पृष्ठ ५४७।

९१ न हि स्फुटतरे सर्वजनीन उपलम्भे सति तद्भाव शक्यो वक्तुम्। –भामती– पृ० ५४७।

९२ आलम्बनपरीक्षा– पृ० २ कारिका ६।

९३ प्रत्याख्यातुकामाश्च बाह्यमर्थ बहिर्वदितिवत्कार कुर्वन्ति। ब्रह्मसूत्रभाष्य पृ० ५४८

९४ न हि विष्णुमित्रो वन्ध्यापुत्रवदवभासत इति कवचिदाचक्षीत। –ब्रह्मसूत्रभाष्य पृ० ५४८

९५ ब्रह्मसूत्र–पृ० ५५५।

९६ न हि ब्रह्मवादिनो नीलाकारा वित्तिमभ्युपगच्छन्ति। कित्वनिर्वचनीय नीलादिति। भामती– पृ० ५४१।

९७ बौद्धाहि वित्तेर्विज्ञानस्यान्तर नीलादिरूपमाचक्षते न वयमिति–कल्पतरु–पृ० ५४१

९८ न्यायमकरन्द–पृ० ६१।

९९ Indian Idealism- P. 170

१०० The world appearance and all objects contained in it have no existence while they are not perceived -Ibid - P 172.

१०१ Indian Idealism- P. 173 S Dasgupta, Cambridge, 1962.

१०२ वही– पृ० १७८
१०३ अद्वैतसिद्धि– पृ० ५३३।
१०४ सक्षेप शारीरिक– २/२८ पृ० २०। सर्वज्ञात्ममुनि, काशी, स० १६४४।
१०५ वेदान्तकल्पतरू एव परिमल, पृ० २६।
१०६ न्यायमकरन्द, पृ० ६६।
१०७ केचितु ज्ञानाकारस्यैव बहिरवभासो विभ्रम इत्याहु। न्यायमकरन्द, पृ० ६६।
१०८ विवरणप्रमेयसग्रह, पृ० १२३।
१०६ ननु चतुर्विधान हेतु न प्रतीत्य चित्त चैत्या उत्पद्यन्त इति हि सौगतानाम् मतम्। विवरणप्रमेय सग्रह, १–१।
११० नेद रजतमिति बाधस्येदन्तायात्रगोचरत्वात् द्वयोर्बाधकल्पनाया
कल्पनागौरवात् नेद रजतमिति च रजते बाधादर्शनात्। चित्सुखी, पृ० ७३।
१११ नेद रजतमिति च बाधस्येदन्तामात्रबाधेनोपपत्तौ। भामती– पृ० २६।
११२ इष्टसिद्धि, पृ० ४०–४१।
११३ ज्ञातु आत्मनोर्थ विशेष व्यवहारयोग्यतापादनख्येन। श्रीभाष्य २२२७।
११४ सहीदकारास्पद रजतमावेदयति नत्वान्तरम्। भामती, पृ० २६–२७।
११५ असत्यामा एव बाह्यताया प्रतिभासस्यायुक्तम्। न्यायमकरन्द, पृ० १००।
११६ नेद रजतमिति बाधस्य चानुभवसिद्धतया कल्पनालाघवन्यायानवतारात्। –चित्सुखी, पृ० ७४।
११७ इष्टसिद्धि, पृ० ३४–४०।
११८ अन्तर्ज्ञेयरूप हि बहिर्वदवभासते इत्यभ्युपगमादियमपि विपरीतख्यातिरेवस्यात्। –न्यायमञ्जरी, पृ० १६६।
११६ न्यायमञ्जरी, पृ० १६६।
१२० इष्टसिद्धि, भूमिका, पृ० २२।
१२१ तस्माद् यथानुभवं तत्वम्युपगच्छद्भिर्वहिरेवा व भासत इति युक्तमन्युपगन्तु न तु बहिर्वदव भासत इति। ब्र० सृ० शा भा०, २२२८।
१२२ न भावो वासनानामुपपद्यते, त्वत्पक्षेऽनुपलब्धेवहियानामर्थानाम्। –ब्र० सू० शा भा, २२३।
१२३ सर्वदर्शन सग्रह (बौद्धदर्शन), पृ० ६३, माधवाचार्य, चौखम्बा, १६६४।
१२४ A Critical Survey of Indian Philosophy - P 100
१२५ Mahayan Vimsaka of Nagarjuna P 11, Bhattacharya, Cal 1931.
१२६ तस्मान्नभावो नाभावो न लक्ष्य नापि लक्षणम्। माध्यमिक शास्त्र पृ० ५३
१२७ सदसत्सदसच्चेति यस्य पक्षो न विद्यते
उपालम्भश्चिरेणापि तस्य वक्तु न शक्यते। चतु शतक–१६,२५, माध्यमिक शास्त्र मे उद्धृत–५
१२८ माध्यमिक शास्त्र, पृ० ४
१२६ वही– पृ० ७०
१३० माध्यमिक शास्त्र–प्रसन्नपदा टीका–१६१
१३१ माध्यमिक शास्त्र १६३। (दरगजा १६६०)
१३२ मायोपम सुभूते रूप, मायोपमा वेदना मायोपमा सज्ञा, मायोपमा सस्कारा, मायोपम विज्ञानम्।
शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता– परिवत ६ पृ० ६०७।
१३३ प्रतिभासोपम सुभूते रूपम् इत्यादि–वही पृ० ६०८। (कलकत्ता १६०२)
१३४ सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभाष सिद्धे – न्यायदर्शन ४/१/३७
१३५ असन् गौरश्वात्मना अनश्वो गौरसन्नश्वो गवात्मना
न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका पृ० ४३० तथा ४३१
१३६. छान्दोग्यभाष्य– ६/२/१
१३७ बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन– द्वितीय भाग पृ० १०३२। (उद्धृत)
१३८ यदादिम सर्वमेवानिर्वचनीय वर्णयति ...विज्ञानव्यतिरिक्त पुनरिद विश्व सत्वासत्वाभ्यामनिर्वचनीयं ब्रह्मवादिन सगिरन्ते। खण्डनखण्डखाद्य–१८३
१३६ भारतीय दर्शन की रूपरेखा–२२१ तथा २२२। अग्रेजी संस्करण हिरियन्ना, लन्दन १६५८

१४० बौद्ध–दर्शन तथा अन्य भारतीय–दर्शन पृ० ६६१, प्रथम खण्ड।

१४१ द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बृद्धाना धर्मदेशना
लोकसवृत्तिसत्य च सत्य च परमार्थत। माध्यमिक शास्त्र पृ० २१५।

१४२ बौद्ध–दर्शन मीमासा– पृ० २६१।

१४३ अभूत ज्ञापयत्यर्थभूतमावृत्य वर्तते
अविद्या जायमानेव कामलान्तकवृत्तिवत्। बौद्ध–दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन प्रथम भाग उद्धृत पृ० ६८६।

१४४ The Central Philosophy of Buddhism- P 244, 245, T R V Murti, Ruskin House, London, 1955

१४५ वही पृ० २५२ तथा २५३

१४६ Mahayana Buddhism - p 90 Surzhki

१४७ Buddhist Philosophy, A B Keith P. 261, Ixford, 1923
They use such expressions only to emphasize the ultimate

१४८ The Central Philosophy of Buddhism, P 229

१४९ सर्वदर्शनसग्रह, पृ० ६३, माधवाचार्य।

१५० अन्येतु अत्यन्तमसन्तमर्थमवभासयन्ती सविदेव विभ्रम इत्याचक्षते। –न्यायमकरन्द, पृ० १०२।

१५१ आकाश शशश्रृगम् च बन्ध्याया पुत्र एव च।
असन्तश्यभित्यज्यन्ते तथा भावेषु कल्पना।। –माध्यमिकशास्त्र, सम्पा० पी एल वैद्य, पृ० १०५, कारिका–१६६।

१५२ सर्वदर्शनसग्रह, पृ० ६३।

१५३ मयूखसहितामानरत्नावली, वैष्णवाचार्य, श्लोक–६०–६३, पृ० १७–१८।

१५४ सर्वशून्यमिति प्रतिजानता सर्व सदिति प्रतिजानतेव। श्रीभाष्य, २ २ ३०।

१५५ न्यायमञ्जरी (प्रमाण प्रकरण), पृ० १०६।

१५६ इष्टसिद्धि, पृ० ११६।

१५७ क पुनरेषु सदसतो सम्बन्ध?– न्यायमकरन्द, पृ० १०६।

१५८ इष्टसिद्धि, भूमिका, पृ० ३६।

१५९ प्रमाणप्रतिषेधोऽय सिद्धप्रमाणतो न वा?
व्याहति प्रथमे चान्त्ये मानानङ्गीकृति कुत।।६४।। –मयूखसहितामानरत्नावली, वैष्णवाचार्य, पृ० १८।

१६० पचपादिका एव विवरण–पृ० १६६ (मद्रास १९५८)।

१६१ ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति ज्ञानम्– इष्टसिद्धि– पृ० १०५।

१६२ अविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च। –ब्रह्मसूत्र भाष्य–पृ०–४२।

१६३ सहीदकारास्पद रजतमावेदयति, नत्वान्तरम्। भामती, पृ०–२६–२७।

१६४ अहमिति हि तदास्यात् प्रतिपत्तु प्रत्ययादव्यतिरेकात। भामती और कल्पतरु।

१६५ असत्याया एव बाह्यताया प्रतिभासस्यायुक्तम्। न्यायमकरन्द, पृ० १००।

१६६ नेद रजतमिति बाधस्य चानुभवसिद्धतया कल्पनालाघवन्यायानवतारात्। –चित्सुखी, पृ० ७४।

१६७ विमुक्तात्मा के अनुसार आत्मख्याति, अख्याति और अन्यथाख्याति भी सद्ख्याति हैं, क्योकि इनमें किसी ने विज्ञान के रूप मे, किसी ने स्मृति के विषय के रूप मे, किसी ने रूप में रजत को सत् माना है।– इष्टसिद्धि, पृ० ३९–४०।

१६८ अन्तर्ज्ञयरूप हि बर्हिवदवभासते इत्यभ्युपगमादियमपि विपरीतख्यातिरेव स्यात्। न्यायमजरी, पृ० १६६।

१६९ वहीं, जयन्तभट्ट, चौखम्बा, १९३६।

१७० इष्टसिद्धि, पृ० ११६।

१७१ न्यायमञ्जरी (प्रमाण प्रकरण), पृ० १६४।

१७२ इष्टसिद्धि, पृ० ११६।

१७३ क पुनरेष सदसतो सम्बन्ध? न्यायमकरन्द, पृ० १०६।

पंचम अध्याय

पाश्चात्य दार्शनिकों का भ्रम निरुपण एवं बौद्ध दर्शन से तुलना

पचम अध्याय

पाश्चात्य दार्शनिकों का भ्रम निरूपण एवम् बौद्ध दर्शन से तुलना

प्लेटो

प्लेटो के अनुसार तत्व (Substance) प्रत्यय (Ideas) हैं।[१] दर्शनशास्त्र मे तत्व की परिभाषा भिन्न है। दर्शनशास्त्र के अनुसार 'तत्व वह है जो कि स्वसत्ता और ज्ञान के लिए स्वतन्त्र हो' इस अर्थ में प्लेटो के प्रत्यय तत्व हैं, क्योकि प्लेटो के अनुसार वे स्वतन्त्र हैं। उनकी सत्ता स्वसत्ता है, जैसा कि अद्वैत में ब्रह्म की सत्ता स्वसत्ता है। ब्रह्म की सत्ता से ही अन्य वस्तुएँ सत् सी प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार प्लेटो के अनुसार भी प्रत्ययो की सत्ता से ही वस्तुओ की सत्ता है। वस्तुएँ प्रत्ययो की सत्ता पर निर्भर हैं।[२]

बौद्ध–दर्शन में मिथ्यात्व का प्रतिपादन हमे लकावतार सूत्र मे मिलता है। बौद्ध विज्ञानवादियों का कहना है कि जो वस्तु जिस रूप मे हमारे ज्ञान में प्रतीत होती है, वह वस्तु उसी रूप में है, इसी को ज्ञान का साधारण नियम मानते हैं। जहाँ पर इस नियम का व्यतिक्रम होता है, अर्थात् किसी प्रबल बाधकप्रत्यय द्वारा पूर्वोत्पन्न ज्ञान का बाध हो जाता है, तब वह भ्रम सिद्ध होता है।[३] इसी प्रकार प्लेटो के दर्शन मे इन्द्रियग्राह्य वस्तुओ की स्थिति है। प्लेटो के अनुसार बाह्य वस्तुएँ प्रातीतिक सत्य हैं, क्योकि उनको सत्ता प्रत्ययो से मिली है। जागतिक वस्तुएँ (Particulars) प्रत्ययो मे भाग लेते है, इसी कारण उनमे कुछ सत्ता है। अद्वैत के समान प्लेटो ने भी प्रातीतिक सत्ता एव वास्तविक सत्ता मे भेद किया है।[४] प्लेटो के अनुसार प्रत्यय ही सार्वभौम है, वस्तुएँ सीमित हैं। वस्तुए देश–काल से सीमित हैं, वस्तुएँ उत्पत्ति–विनाशशील हैं, अतएव वे पूर्ण सत्य नहीं हो सकतीं। वस्तुओ मे से प्रत्यय (Ideas) को निकाल देने पर वस्तुओं की सत्ता नहीं रह सकती। उनका अस्तित्व उनके अधिष्ठान के रूप मे प्रत्ययों के रहने के कारण ही है। बौद्ध दर्शन मे कहा गया है कि विषय के अभाव होने के कारण तद्विषयक ज्ञान मिथ्या कहलाता है। एक के मिथ्या होने पर अर्थात् विषय के मिथ्या होने पर ज्ञान भी मिथ्या या भ्रान्त हो जाता है। प्लेटो के अनुसार सार–वस्तु मात्र प्रत्यय हैं। प्रत्ययों के बिना वस्तुओं में अस्तित्व नहीं। प्रत्ययो के बिना जब बाह्य वस्तुओं की सत्ता नहीं तब प्रातीतिक बाह्य वस्तुएँ क्या हैं? प्लेटो का इस प्रश्न का उत्तर है कि वे तथाकथित बाह्य वस्तुएँ प्रत्ययों की 'प्रतिकृति' (Copies) हैं। कहीं पर प्लेटो ने बाह्य वस्तुओं को प्रत्ययो के 'अनुकरण' और कहीं पर 'छाया'

कहा है।[५] जेलर का भी कहना है कि प्लेटो बाह्य वस्तुओ को सत्य की छाया या प्रतिबिम्ब कहता है।[६] बाह्य वस्तुओ को सत्य की प्रतिकृति या छाया कहने का तात्पर्य उनकी सत्य पर आश्रितता से है। ये वस्तुए सत्यसापेक्ष हैं। सत्य जो कि प्रत्यय है, सर्वदा निरपेक्ष है। वस्तुएँ सत्ता और ज्ञान के लिए प्रत्यय–सापेक्ष है। प्रत्यय वस्तुओ के सार है, अत सार के बिना वस्तुएँ नि सार होगी। नि सार का अर्थ है, तत्वरहित होना और तत्वरहित होने का अर्थ अतत्व या मिथ्या है। इस प्रकार वस्तुए ज्ञान के लिए भी सारतत्वप्रत्यय सापेक्ष है। सार के ज्ञान के बिना वस्तुओ का ज्ञान कैसे सम्भव है? मृत्तिका घट का सार तत्व है, घट मृत्तिका पर आश्रित है, अर्थात् मृत्तिका के बिना घट का अस्तित्व एक पल भी सम्भव नहीं। यदि घट विषयक सत्य ज्ञान–प्राप्त करना है, तो मृत्तिका का भी ज्ञान आवश्यक है। कारण को जाने बिना कार्य का अपूर्ण ज्ञान हो सकता है न कि पूर्णज्ञान। अपूर्णज्ञान तथ्यात्मक ज्ञान नहीं होता है, अत वह भ्रान्ति है। प्लेटो के अनुसार भी विचार की दुनिया मनोमय दुनिया है। अतः विचारात्मक (Opinion) ज्ञान असत्य ज्ञान है। मात्र प्रत्ययो का ज्ञान ही सत्य ज्ञान है इसके अतिरिक्त सभी ज्ञान मिथ्या या असत् ज्ञान की कोटि मे आते है।[७]

वस्तु विषयक सत्य ज्ञान भी प्रत्यय विषयक ज्ञान के माध्यम से सम्भव है, इसलिए आश्रित और सापेक्षतया प्लेटो के दर्शन के अनुसार बाह्य वस्तुएँ मिथ्या हैं। छाया जिस प्रकार स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रख सकती, 'प्रतिकृति' की जिस प्रकार स्वतन्त्र सत्ता नहीं हो सकती, उसी प्रकार बाह्य वस्तुओ की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, किन्तु प्लेटो के अनुसार बाह्य वस्तुएँ अलीक या असत् नहीं हैं। बाह्य वस्तुएँ वैसे ही असत् नहीं, जैसे कि छाया असत्–नहीं। प्रतिबिम्ब बिम्ब की प्रतिकृति होती है। बिम्ब सत्य होता है, प्रतिबिम्ब उसकी नकल। नकल यद्यपि असल के समान सत्य नहीं है, फिर भी असत् भी नहीं होती। प्लेटो ने बाह्य वस्तुओं की सत्ता का अपलाप नहीं किया है,किन्तु उनकी सत्ता प्रत्ययो के समान सत्ता नहीं है। इसलिए प्लेटो के अनुसार जैसा कि स्टेस महोदय कहते हैं– "बाह्य वस्तुएँ अस्ति नास्ति के मध्य मार्ग हमे है, अर्द्धसत्य हैं।[८] बर्ट्रेण्ड रसेल के विचार से भी प्लेटो के अनुसार पार्टिकुलर्स सत्य के अश हैं। प्रत्यय पूर्ण सत्य एवं पार्टिकुलर्स अर्ध सत्य हैं। अर्ध सत्य का अर्थ अल्प सत्य है। इसका अर्थ हुआ प्रातीतिक वस्तुएँ प्लेटो के अनुसार असत् नहीं हैं। रसेल ने लिखा है कि 'यदि प्रातीतिक वस्तु की प्रतीति होती है, तब तो वह अलीक या असत नहीं है, किन्तु सत् का अंश है।[९] इन्द्रियग्राह्य वस्तुएँ सत्य मे भाग लेती हैं, अर्थात् सत्य मे आश्रित रहती हैं, इसलिए असत् नहीं है और असत् मे भाग लेने के कारण पूर्ण सत् भी नहीं हैं। पूर्ण असत् में भाग लेने के

कारण पूर्ण सत् भी नहीं हैं। पूर्ण असत् मे भाग लेने का अर्थ है पूर्ण असत् भी है। प्लेटो के अनुसार यह पूर्ण असत् जड (Matter) यह पूर्णतया स्वरूप रहित है। एक प्रकार से अद्वैतवेदान्त की अविद्या या अज्ञान से तुलना की जा सकती है, किन्तु अद्वैत की अविद्या सद्सद्विलक्षण अतएव अनिर्वचनीय है। जडता (Matter) मे भाग लेने के कारण ही बाह्य वस्तुऍ पूर्ण सत् नहीं हैं। अद्वैत के अनुसार जडत्व हेतु से जगन्मिथ्यात्व का अनुमान किया जाता है, अर्थात् जागतिक वस्तुए जड होने के कारण मिथ्या हैं। बाह्य वस्तुए जब पूर्ण सत् भी नहीं और पूर्ण असत् भी नहीं तब मध्यम सत्य है। बाह्य वस्तुओ के विषय मे ये विचार अद्वैत वेदान्त के "सदसद्विलक्षणानिर्वचनीयत्वमिथ्यात्व" की याद दिलाते हैं। अद्वैत के अनुसार त्रिकालाबाध्य होने के कारण प्रतीतिकाल मे असत् भी नहीं कही जा सकतीं। ऐसी स्थिति मे ये वस्तुए सद्सद्निर्वचनीय हैं। व्यावहारिक वस्तुओ की सत्ता न्यून सत्ता मानी गयी है– अर्थात् कारण–सत्ता से कार्य?–सत्ता न्यून है। यही प्लेटो के अनुसार अर्धसत्य है। अद्वैत के अनुसार भी घटादि वस्तुओ को यहॉ तक कि शुक्ति रजत को प्रातिभासिक वस्तुओ को भी अलीक नहीं माना गया है। प्लेटो ने भी बाह्य वस्तुओ को आकाशकुसुम के समान अलीक नहीं माना है।

भ्रम के विवेचन में नागार्जुन ने कार्य–कारण, जाति–व्यक्ति, भाव–अभाव आदि का विवेचन करके सभी मे विरोध दिखाया है और जागतिक प्रपच को मायामय मिथ्या कहा है और इस जगत् को सावृतिक सत्य अर्थात् व्यावहारिक सत्य कहा है।

स्पिनोजा

स्पिनोजा के अनुसार एकमात्र परमतत्व ही सत्य है। परमतत्व का लक्षण स्पिनोजा के अनुसार इस प्रकार है– "द्रव्य वह है जिसकी स्वतन्त्र सत्ता हो और जिसके ज्ञान के लिए किसी अन्य पदार्थ के ज्ञान की अपेक्षा न हो।"[१०] अर्थात् स्पिनोजा के अनुसार द्रव्य अपनी सत्ता मे स्वतन्त्र है और ज्ञान मे भी। इस प्रकार का द्रव्य या तत्व स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर है। ईश्वर परमतत्व है और असीम है। असीम होने के ही कारण वह एक भी है, क्योकि दो असीम अपने में ही असंगत है। परमतत्व–ईश्वर के अतिरिक्त स्पिनोजा ने गुणो की बात की है। स्पिनोजा ने गुण का लक्षण इस प्रकार दिया है– "गुण से तात्पर्य है कि जिन्हें बुद्धि द्रव्य का स्वरूप समझती है।"[११] स्पिनोजा ने ईश्वर मे दो गुण माने हैं– चेतन और विस्तार। कहीं–कहीं पर स्पिनोजा ने ईश्वर को अनन्तगुणवाला बतलाया है, फिर भी वह निर्गुण है। यदि ईश्वर ही एकमात्र तत्व है तो गुणों का क्या होगा? स्पिनोजा के अनुसार गुणात्मक विश्व ईश्वर में ही है ईश्वर या तत्व से बाहर नहीं। तत्व समग्र है। किसी भी ऐसी वस्तु की कल्पना नहीं की जा

सकती है जो ईश्वर से बाहर हो। ईश्वर ही सभी वस्तुओ का कारण है, फिर भी कार्य या गुणरूप जगत् ईश्वर से अनन्य है। जैसा कि अद्वैताचार्यो ने कार्य को कारणानन्य कहा है, स्पिनोजा भी सभी वस्तुओ को कारणभिन्न कहते है। वस्तुओ की सत्ता कारण सत्ता से अन्य नहीं है। कारण सत्ता से अनन्य होने के कारण वस्तुओ की सत्ता अपने मे नहीं है। जिस प्रकार शकर मे वाचारम्भण श्रुति की व्याख्या मे कहा गया था कि मृत्तिका की सत्ता ही घट–सत्ता है। सुवर्ण की सत्ता ही वलयसत्ता है। बिना उक्त कारणो की उक्त कार्यो की सत्ता स्वतन्त्र रूप से नहीं है, उसी प्रकार स्पिनोजा परमतत्व ईश्वर से स्थावर–जगमात्मक विश्व को भिन्न नहीं मानते।[१२] वस्तुऍ सत्ता के लिए ईश्वर–सापेक्ष हैं, जबकि ज्ञान के लिए बुद्धि सापेक्ष है, यद्यपि बुद्धि भी ईश्वर की सत्ता से सत्तायुक्त है। इस प्रकार वस्तुऍ ज्ञान और सत्ता दोनो के लिए ईश्वर–सापेक्ष हैं। जो सापेक्ष है वह परमतत्व नहीं है। जो परमतत्व नहीं है, वह परमतत्व का है। परमतत्व सम्पूर्ण जगत् का कारण है। इसका अर्थ यह नहीं कि परमतत्व से वस्तुऍ पृथक होकर निकलती हैं। समग्ररूप परमतत्व से वस्तुऍ पृथक दिखायी नहीं जा सकतीं। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर सबका कारण है, फिर भी वह शुद्ध है।[१३] उसमे विकृति नहीं आती। कारण की शुद्धता को बनाये रखने के लिए स्पिनोजा के परमतत्व को विवर्तकारण कहा जा सकता है, तभी शुद्ध कारण तत्व से गुणात्मक जगत् की व्याख्या दी जा सकती है। गुणात्मक जगत् को परमतत्व का विवर्त न मानने पर कारण को पारगामी होना पडेगा, परन्तु स्पिनोजा ऐसा नहीं मानता। परमतत्व मे गुणो की उपस्थिति की व्याख्या परिणामवाद से देने पर उक्त दोष से नहीं बचा जा सकता। वस्तुतः जब ईश्वर या परमतत्व स्पिनोजा के अनुसार निर्गुण और शाश्वत है, तब उसमें परिणाम नहीं माना जा सकता। कोई वस्तु शाश्वत, निर्गुण हो, साथ में उसमें परिणाम या परिवर्तन भी, ऐसा नहीं होता, अत. स्पिनोजा के अनुसार सृष्टि की व्याख्या कारण को विवर्तकारण मानकर करनी होगी। विवर्तवाद के अनुसार कार्य की स्थिति से कारण के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पडता है। कारण एकरूप रहता है, जैसा कि रज्जुसर्पज्ञान में कारण रज्जु है, उसमे सम्पन्न कार्य सर्प वस्तुत कारण को प्रभावित नहीं कर सकता। वह प्रातीतिक है। आत्मख्यातिवादी बौद्धो के अनुसार न तो कोई बाह्य पदार्थ है, और न तो कोई नित्य आत्मतत्व है। जो कुछ है वह विज्ञप्ति मात्र या चित्र मात्र है और वह क्षणिक है। शुक्ति और रजत के विषय मे उनका यह कहना कि विज्ञान के रूप में शुक्ति और रजत् दोनों सत्य हैं, किन्तु बाह्य पदार्थ के रूप मे दोनों असत्य हैं। 'इदं रजतम्' के मिथ्यात्व का अर्थ वे यह लगाते हैं कि 'रजतम् इदं न' अर्थात् रजत् कोई बाह्य पदार्थ नहीं है। भ्रम के कारण वह बाह्य पदार्थवत् प्रतीत होता है। इसी प्रकार स्पिनोजा के कारणवाद में भी स्वीकार करना होगा, अन्यथा

स्पिनोजा की इस उक्ति का विरोध होगा कि 'ईश्वर निर्गुण है'। उक्त प्रकार के अर्थ करने पर स्पिनोजा के गुण की परिभाषा की सगत हो जाती है, क्योकि स्पिनोजा ने कहा है कि– **'गुण वह है जिसे बुद्धि द्रव्य का स्वरूप समझती है।'** इसी कारण हेगल ने कहा है कि स्पिनोजा के अनुसार एकमात्र ईश्वर ही सत्य है, विश्व या जगत् नाम की कोई वस्तु नहीं है। यदि कुछ है तो अलीक है। सीमित सत्य नाम की कोई वस्तु नहीं है।[१४] सभी वस्तुएँ एक मे लीन हो जाती हैं, इसीलिए सर्वत्र एक ईश्वर ही है। 'गुण' की परिभाषा मे समझना (Concerves) शब्द है, इसी 'समझना शब्द का ही अर्थ करके कहा जा सकता है कि विश्व मे हम जो परिवर्तन और कार्य–कारण भाव देखते हैं, वह हमारे दृष्टिभ्रम के कारण है। हमारी दृष्टि मे परिवर्तन प्रतीत होता है, वस्तुत सम्पूर्ण परिवर्तन प्रातीतिक है। गुण बुद्धि का प्रतिभास है, अर्थात् गुण विषयनिष्ठ है वस्तुतः कार्यजगत् है नहीं। जो कुछ भी है, परमतत्व है। उसमें गुणो को पृथक् समझना प्रातीतिक है। गुणों को विषयनिष्ठ न मानने पर परमतत्व की असीमता, निर्गुणता, एकता आदि नहीं रह पायेंगी। इस प्रकार स्पिनोजा के अनुसार एकमात्र परमतत्व को ही सत्य और जगत को प्रातीतिक माना जा सकता है। परमतत्व विशेषणो से रहित है, अर्थात् किसी प्रकार के विशेषण उसमें नहीं हो सकते। उससे वह सीमित हो जाएगा। स्पिनोजा की प्रसिद्ध उक्ति है कि **'ऑल डिटरमिनेशन इज नेगेशन'**[१५] सभी विशेषण वस्तु को विशेषित करते हैं। घट को यदि किसी विशेषण से युक्त करे तो उसमें व्यापकता कम होती जायेगी, वह सीमित होता जाएगा। उदाहरणार्थ– घट को यदि 'श्यामघट' कहे तो उसमे 'श्याम' शब्द के द्वारा घट को श्वेत लाल आदि से वचित कर दिया जाता है, क्योंकि श्याम घट श्वेत या रक्त आदि विशेषणों से युक्त नहीं हो सकता, किन्तु पूर्व मे जैसा था 'घट' मात्र रहने पर वह श्याम लाल आदि सभी घटों का वाचक हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि वस्तु को विशेषण से विशेषित करके अधिक सीमित कर दिया जाता है– अर्थात् अधिकाशों मे वह असत हो जाता है। इसी प्रकार उसमे और एक विशेषण अधिक लगाया जाय तो और अधिक सीमित हो जायेगा– जैसे वर्तमानकालिक श्यामपट। इससे भूतकालिक एव भविष्यकालिक श्यामघट व्यावृत्त हो जाते हैं, केवल वर्तमानकालिक श्याम घटो का ही बोध उक्त विशेषणों के कारण होता है। इस प्रकार वस्तु मे जितने विशेषण अधिक लगाते जायेगे, वस्तु उतनी ही विशेषित होकर सीमित होती जायेगी एवं अन्यत्र उसका निषेध होता जायेगा। उसके अस्तित्व का क्षेत्र कम होता जाएगा, क्योंकि वह विशेषणों द्वारा इतर–व्याकृत होता हुआ स्व में स्थित होता है। इसीलिए स्पिनोजा ने कहा है कि **'विशेषीकरण निषेध को जाग्रत करता है।'** जहाँ भी विशेषण लगाया जाएगा निषेध होता जाएगा। परमतत्व में किसी विशेषण को लगाने का अर्थ उसे सीमित करना है। उसे इतर

व्यावृत्त करना है। परमतत्व को जब चेतन और विस्तार युक्त कहा जाता है, तब वह इन दोनो मे सीमित होने लगेगा। वस्तुत परमतत्व सीमित नहीं है, अत चेतन और विस्तारमय जगत् को बौद्धिक प्रतीयमान कहा गया है, अर्थात् जगत् की प्रतीति बुद्धि के कारण है। यह परिकल्पनाज्ञान और इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रतीति है। आनुभूतिक ज्ञान मे तो एकमात्र परमतत्व ही दिखायी देगा। वहॉ पर गुण की प्रतीति का बाध हो जाता है। इसी कारण स्पिनोजा के गुण की परिभाषा की रक्षा करने के लिए जगत् को प्रातीतिक या आभास स्वीकार करना होगा।

विज्ञानवादियों के अनुसार जो वस्तु जिस रूप मे हमारे सामने ज्ञान मे प्रतीत होती है, वह वस्तु उसी रूप मे है, यही ज्ञान का साधारण नियम है। जहॉ पर इस नियम का व्यतिक्रम होता है, अर्थात् किसी प्रबल बाधक प्रत्यय द्वारा पूर्वोत्पन्न ज्ञान का बाध हो जाता है तब वह भ्रम सिद्ध होता है।[६९] बौद्ध लोग ज्ञानाकार रजत् के बाहर अवभास को ही विभ्रम कहते हैं।[७०] इसी प्रकार स्पिनोजा का विशेषण दूसरी वस्तुओ को व्यावृत्त करता हुआ स्वयं भी व्यावृत्त होता है, अत प्रातीतिक, अर्थात् मिथ्या है।

ऊपर के विवरणो से स्पष्ट हो जाता है कि स्पिनोजा के दर्शन मे बौद्ध के मिथ्यात्व को खोजने के लिए बहुत प्रयास करना पडता है, क्योकि स्पिनोजा के कथनो से जगत् मिथ्या है, ऐसा अर्थ भी निकाला जा सकता है। साथ मे 'गुणविशिष्ट ईश्वर है', ऐसा भी अर्थ निकाला जा सकता है। हेगल के अनुसार अद्वैत के जगमिथ्यात्वाद से स्पिनोजा की गुणविषयक धारणा मिलती है। फिर भी अद्वैत के सद्सद्विलक्षण मिथ्यात्व स्पिनोजा के जगत् मिथ्यात्व से कुछ भिन्न है। इसका कारण स्पिनोजा परमतत्व को समग्ररूप मे अधिक देखने के इच्छुक हैं। परमतत्व के अतिरिक्त रूप में जगत् मिथ्या है।

बर्कले

बर्कले ने बाह्य वस्तुओं का प्रत्याख्यान किया है। लोक के तथाकथित अनुमेय बाह्य वस्तुए वस्तुत हैं ही नहीं, बर्कले की यही प्रस्थापना है। बाह्य जड वस्तुओ के प्रत्याख्यान के लिए बर्कले ने एक सूत्र का उपन्यास किया है (Essest Percipi. 18) अर्थात् सत्ता अनुभवमूलक है। इस सूत्र के आधार पर बर्कले ने जड़ वस्तुओं का प्रत्याख्यान किया है यह एक ज्ञान का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार जो वस्तु ज्ञात है उसी की सत्ता स्वीकार्य है। हमारा सम्बन्ध सर्वदा रूप, रस, शब्दादि प्रत्ययों से होता है न कि बाह्य जड़ वस्तुओं से। तथाकथित

गौण और प्राथमिक गुण मानसिक हैं। आत्मा के बाहर उनकी स्थिति नहीं रहती है। यदि जड नामक कोई स्थायी वस्तु के साथ हमारा सम्बन्ध होता है, तो वह एकरूप ही दिखाई देती, किन्तु ऐसा नहीं होता। वस्तुए दूर से देखने पर छोटी, पास से देखने पर बडी लगती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हम जो कुछ भी देखते है, आत्म–सापेक्ष देखते हैं। हमारी दृष्ट वस्तु हमे एकरूप नहीं दिखायी देती, अत वह जडवस्तु न होकर आत्मनिष्ठ विज्ञान है, अर्थात् आत्म–सापेक्ष विज्ञान या प्रत्यय है।[१९] ये प्रत्यय वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ है, क्योकि इन प्रत्ययो के अतिरिक्त वस्तुओ का ज्ञान नहीं हो सकता।[२०] बर्कले का तर्क है कि प्रत्ययो के अधिष्ठान के रूप मे भी हम जड–वस्तुओ को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योकि जड वस्तुएं प्रत्ययो का अधिष्ठान हैं– यह बात हम नहीं जानते। प्रत्ययो के उत्पादक रूप मे भी बर्कले जड–वस्तुओं को मानने को तैयार नहीं। बर्कले के अनुसार जडवस्तुए आत्मा मे प्रत्ययो का उत्पादन नहीं कर सकतीं, क्योकि वे स्वय जड हैं।[२१] बर्कले यहॉ पर न्याय–वैशेषिक के इस विचार को मानने को तैयार नहीं कि ज्ञान सर्वदा वस्तुविषयक होता है। न्याय–वैशेषिक के अनुसार ज्ञान सर्वदा 'घटज्ञान', 'पटज्ञान' के रूप मे विषयपरक होता है। निर्विषयक ज्ञान नहीं होता है। बर्कले ज्ञान को प्रत्ययपरक मानता है, किन्तु जड़वस्तु विषयक नहीं मानता है। ज्ञान बर्कले के अनुसार भी निर्विषयक नहीं है, किन्तु प्रत्ययविषयक है।[२२] यदि वस्तुएं हैं तो बर्कले के अनुसार वे प्रत्यय ही हैं।[२३] इनके अतिरिक्त वस्तुऍ हो तो भी हम जान नहीं सकते हैं।[२४] हमने यह पहले भी देखा है कि बर्कले अज्ञात वस्तु की सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं। बर्कले का कहना है कि अज्ञात वस्तु की सत्ता का कथन व्याघातक है। कोई भी व्यक्ति ऐसा कैसे कह सकता है कि अज्ञात घट है? घट का कथन करना ही सिद्ध करता है कि घट कुछ न कुछ ज्ञात है। अज्ञात वस्तुओं का वर्णन अर्थहीन है, और स्वविरोधी है।[२५] बर्कले कहते हैं कि अज्ञात वस्तुऍ कभी भी सुख और दुःख पैदा नहीं कर सकतीं, क्योंकि सुख–दुःख उत्पादन करना जड वस्तुओ का काम नहीं है। जड़वस्तुऍ ज्ञान से सम्बन्धित होकर ही सुख–दु.ख मन में पैदा कर सकती हैं, अत अज्ञात वस्तुऍ नहीं हो सकतीं।[२६]

बर्कले बाह्य जड वस्तुओं की सत्ता का प्रत्याख्यान उनके ज्ञान के सिद्धान्त के आधार पर करते हैं। बर्कले के सिद्धान्त का तात्पर्य वस्तुओं को ज्ञानाधीन बतलाना है। अतः बर्कले की स्थिति बौद्ध–विज्ञानवादी धर्मकीर्ति, शान्तिरक्षित के समान नहीं है। बौद्ध विज्ञानवादी धर्मकीर्ति और शान्तिरक्षित ने 'सहोपलम्भ–नियम' द्वारा ज्ञान–ज्ञेय को एक सिद्ध किया है। वे उपलब्धि के आधार पर वस्तुओ को ज्ञानाभिन्न सिद्ध करते हैं, जैसा कि हमने विज्ञानवादी के विचार में

दर्शाया है। उपलब्धि या ज्ञानातिरिक्त रूप मे उक्त विज्ञानवादी आत्म–परमात्मा का भी प्रत्याख्यान करते है। इस प्रकार विज्ञानवादी के अनुसार विज्ञानाद्वैतवाद सिद्ध होता है। बर्कले की स्थिति इससे कुछ भिन्न है। बर्कले प्रत्ययो की स्थिति को आत्मा मे मानता है।[२७] बर्कले उन प्रत्ययो को ईश्वर सृष्ट मानते है। बर्कले का कथन है कि 'वस्तुएँ' सर्वदा ज्ञात होती हैं। या तो मुझे उनका ज्ञान है या अन्य व्यक्ति को अथवा शाश्वत आत्मा को।[२८] इस प्रकार बर्कले दृष्टि सृष्टिवाद से सुरक्षित हो जाते है। बर्कले सार्वभौम प्रत्ययो को ईश्वरसृष्ट मानते है, न कि जीव–सृष्ट, अत बर्कले के अनुसार प्रत्यय जीवात्मा की व्यक्तिगत कल्पना नहीं है, किन्तु ईश्वर द्वारा सृष्ट प्रत्यय हैं। बर्कले इनकी बाह्यता एव जडत्व का प्रत्याख्यान करते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्यय ज्ञानसापेक्ष है। इसका अर्थ ज्ञात होने के लिए ज्ञान सापेक्ष है न कि उत्पत्ति के लिए ज्ञान सापेक्ष 'मन से बाहर वस्तुएँ नहीं है'– का अर्थवस्तुएँ नहीं है अपितु प्रत्यय हैं वे प्रत्यय ज्ञान होने के लिए मन के ऊपर निर्भर करते हैं, अत उनकी स्थिति भी मन में ही है। प्रत्ययो की ज्ञान सापेक्षता के साथ शकर के दृष्टि सृष्टिवाद की कुछ समानता है। विज्ञानवाद के प्रसग मे हमने देखा है कि किस प्रकार मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि मे दृष्टिसृष्टि का अर्थ सृष्टि या दृष्टि ही सृष्टि न होकर करके **'ज्ञातैकसत्व या अज्ञातसत्वाभास'**[२९] किया है। इसका अर्थ यही हुआ कि वस्तुएँ ज्ञानाधीन हैं, अर्थात् ज्ञात होने के लिए ज्ञान–पराधीन हैं। इष्टसिद्धिकार ने भी बाह्य वस्तुओ को 'दृगध्यस्त' कहा है, क्योकि वस्तुओ के साथ 'हक्' ज्ञान का किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं बन सकता, अत वे ज्ञानाध्यस्त हैं।[३०] बर्कले के 'सत्ताअनुभवमूलक' सिद्धान्त के साथ उक्त सादृश्य होने पर भी शकर मत में बाह्यार्थ की स्थिति बर्कले के दर्शन मे स्वीकृत स्थिति से भिन्न है। 'नाभाव उपलब्धे' (२/२/२८) इस सूत्र के भाष्य और टीकाओं मे शकर ने बाह्य वस्तुओ की स्थिति ज्ञान से भिन्न मानी है, फिर भी अद्वैत मे बाह्य वस्तुएं ज्ञानाध्यस्त या मिथ्या है, अलीक नहीं। बर्कले के अनुसार बाह्यता अलीक है। तब कुछ आन्तर है। उपर्युक्त आधार पर हमने बर्कले, शकर एवम् विज्ञानवादियो की तुलना की है।

ह्यूम

ह्यूम मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा ज्ञानमीमासा से तत्वमीमांसा में पहुँचते हैं। ह्यूम अनुभववादी दार्शनिक हैं। ह्यूम के अनुसार हमें प्रत्ययों का ही अनुभव हो सकता है। इन्द्रिय अनुभव से प्रत्ययों के अतिरिक्त बाह्य वस्तुओ का ग्रहण नहीं हो सकता है। इसी प्रकार से ह्यूम ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व को भी अस्वीकार कर देते हैं। अनुभूति एवम् बाह्य वस्तुएँ एक दूसरे से भिन्न हैं।[३१] दोनो का किसी प्रकार वास्तविक सम्बन्ध सम्भव नहीं है बाह्य वस्तुओं

को ज्ञान का कारण नही कहा जा सकता। कार्य–कारण नियम सार्वभौम नियम नहीं है। ह्यूम कार्यकारण नियम का खण्डन करते है। इसी कडी मे आगे बौद्धो का मानना है कि असत् से सत् की उत्पत्ति होती है। [32] बौद्ध विचारक समवायि, असमवायि या निमित्त कारणो के विभेद को नही मानते और केवल क्षणिक बाद की चिरन्तन प्रतिष्ठा पर खडे होकर अपने प्रतिद्वन्द्वियो के सिद्धान्तो को काटते ही है। उनका मानना है कि न तो कार्य को अपनी उत्पत्ति से पहले कहा जा सकता है, सत् और न असत् और न सद्–असत्। दूसरी तरफ अद्वैतवेदान्त की तरह ह्यूम का भी कहना है कि कार्य–कारण मे किसी प्रकार का बौद्धिक–सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता है। कार्यकारण की धारण हमारा एक प्रकार का स्वभाव है।[33] वस्तुओ मे कार्य–कारण भाव निहित नहीं है, अत वस्तुओ का निश्चित ज्ञान सम्भव नहीं है।[34] कार्य–कारण के नियम के खण्डित होने पर बुद्धि द्वारा बाह्य वस्तु, आत्मा और ईश्वर का अनुमान भी सम्भव नहीं, क्योकि अनुमान का आधार कार्य–कारण (साहचर्य नियम व्याप्ति) है। इस प्रकार द्रव्य या तत्व की धारण आत्मद्रव्य या जड के रूप मे निरर्थक है।[35] इसी प्रकार नैतिक धारणाए भी ह्यूम के अनुसार अबौद्धिक हैं।

ह्यूम ने कार्य–कारण नियम का प्रत्याख्यान अवश्य किया है, इस नियम के प्रत्याख्यान मे ज्ञान–ज्ञेय के सम्बन्ध का भी प्रत्याख्यान अद्वैत के ही समान किया है, किन्तु ह्यूम कार्य–कारण भाव के प्रत्याख्यान मे निषेधात्मक विश्लेषण मे ही रह जाते हैं। अद्वैत वेदान्त मे अनेक तर्को से दिखाया है कि नामरूपात्मक जगत् अविद्या से प्रत्युपस्थापित है, अविद्याकल्पित है, किन्तु 'नामरूपपक्षस्यैव विद्याविद्ये' अर्थात्, विद्य और अविद्या केवल नाम–रूप पक्ष के ही हैं। 'न हि परमार्थतो निर्विकल्पे ब्रह्मणि कश्चिद्विकल्प उपपद्यते' (तैत्तरीय भाष्य २/८)। परमार्थरूप निर्विकल्प ब्रह्म मे कोई विकल्प उत्पन्न नहीं होता है। ह्यूम भी व्यवहार का अपलाप नहीं करता है। कार्य–कारण सम्बन्धादि को बुद्धि का स्वभाव होने के कारण काल्पनिक कहते हैं। ह्यूम कार्य–कारण भाव के प्रत्याख्यान द्वारा बाह्य वस्तुओ के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं।

इस प्रकार बौद्धो के मिथ्या/भ्रम और ह्यूम के बाह्य–वस्तुओ की सत्ता की धारणा मे बहुत अन्तर है। ह्यूम आत्मा और अनात्मा वस्तुओ की सत्ता के विषय मे सन्देहवादी बन गये है। बौद्ध महायानियो ने संवृत्ति को अविद्या कहा था और उसे आवरण करने वाली बताया था 'अभूत ज्ञापयत्यर्थं भूतआवृत्य वर्तते। अविद्या जायमानेव कामलातंकवृत्तिवत्' ह्यूम ने सत्य–मिथ्या तात्विकविश्लेषण नहीं किया। ह्यूम की पद्धति मनोवैज्ञानिक और निषेधात्मक है। विचार की दृष्टि से ह्यूम विषय–विषयी और ईश्वर इन तीन तत्वों के निषेधात्मक पक्ष में पहुँचते हैं, फिर

भी वे प्रत्ययो का निषेध नहीं कर पाते। बौद्धो मे भी व्यावहारिक सत्य को एक प्रकार से असत्य का ही नाम दिया है। उस व्यावहारिक सत्य से पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति होती है, ऐसा ही विचार आचार्य शकर मे मिलता है। 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत सत्य समीहते'।

काण्ट

काण्ट ज्ञान–मीमासा से अपनी तत्वमीमासा मे पहुचते है। ज्ञानमीमासा मे 'शुद्ध बुद्धि की मीमासा' नामक ग्रन्थ मे काण्ट की प्रस्थापना है कि व्यावहारिक ज्ञान के लिए ज्ञान के माध्यम बुद्धि विकल्प (Categories) एव देशकाल हैं। इन्हीं के माध्यम से हमे व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होते हैं। व्यावहारिक ज्ञान अवभासो (Phenomena) का ज्ञान होता है, वस्तुस्वरूप का नहीं। काण्ट का कहना है कि 'जो अवभास या भ्रम नहीं है, वह अनुभव का विषय नहीं बन सकता है। अर्थात् अनुभव का विषय बनने के लिए भ्रम का होना आवश्यक है, बिना भ्रम के कोई भी अनुभवात्मक ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता है। बुद्धि सवेदन के उन नियमो का अतिक्रमण नहीं कर सकती, जिनके माध्यम से वस्तुओं की उपस्थापना अवभास के रूप मे होती है।[३६] बौद्धिक–ज्ञान के लिए सवेदन प्राप्ति हेतु देश–काल प्रकार (Forms) हैं। इन्हीं प्रकारो के माध्यम से हमे वस्तुस्वरूपो (Things in themselves) के अवभास/भ्रम प्राप्त होते हैं किन्तु देशकाल वस्तुस्वरूपो को जानने के माध्यम नहीं हैं।[३७] इसी कारण वस्तुस्वरूपो का ज्ञान हमे तद्रूपो मे नहीं हो सकता, क्योकि प्रकारो के माध्यम से प्राप्त सवेदनो के द्वारा ही हम जानते हैं और प्रकारो के द्वारा अवभास ही प्राप्त होते हैं, न कि वस्तुस्वरूप।[३८] यही हमारे बौद्धिक–ज्ञान की सीमा है। वस्तुस्वरूप हमारे मनोराज्य से परे है। जो भी हमे भ्रम प्राप्त होते हैं, वे वस्तुस्वरूप परमार्थो द्वारा उत्थापित हो जाते हैं, इसका तात्पर्य यह नहीं कि अवभास और वस्तुस्वरूपो मे अंशाशिभाव है– अर्थात् अवभास या भ्रम वस्तुस्वरूपो के भाग हैं।[३९] परमार्थ वस्तुस्वरूप इन अवभासो के कारण तो अवश्य हैं, किन्तु इस कारणता की भी स्थापना हम नहीं कर सकते, क्योंकि कारणता की स्थापना के लिए भी कार्य–कारण के ज्ञान की आवश्यकता होती है। यहाँ पर कारणत्वेन वस्तुस्वरूपो का ज्ञान संभव ही नहीं।[४०] काण्ट के अनुसार इन्द्रिय–सम्वेदनो से जो भी ग्राह्य हैं वे अवभास हैं।[४१] उनके अनुसार अवभासो को उपस्थापित करने वाले कारण वस्तुस्वरूपों की सिद्धि करने की आवश्यकता नहीं है। वे इसी से सिद्ध हैं कि बिना उनके भ्रम सम्भव नहीं है।[४२] इस प्रकार काण्ट के अनुसार हमे परमार्थ वस्तु के स्वरूपो का ज्ञान नहीं हो सकता, हम व्यावहारिक अवभासो को ही जान सकते हैं। जिस प्रकार अवभासों को उत्थापित करने वाले वस्तुस्वरूप अज्ञेय हैं उसी प्रकार काण्ट के अनुसार आत्मा का स्वरूप भी अज्ञेय है। हम जब भी

आत्मा को जानते हैं, उसे सोचने की प्रक्रिया मे जानते है। वस्तुत हम सोचने की प्रक्रिया को त्यागकर विशुद्ध अधिष्ठान स्वरूप आत्मा को हम नहीं जान सकते, क्योकि वह भी हमारे मन से परे है।[४३] जिन परमार्थ स्वलक्षणो से हमे अवभासात्मक ज्ञान प्राप्त होता है, उनका स्वय का ज्ञान अर्थात् संवेदनात्मक ज्ञान हमे प्रज्ञा या बुद्धि द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता।[४४] यहॉ पर एक समस्या और खडी होती है कि जब काण्ट वस्तुओ को अज्ञेय कहते है, तो उनके विषय मे अज्ञेयात्मक कथन कैसे करते हैं? जिन्हे हम नहीं जानते या नहीं जान सकते, उनके विषय मे कथन क्या सम्भव है? काण्ट इस समस्या का समाधान अन्य प्रकार से देते है। उनका कहना है कि हम निषेधात्मकरूप से वस्तु स्वरूपो को जानते हैं।[४५] काण्ट के अनुसार परमार्थ का भावात्मक ज्ञान सम्भव नहीं, किन्तु निषेधात्मक ज्ञान सम्भव है, जो कि हमारी ज्ञान की सीमा को बतलाता है कि हमारी पहुॅच परमार्थ तक नहीं है, व्यवहार तक ही सीमित है। हमको परमार्थ का ज्ञान अवभास के रूप में ही होता है। **एच. जे. पैटन** का आक्षेप है कि जब काण्ट कहते हैं कि हम परमार्थ वस्तु स्वरूपो को जानते ही नहीं, तब वे कैसे कह सकते हैं कि वस्तुस्वरूप नाना हैं? या वस्तुस्वरूप और आत्मा के स्वरूप मे कैसे अन्तर किया जा सकता है? अज्ञातवस्तुओ को एक दूसरे से पृथक कैसे किया जाना सम्भव है? काण्ट का उत्तर है कि हम वस्तुस्वरूपो को जान अवश्य नहीं सकते, किन्तु उनके विषय मे सोच सकते हैं। उनके विषय मे 'वस्तुस्वरूप अज्ञेय है' ऐसा सोच सकते हैं। **एच. जे. पैटन** महोदय का कहना है कि इस प्रकार के कथन से उक्त समस्या का समाधान नहीं हो सकता है।[४६] काण्ट महोदय के समक्ष यह समस्या अवश्य है कि निषेधात्मक ज्ञान से वस्तुस्वरूपो के नानात्व का ज्ञान कैसे सम्भव है? वे वस्तुस्वरूप एक हैं, नाना है या कि रूप हैं, कैसे जाने जा सकते हैं? जानने पर भी काल्पनिक ज्ञान होगा न कि तथ्यात्मक ज्ञान, क्योकि तथ्यात्मक ज्ञान के लिए वस्तुस्वरूप शर्त ही पूरे नहीं करते। वे शर्त हैं देश–काल, जिनके माध्यम से अवभासों का संवेदन होता है, किन्तु वस्तुस्वरूपों का संवेदन नहीं हो सकता, वे इन प्रकारों के घेरे से परे हैं।

इस प्रकार ऊपर दिये गये विवरणो से बाह्य वस्तुओ की स्थिति काण्ट के अनुसार क्या है, स्पष्ट हो जाती है। काण्ट महोदय का मानना है कि ज्ञात वस्तुऍ प्रातीतिक होती हैं। यह अन्तिम सत्य नहीं है। बल्कि काण्ट के अनुसार सत्य अपने में सर्वदा अज्ञेय होता है। जो वस्तु या ज्ञान अज्ञेय होगा, वह सत्य कैसे होगा? इसी कारण से इन दृश्य वस्तुओं की सत्ता प्रातीतिक है। अन्तिम सत्य परमार्थ वस्तुस्वरूप हैं।

बौद्धो मे मान्य व्यावहारिक जगत् भी प्रातीतिक ही है। काण्ट देश–काल और बुद्धि–विकल्पो के माध्यम से ज्ञात वस्तुओं अवभासों को प्रातीतिक सत्य कहता है। बौद्ध–वेदान्त

मे प्रातीतिक वस्तुएँ जो कि स्वय वस्तुएँ न होकर बाह्यवस्तु से वस्तुत्व अर्थात् तत्व प्राप्त करके तात्विक सी लग रही है, वे सब 'दृश्यत्वेन' मिथ्या है, ऐसा कहा गया है। "दृश्य" शब्द से ज्ञेय या ज्ञान विषयत्व अर्थ लिया गया है। ज्ञान का विषय ज्ञेय है, अत 'दृश्यत्वेन सर्व मिथ्या' है, यह मत काण्ट के प्रपञ्चवाद से मिलता है। काण्ट भी परमार्थ को अज्ञेय कहता है। यहीं पर अद्वैत का यह आक्षेप है कि ज्ञान का विषय तो ब्रह्म भी होगा, फिर दृश्य होने के कारण मिथ्यात्व ब्रह्म मे भी जाना चाहिए? अद्वैतसिद्धिकार ने उत्तर दिया है कि ब्रह्म मे वृत्तिव्यापकता है, न कि फलव्याप्यता।[४७] वृत्तिव्याप्यता का तात्पर्य है– मात्र अज्ञान का नाश होना, अर्थात् ब्रह्मविषयक अज्ञान की नाशकारक वृत्ति उदय होती है, उस स्थिति मे भी ब्रह्म मे विषयत्व किंचित् आता ही है। इसलिए अद्वैतसिद्धिकार ने कहा है कि "शुद्ध हि ब्रह्म न दृश्यम् यत्तददृश्यमिति श्रुते।"[४८] अत ब्रह्म में दृश्यत्व नहीं आता। वृत्ति–विषयक होने पर ब्रह्म में उपाधि–अशत्वेन मिथ्यात्व आ ही सकता है, किन्तु शुद्ध मे यह दोष भी नहीं लगता, क्योकि शुद्ध की स्थिति मे ज्ञान–ज्ञेय–ज्ञाता में भेद न रहने के कारण वह ज्ञान का विषय भी नहीं बनता। काण्ट ने भी दृश्यत्व अर्थात् ज्ञानविषयत्व परमार्थ स्वलक्षणो में नहीं माना है, अत वे परमार्थ सत्य हैं। माध्यमिको ने शुक्तिरजत् एवं शुक्ति दोनों को असत् माना है। इसी प्रकार विज्ञानवादी की भ्रम और व्यवहार मे अन्तर का न होना मानते हैं। जिस प्रकार विज्ञानवादी ने बाह्य पदार्थो को असत् कहा है, उसी प्रकार माध्यमिको ने विज्ञान को भी असत् कहा है। भ्रम स्थल मे भी भ्रम अधिष्ठान शुक्ति असत् है, एवम् आरोप्य विषय रजत् भी असत् है। शुक्ति–रजत् भ्रम मे अत्यन्त असत् रजत् की प्रतीति होती है। **'न्यायमकन्दकारः'** ने कहा है कि "शून्यवादी के अनुसार अत्यन्त असद् अर्थ को प्रकाशित करने वाला ज्ञान ही विभ्रम है।[४९] उसी प्रकार काण्ट भी आत्मा की चिन्तन प्रक्रियादि स्थितियो को या उनसे सम्बन्धित आत्मा को आत्मा नहीं कहते। जैसा कि ऊपर विचार से स्पष्ट होता है कि काण्ट ऐसी आत्मा को शुद्ध परमार्थ आत्मा नहीं कहते जो कि हमारे चिन्तन का विषय बनती है। जो आत्मा बुद्धि का विषय बनती है, वह शुद्ध परमार्थ केसे हो सकती है? बुद्धि का विषय बनने का तात्पर्य है देश और काल से ग्रस्त होना और आत्मा को हमे जैसी प्रतीति होती है, वैसा जानते हैं, न कि उनके स्वरूप में, अतः ऐसी आत्मा प्रातीतिक अर्थात् परमार्थात्मा नहीं।[५०] दूसरी तरफ अद्वैतवेदान्त के अनुसार आत्मा में चिन्तनादि अर्थात् ज्ञातृत्वादि अध्यस्त हैं। गरम लोहा जिस प्रकार जलाता है और लोग कहते हैं "लोहा जलाता है" वस्तुत लोहा नहीं जला सकता। जलाने का गुण अग्नि में है, परन्तु अग्नि के सान्निध्य से लोहे मे वह गुण आरोपित किया जाता है। इसे अध्यस्त कहते हैं। इसी प्रकार आत्मा परमार्थत शुद्ध चेतन है, फिर भी अज्ञान के कारण उसमें कर्तृत्व–भोक्तृत्व–ज्ञातृत्व

अहतादि गुणो का आरोप होता है। इस प्रकार के आरोपित गुण प्रातीतिक होने के कारण मिथ्या हैं। इसी प्रकार "अह" को जो कि "अह सुखी, और अह दु खी" आदि चिन्तन करता है, शुद्ध आत्मा नहीं कहा जाता, अपितु वह विषयो मे अध्यस्त आत्मा है, जो कि अहता है, वह आध्यासिक होने से मिथ्या है। इसी प्रकार ज्ञान–ज्ञेय–ज्ञाता भेद भी मिथ्या है।[५१] फिर भी अद्वैत वेदान्त मे आत्मादि जगत् को मिथ्या होने पर भी असत् या अलीक नहीं कहा गया। बौद्ध विज्ञानवादियो के अनुसार बाह्य वस्तुए विशुद्ध विज्ञान या विज्ञप्ति मे आरोपित हैं। अद्वैत वेदान्तकार प्रकाशात्मयति मे पंचपादिका–विवरण में त्रिविध–सत्ता की स्थापना करते हुए कहा है कि परमार्थ सत्ता ब्रह्म की है, अर्थक्रियासामर्थ्यसत्व आकाशादि का एवं अविद्योपाधिकसत्व शुक्ति–रजतादि का।[५२] जिस प्रकार रजतादि शुक्ति मे आरोपित हैं, उसी प्रकार आकाशादि भी ब्रह्म में आरोपित हैं, अत शुक्ति–रजतादि के समान ही आकाशादि भी मिथ्या या भ्रम है। प्रस्तुत स्थल पर विज्ञानवाद और अद्वैत के मत मे समानता प्रतीत होती है। अद्वैत मे जिस प्रकार प्रातिभासिक को व्यावहारिक दृष्टि से सत्–स्वभाव रहित कहा है, और व्यावहारिक वस्तुओं को पारभार्थिक दृष्टिकोण से सत् स्वभाव रहित कहा है उसी प्रकार आचार्य वसुबन्धु भी तीन प्रकार से नि.स्वभावों का कथन करते हैं। उन्हे लक्षणा नि स्वभावता, उत्पत्ति नि·स्वभावता एव परमार्थ नि स्वभावता कहते हैं। परिकल्पित वस्तुऍ आकाश–कुसुम के समान नि·स्वभाव हैं। ये लक्षण से उपेक्षित हैं। परिकल्पित वस्तुओ की सिद्धि के लिए जिन लक्षणों का समावेश किया जाता है, वे वास्तविक नहीं हैं, अत ऐसी वस्तुऍ लक्षणो से नि.स्वभाव होने के कारण लक्षण नि स्वभाव कहलाती हैं। परतना वस्तुऍ कारण सापेक्ष होने के कारण उत्पत्ति–निःस्वभाव हैं, क्योकि स्वय स्वभाव वाले परतन्त्र नहीं हैं। स्वय स्वभाव वाले होते तो परतन्त्र ही नहीं कहलाते। इसी प्रकार परिनिष्पन्न परमार्थ नि स्वभाववाला है। परमार्थतः उसमे किसी प्रकार के धर्म नहीं हैं, अत· वह विशुद्ध विज्ञप्तिमात्र होने के कारण परमार्थत नि.स्वभाव है।[५३] इस प्रकार परमार्थ विशुद्ध विज्ञान ही एक निरपेक्ष सत्ता है। आचार्य असंग ने भी उक्त त्रिविधि सत्वो का प्रयोग महायान सूत्रालकार में किया है।

इस प्रकार काण्ट महोदय का मानना है कि जड–वस्तुऍ एवं आत्मा जोकि परमार्थ वस्तुस्वरूपो के अवभाव या भ्रम हैं, वह भ्रम या मिथ्या नहीं हैं। जैसा कि पैटन महोदय भी कहते हैं कि "काण्ट के लिए ऐसा सिद्धान्त जो कि अवभासो को भ्रम कहता है, अचिन्तनीय है।"[५४] इसी प्रकार काण्ट को व्यवहार के ज्ञान मे वस्तुवादी और परमार्थ के ज्ञान में विज्ञानवादी कहा जाता है, क्योकि वस्तुवादी काण्ट इसलिए है कि वे सभी यह नहीं कहते कि व्यावहारिक अर्थात् प्रातीतिक जगत् हमारे मन द्वारा निर्मित है। यह प्रातीतिक जगत् उत्पत्ति के लिए मननिरपेक्ष है।

इनको परमार्थ वस्तुएँ अवभास या भ्रम के रूप मे उत्थापित करती है, जो कि सत्य है। यह हमारे मन के द्वारा कल्पना का जगत् नहीं है।[५५] काण्ट महादेय के अनुसार यह जगत्–प्रपच सार्वजनिक है। सबके लिए है, सत्य है, किन्तु व्यावहारिक सत्यता है इसमे। इसी कारण काण्ट व्यावहारिक वस्तुवादी हैं, जैसाकि अद्वैतवेदान्त व्यावहारिक वस्तुवाद का सिद्धान्त है। काण्ट विज्ञानवादी या प्रत्ययवादी भी हैं, किन्तु काण्ट बर्कले के प्रत्ययवाद को भिन्न बताते हैं। काण्ट का मत है कि "जो बाह्य वस्तुओ के अस्तित्व का प्रत्याख्यान करते हैं, उन्हे प्रत्ययवादी नहीं समझना चाहिए। प्रत्ययवादी उन्हे कहना चाहिए जो परमार्थ बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को मानते हैं, किन्तु उनके प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं मानते और इसलिए किसी उपाय से हम उनके निश्चित ज्ञान नहीं पा सकते, उनकी सत्यता का निश्चित ज्ञान नहीं पा सकते और न उनकी सत्यता का निश्चित ज्ञान हो सकता है।[५६]

इस प्रकार काण्ट एवं बौद्ध विज्ञानवादियो मे एक बात मे समानता है कि बौद्ध विज्ञानवादी की तरह काण्ट भी परमार्थ ज्ञान के रूप मे विज्ञानवादी है, लेकिन व्यवहार ज्ञान के रूप में काण्ट वस्तुवादी है। काण्ट के दर्शन में ऐसी बात स्पष्टरूप से कहीं देखने को नहीं मिलती कि कभी परमार्थ का सत्यज्ञान होने पर प्रातीतिक जगत् का बाध होगा।

काण्ट महोदय का मानना है कि 'कल्पना' आनुभविक प्रत्यक्ष का एक आवश्यक अंग है। बौद्धो के लिए काल और देश के स्वरूप हमारी बुद्धि या मानस के मौलिक अधिकार नहीं हैं बल्कि उसी प्रकार हमारे विकल्प के द्वारा रचित होते हैं, जिस प्रकार अन्य सभी इन्द्रिय–ग्राह्य और अमूर्तरूप हैं। शुद्ध ग्राह्यता के रूप मे ग्राह्यता स्वय अपने में आकारविहीन होती है। जहाँ तक विकल्प का प्रश्न है यह बौद्ध न्याय मे एक ऐसा शब्द है जिससे वह सब कुछ अभिप्रेत है, जो ग्राह्यता नहीं है। इस प्रकार, काण्ट की उत्पादक कल्पना तथा उसकी प्रज्ञा, निश्चय हेतु और अनुमान सभी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। बौद्ध का कहना है कि विज्ञान और कल्पना दोनो के अपने–अपने पदार्थ और कार्य होते हैं। बौद्ध का कहना है कि बिना विज्ञान के हमारा ज्ञान 'वस्तु–शून्य' होगा। काण्ट का कथन है कि "बिना अन्त प्रज्ञा के हमारा समस्त ज्ञान पदार्थो से रहित होगा, और इसलिए वह सर्वथा शून्य रहेगा। धर्मोत्तर का कथन है कि 'बिना किसी प्रत्यक्षात्मक निश्चय के शुद्ध विज्ञान ऐसा होता है मानों उसका कोई अस्तित्व ही नहीं था। इस पर काण्ट का कहना है कि "बिना सम्प्रत्ययों के अन्तःप्रज्ञा अन्धी होती है।" बौद्ध का मानना है कि "बिना विकल्पों के शुद्ध विज्ञान मात्र के द्वारा हम न तो कभी यह जान सकेंगे कि कहाँ कर्म करना चाहिए और न यही कि कहॉ कर्म से विरत रहना चाहिए। बौद्ध का कहना है कि 'केवल सफल अर्थक्रिया की ही दृष्टि से ये दोनों प्रकार ज्ञान के सम्यक् माध्यम हैं। काण्ट ने, इन

दोनो क्षमताओ मे से कोई भी एक दूसरे की अपेक्षा अपेक्षणीय नहीं है। बौद्ध का मानना है कि "इन्द्रिय–प्रत्यक्ष" ही इनमे से प्रमुख नहीं है। इन्द्रिय–प्रत्यक्ष और अनुमान (अर्थात् विज्ञान और प्रज्ञा) दोनो का बल समान है।

समकालीन चिन्तक

ब्रैडले

ब्रैडले प्रतीयमान वस्तुओ को आभास या मिथ्या या अज्ञान कहते हैं। प्रतीयमान वस्तुओ के अधिष्ठान रूप से जो सत्ता है, उसे ब्रैडले सत् कहते हैं। ब्रैडले ने अपनी पुस्तक 'आभास और सत्' के प्रथम खण्ड मे सभी प्रतीयमान वस्तुओं को तर्को और युक्तियो द्वारा आभास सिद्ध किया है। तार्किक बुद्धि से विचार करने पर वस्तुएँ सत्य सिद्ध नहीं हो पार्ती। ब्रैडले के अनुसार पूर्ण सत् कभी भी अपने में स्वव्याघातक नहीं होता है।[५७] इसका अर्थ यह हुआ कि–सत् यदि है तो असत् नहीं हो सकता है। वह सत् ही है। यदि सत् अपने स्वरूप से विलग हो सकता तब वह सत् ही नहीं कहा जायेगा। इसके विपरीत आभास अपने अस्तित्व को बनाये नहीं रख पाते, कारण यह है कि आभास का अपना कोई स्वरूप नहीं है। उनका स्वरूप भी सत् का ही स्वरूप है। आभास अपने अस्तित्व से तादात्म्य नहीं रख पाते।[५८]

ब्रैडले ने प्रतीयमान वस्तुओ को आभास सिद्ध करने के लिए प्रधान–अप्रधान, गुण द्रव्य और विशेषण, सम्बन्ध और गुण, दिक् और काल, गति और परिवर्तन, कारण और क्रिया, यहाँ तक कि आत्मा का भी विचार करके सभी को स्वव्याघातक सिद्ध किया है। उनके अनुसार ये सभी आभास हैं, न कि सत्। अप्रधान गुणो के विषय मे उनके विचार हैं कि रूप, रग आदि अप्रधान गुण वस्तुगत नहीं हैं, वे अह–सापेक्ष हैं। इन्द्रियों के बिना अप्रधान गुणो की सत्ता नहीं सिद्ध हो पार्ती। ये वस्तुत· वस्तुओ मे न होकर विषयी मे है, अत. आभास हैं। ब्रैडले स्वतन्त्र सत्ता को ही सत् कहते हैं। अप्रधान गुण स्वतन्त्र नहीं हैं, अत· सत् न होकर आभास हैं।[५९] इसी प्रकार अप्रधान गुण भी सापेक्ष हैं। वे भी अपने आप से स्वतन्त्र रूप से अस्तित्ववान नहीं हैं, अतः वे भी आभास ही हैं।[६०] गुण–गुणी का सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। ब्रैडले ने शक्कर खण्ड का उदाहरण देकर समझाया है कि शक्कर मीठा है, ठोस है, श्वेत है, इन गुणों से वह विशिष्ट है, किन्तु मीठा, ठोस आदि ही शक्कर नहीं है। मीठा स्वयं एक गुण है, वह ठोस नहीं है, श्वेत स्वयं एक गुण है, ठोस का प्रयोग श्वेत में भी नहीं हो सकता। शक्कर इन गुणों की समष्टिमात्र भी नहीं। तब वह है क्या?[६१] इस प्रकार तार्किक विश्लेषण करने पर वस्तुएं न विश्लेषण रूप

होती है, न उनसे भिन्न रूप से सिद्ध है। "शक्कर श्वेत है।" इस वाक्य मे हम शक्कर को श्वेत कैसे कह सकते हैं? शक्कर को उद्‌देश्य करके श्वेत का विधान करने पर उद्‌देश्य शक्कर के विषय मे हमने कुछ भी कथन नहीं किया। और यदि उद्‌देश्य को ही विधेय मे कहा जाय तब भी कुछ नहीं कहा जायेगा। इस प्रकार उभयत पाश है। ब्रैडले के शब्दो मे "यदि उद्‌देश्य का विधेय उससे भिन्न रखा जाय तो उद्‌देश्य को ऐसा बताया जाएगा जैसा वस्तुत नहीं है। इसके विपरीत यदि विधेय उद्‌देश्य से अभिन्न हो तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि उद्‌देश्य के विषय मे कुछ कहा ही नहीं गया।"[६२]

ब्रैडले के अनुसार विश्व मे सभी वस्तुए किसी न किसी रूप मे सम्बन्धो से युक्त हैं, और सम्बन्धित वस्तुओ का स्वरूप वह नहीं होता जो कि सम्बन्धावस्था मे प्रतीत होता है। उन वस्तुओ का स्वरूप सम्बन्धो से परे परमसत् है। वह परमसत् सम्बन्धातीत है। फिर भी इन वस्तुओ का वही स्वरूप है।

ब्रैडले का कहना है कि– सत्य अन्तर्वस्तु के रूप मे किसी उद्‌देश्य के साथ ऐसे विधेय का आरोपण है, जिसका उसके साथ पूर्ण सामञ्जस्य है, और जो असगति को दूर करता है और साथ ही अस्थिरता को भी समाप्त करता है।"[६३] दूसरे शब्दो मे– किसी निर्णय के उद्‌देश्य और विधेय के पारस्परिक सामञ्जस्य को सत्य कहते हैं।

प्रश्न उठता है कि उद्‌देश्य और विधेय के पारस्परिक सामञ्जस्य को ही सत्य कहते हैं। किन्तु उद्‌देश्य और विधेय का जो यह सामञ्जस्य है, क्या यह कभी सम्भव है? ब्रैडले के अनुसार उन दोनों के बीच पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित करना असम्भव है। इसके प्रमुख रूप से दो कारण हैं–

(१) किसी निर्णय के विधेयों की सख्या कितनी ही अधिक बढा दी जाय, वे उद्‌देश्य के बराबर कभी नहीं हो सकते।

(२) यदि तर्क के लिए मान भी लिया जाय कि विधेयों की संख्या इतनी बढा दी गई है कि वे उद्‌देश्य मे निहित विशेषताओं के बराबर हो गई हैं तो भी उद्‌देश्य और विधेय के स्वभाव में पर्याप्त अन्तर होगा क्योंकि उद्‌देश्य एक वास्तविक अस्तित्व है, पर विधेय प्रत्यय मात्र है। "अतः सत्य हमें केवल विच्छेदन ही दर्शाता है, वास्तविक जीवन नहीं। उसका विधेय उसके उद्‌देश्य के समान कदापि नहीं हो सकता।"[६४]

ब्रैडले अपनी बात के समर्थन मे पुन· कहते है कि सत्य की कल्पना विचारो की परिधि के भीतर ही की जा सकती है। जहाँ विचार होगा वहीं सत्य या असत्य का प्रश्न उपस्थित होगा। किन्तु दोनो के स्वभाव मे इतना अधिक अन्तर है कि विचार के द्वारा सत्य की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। विचार सदा तत् और किम् के द्वैत से प्रारम्भ होता है। जब तक यह द्वैत बना रहेगा, सत्य की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। जब यह द्वैत समाप्त हो जायेगा तो सत्य की प्राप्ति हो जायेगी, यह विचार सदा के लिए समाप्त हो जाएगा।

ब्रैडले का कहना है कि विचार का लोप ही विचार की पूर्ण अवस्था है। जब तत् और किम् अथवा उद्‌देश्य एवम् विधेय के बीच पूर्ण तादात्म्य स्थापित हो जाता है तो विचार अपने उद्‌देश्य की प्राप्ति कर लेता है। यह निर्विकल्प अनुभूति की अवस्था है, जहाँ ज्ञाताज्ञेय का द्वैत समाप्त हो जाता है। "निरपेक्ष तत्व दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को नहीं देखना चाहता और न गिलहरी की तरह किसी पिजडे मे अपनी पूर्णता के वृत्त की परिक्रमा ही करना चाहता है।"[६५]

भ्रम (Error)

प्रश्न है कि तत्व एक है और वह सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है, वह सत्यम्, शिवम् एव सुन्दरम् भी है। ऐसी स्थिति मे उसके भीतर भ्रम, अशुभ, देश, काल, परिणाम और परिवर्तन का क्या स्थान हो सकता है? वे चीजें निरपेक्ष तत्व के भीतर तो हो नहीं सकतीं क्योकि निरपेक्ष तत्व सामञ्जस्यपूर्ण है और भ्रम, अशुभ इत्यादि असामञ्जस्यपूर्ण हैं। इसी प्रकार वे निरपेक्ष तत्व के बाहर भी नहीं हो सकती, क्योकि उसके बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। यह हमारे लिए एक बहुत बडी समस्या है। इस समस्या का समाधान करने के पूर्व इससे सम्बन्धित कुछ अन्य कठिनाइयों के प्रति भी ब्रैडले हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं।

(१) प्रथम कठिनाई यह है कि तत्व मे भ्रम, अशुभ इत्यादि कैसे (how) और क्यों (why) पाए जाते हैं, इसका समुचित ज्ञान हमे नहीं हो सकता। इनकी उत्पत्ति और अवस्था का ज्ञान हमें कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति में सीमित सत्ता असीम को दृष्टि प्राप्त कर लेगी और इस प्रक्रिया में सीमित सत्ता का पूर्ण परिवर्तन या रूपान्तरण हो जाएगा, और वह नष्ट हो जायगी।[६६]

(२) भ्रम के सम्बन्ध मे दूसरी कठिनाई हमारे समक्ष उपस्थित होती है वह यह है कि भ्रम अस्तित्ववान वस्तु है या अनस्तित्ववान वस्तु? तात्विक दृष्टि से या तो संसार में किसी वस्तु का अस्तित्व होगा या उसका अस्तित्व नहीं होगा। भ्रम एक ऐसी वस्तु है जो न तो अस्तित्ववान है और न अनस्तित्ववान ही।

भ्रम के विश्लेषण (Analysis) करते हुए ब्रैडले का कहना है कि "भ्रम एक आभास है।" "आभास को वह एक अन्तर्वस्तु कहते हैं, जिसकी उसके अस्तित्व के साथ एकता नहीं पाई जाती।" अन्य प्रकार का आभास हमको वहॉ भी दिखायी पडता है, जहॉ किसी विज्ञान (Idea) को प्रत्यक्ष से न लेकर स्मृति से ग्रहण करते हैं। स्मृति से प्राप्त विधेय किसी उद्देश्य की विशेषता प्रगट नहीं कर सकता।

ब्रैडले प्रतीयमान वस्तुओं को आभास सिद्ध करता है, और कहता है कि "सम्बन्ध–गुण–विशिष्ट सत् वास्तविक सत् नहीं है, अपितु आभास है।"[६७] सम्बन्धो के बिना गुण नहीं पाये जाते, गुणो के बिना सम्बन्धो का अस्तित्व नहीं मिलता। इस प्रकार सभी निर्भरशील हैं, अत स्वसत्ता से रहित, मात्र प्रातीतिक हैं। ब्रैडले बाह्य वस्तुओ को विचार की दृष्टि से सत्ता से च्युत करके आन्तर वस्तु आत्मा (Ego) को भी प्रतीयमान कहते हैं। शरीर और आत्मा दोनो ही ब्रैडले के अनुसार आभास हैं।[६८] आत्मा को जिस रूप मे जानते हैं वह सम्बन्धो से विशिष्ट आत्मा है। सम्बन्धों से विशिष्ट वस्तु स्वयं सत्तावान नहीं होते, अतः इस कारण आत्मा भी आभास है। लेकिन वेदान्तियों का यहाँ पर मानना है कि शरीर इन्द्रिय मनोयुक्त तथाकथित सम्बन्धित आत्मा वस्तुत. अध्यस्त है। अध्यस्त आत्मा मिथ्या है।[६९] स्वरूप आत्मा शरीरेन्द्रियान्त करण धर्मो से परे है जो कि ब्रह्मरूप है । जहॉ तक अह की आत्मा होने की बात है वह विशुद्ध चेतनाश मे आत्मा या विशुद्ध चेतन है, किन्तु अहन्ताश अध्यस्त एवं मिथ्या है। इस सम्बन्ध मे वाचस्पति मिश्र का कहना है कि "कारणसत्व कार्यस्य सत्ता न ततोऽन्या।"[७०] इसी प्रकार ब्रैडले के अनुसार भी सत् की सत्ता के बिना आभास की सत्ता सम्भव नहीं। आभास के विषय मे अस्ति का कथन भी सत् के कारण ही सम्भव है। सत् आभास नहीं, किन्तु सत् के बाहर आभास नहीं है। सत् एक होकर सर्वज्ञ अनुस्यूत है, अत नानात्व को अपने में आत्मसात् किया हुआ है। आचार्य शंकर और बौद्ध दर्शन दोनों मे अध्यास या अज्ञान को या माया को लेकर अपने–अपने मत प्रस्तुत किये हैं।

'आत्मैकत्व विज्ञान' शांकर दर्शन की मूल प्रतिष्ठा है, और वह आधारित है, उपनिषदों के गम्भीर प्रज्ञानों में जहाँ से शंकर ने उसे लिया है। 'ज्ञानस्य ह्येषा पराकाष्ठा यदात्मैकत्व विज्ञानम्' (ज्ञान की यह परम काष्ठा है, यह जो कि आत्मा की पूरी व्याख्या कर देता है)। 'आत्मैकत्व विज्ञान' से ही सम्बन्धित समस्या है, 'माया' की, जो हमें व्यथित करने के लिए उपस्थित है। आचार्य शंकर ने 'माया' का आश्रय, अपने दर्शन में निर्गुणब्रह्म जगत् का कारण है, किन्तु उस निर्गुण, निर्विशेष तत्व में से यह गुणमय, प्रपञ्चमय जगत् किस प्रकार से उत्पन्न

हुआ है, इसी समस्या के हल के लिए लिया है। माया के कारण ही निर्गुण और अखण्ड ब्रह्म नामरूपात्मक जगत् के रूप मे परिवर्तित सा प्रतीत होता है। भेद सभी कल्पित है। एक ही ब्रह्म की सत्ता हमे खण्ड–खण्ड होकर दीखती है, और वह माया के कारण। माया न सत् है, और न असत्। वह अनिर्वचनीय है। माया मे दो शक्तियॉ है, आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति के कारण माया आत्मा के वास्तविक स्वरूप को ढक लेती है, और दूसरी शक्ति के आधार पर वह जगत् के पदार्थो की सृष्टि करती है (अनिवर्चनीयरूप से)। इस तथ्य को '**संक्षेप शारीरिक**' मे निम्न प्रकार से कहा गया है–

आच्छाद्य विक्षिपति सस्फुरदात्मरूपम्
जीवेश्वरत्वजगदाकृतिभिर्मृषैव।
अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगात्
आत्मत्वमात्रविषयाश्रयता बलेन।।

मायावाद के प्रश्न को लेकर शून्यवादियो और विज्ञानवादियों के मध्य एक विवाद खडा हो जाता है। 'लंकावतारसूत्र' में विज्ञानवादी सर्वशून्यवादी को सम्बोधित करके कहता है:– 'सर्व जगत् मायात्मकतया स्वभावशून्यमुपगत माध्यमिकवादिभिः तदा मायास्वभावसवृतिग्राहिणी बुद्धिरपि भवतां नास्ति बाह्यवत्। तथा च माया केनोपलभ्यते ग्राहकवस्तु सज् ज्ञानमन्तरेण। यस्य तु विज्ञानमेव परमार्थसत् ग्राह्यरूपतया भ्रान्त तथा प्रतिभासते न तस्याय दोष.'। अर्थात् बाह्यार्थशून्यवादी सर्वशून्यवादी पर यह आक्षेप करता है कि माध्यमिक सब जगत् को मायात्मक और स्वभावशून्य कहते हैं, किन्तु जिस प्रकर वे बाह्य पदार्थो का अपलाप करते हैं, उसी प्रकार वे बुद्धि की भी सत्ता स्वीकार नहीं करते जो भी उनके लिए माया या अज्ञान स्वरूप ही है, तो फिर जब ग्राहक वस्तु रूप सत् बुद्धि है ही नहीं, तो फिर वे माया का ग्रहण ही किससे करते हैं? किन्तु वे, जो परमार्थ ज्ञान विज्ञान को ही मानते हैं, जो सत् है, उनके लिए तो ग्राह्य रूप जगत् भ्रान्ति के सदृश ही भासता है, जो ठीक है। माध्यमिक की आपत्ति है कि जब माया ही नहीं है, तब भ्रान्ति ही किसके द्वारा ग्रहण की जा सकती है?– '**यदान्त भ्रान्तिरप्यस्ति माया केनोपलभ्यते**।' जब वे हाथी इत्यादि बाह्य पदार्थो को ही नहीं मानते और विज्ञानमात्र की ही सत्यता स्वीकार करते हैं तो बाहर का तो पदार्थ उनके लिए कहीं है ही नहीं, तो फिर आभास क्या करता है? 'यदा मायैव ते नास्ति तदा किमुपलभ्यते'। दृश्य तो विज्ञानवादियों के यहाँ है ही नहीं, विज्ञान ही इनके लिए ग्राह्य है और विज्ञान ही ग्राहक। वेद से व्यतिरिक्त सभी वेद्य माया है, तो किसी किससे प्रतीति तुम करते हो? चित्त तो चित्त को नहीं देख सकता और चित्त भी

जब माया है, तब कौन किसको ग्रहण करेगा? 'चित्तमेव यदा माया तदा किं केन गृह्यते। उक्तञ्च लोकनाथेन चित्त चित्त न पश्यति'।। इससे यही तात्पर्य निकाला जा सकता है कि माया या भ्रम शकर के ५००–६०० वर्ष पूर्व मे ही प्रचलित था, और विज्ञानवादी एव शून्यवादी दोनो ने ही इस भ्रम को अपने–अपने तरीके से स्वीकार किया था। लेकिन आचार्य शकर के माया और बौद्धों के माया या भ्रम में वही साम्यता नहीं दिखायी पडती है। विज्ञानवादी बौद्धों के लिए बाह्य धर्मो के मायामयत्व का अभ्युपगम नास्तितासाधर्म्य के कारण है, और माध्यमिक शून्यवादियों का है, सबके ही दृष्ट–नष्ट–स्वरूप होने के कारण, परन्तु शकर का मत है कि सत् और असत् से अनिवर्चनीय होने के कारण ही माया या भ्रम होता है।

उपरोक्त मत के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बौद्धो और शांकर वेदान्त के मतो मे अज्ञान या माया या भ्रम के सिद्धान्त को लेकर काफी समानता दिखाई पडती है। ब्रैडले भी इसी मत के ही समान यह मानते हैं कि सत् के बिना आभास सम्भव नहीं।[७१] आभास की जब सत्ता है ही नहीं तब वह बिना सत् के किसका आभास होगा? अत· सत् की सत्ता ही आभास की सत्ता है। आभास सत् की सत्ता से सत्तावान हैं, इसलिए कहा जा सकता है कि जो कुछ भी है, सभी सत्य है। आभास सत् की सत्ता से सत्तावान हैं, इसलिए यह कहा जा सकता है कि जो कुछ भी है, सभी सत्य है।

बौद्ध दार्शनिक अध्यास या भ्रम को समझाते हुए कहते हैं कि मृगतृष्णिका आदि भी बिना किसी आधार के नहीं होते 'न हि मृगतृष्णिकादयोऽपिनिरास्पदा भवन्ति'। रज्जु मे यदि सर्प की भ्रान्ति करनी है, तो सर्प पहले होना (सत्) ही चाहिए। 'रज्जवात्मना अवबोधात् प्राक् सर्प· सन्नेव भवति' (वृहदारण्यकभाष्य, १/६)। असत् शशविषाण की कहीं उत्पत्ति नहीं देखी गई। 'असतः शशविषादे समुत्पत्यदर्शनात्, (तैत्तिरीय भाष्य, २/६)। इस प्रकार आचार्य शंकर ने अनेक तर्को के द्वारा यह दिखाया है कि नामरूपात्मक जगत् अविद्याा से प्रत्युपस्थापित है, अविद्या कल्पित है, किन्तु बौद्धों के परमार्थ रूप निर्विकल्प ब्रह्म मे कोई विकल्प उत्पन्न नहीं होता है। कुमारिल ने 'सत्य–द्वय–कल्पना' का बडा तीव्र प्रत्याख्यान किया है और उसी के आधार पर 'सर्व ज्ञानजात यथार्थम्' इस प्रकार कहकर आचार्य रामानुज ने किया है। जो तर्क कुमारिल ने बौद्धों के खिलाफ उठाए हैं, वहीं तर्क रामानुज ने आचार्य शंकर के विरुद्ध प्रयुक्त किये हैं। इसलिए कुमारिल और रामानुज के तर्क देख लेने के पश्चात् इस सम्बन्ध में मुझे जरा सा भी सन्देह नहीं रह जाता है कि इस सत्य–द्वय के सिद्धान्त के सम्बन्ध में शंकर बौद्धों के ऋणी हैं। शंकर

ने व्यवहार और परमार्थ सत्यो का बहुत व्यापक प्रयोग किया है, और उन सबकी समता हम प्राय माध्यमिको के दर्शन मे पाते हैं।

इसके उत्तर मे ब्रैडले का मानना है कि हमारी बुद्धि मे प्रतीयमान वस्तुओ को आभास की संज्ञा दी गयी है। सत् एक है, अत नानात्व आभास है। इनके अनुसार सत् निरंशी है, अत. जो भी अशी या नाना है, वह आभास है। ब्रैडले के अनुसार भी सत् एकमेवाद्वितीय है। इसी के कारण सद्तिरिक्त वस्तुऍ आभास हैं। इसी प्रकार अद्वैत भी सत् ब्रह्म व्यतिरिक्तत्वेन सर्व मिथ्या है। ब्रैडले के अनुसार सत् का मापदण्ड "अविरोध" है और आभास का मापदण्ड विरोध है। सत् कभी भी सत्ता से पृथक नहीं हो सकता। सत् होकर सत्ता से पृथक् होना "विरोध" माना जायेगा। जिसमे इस प्रकार की बातें हों वह आभास होगा न कि सत्। बौद्धों के अनुसार अबाधित होना ही सत् का मापदण्ड है। जो बाधित होता है वह सत् न होकर मिथ्या होता है। जो ज्ञान आदि मे भी नहीं था। अन्त में भी न होगा वह सत् नहीं कहा जा सकता, क्योकि उत्पत्ति विनाशशील वस्तुएँ अबाधित नहीं हो सकतीं। उत्पत्ति से पूर्व भी जिसकी सत्ता नहीं और विनाश के बाद भी जिसकी सत्ता नहीं, वह अबाध्य नहीं रहा। ब्रैडले के अनुसार वह स्वव्याघाती हुआ, क्योंकि कोई भी वस्तु अपनी स्वसत्ता को जब छोड देती है, तब वह सत्ताहीन हो जाती है। यदि वह स्वसत्ता से युक्त होती तो उसकी सत्ता उससे अलग नहीं की जा सकती है। उसकी सत्ता सत् से प्राप्त होने के कारण किसी भी समय वह सत्ताहीन हो जाती है, अत वह वस्तु आभास है। एक ही वस्तु घर में भाव अभावादि विरोधी बाते हैं, अतः व्याघातपूर्ण हैं। आज घट है, कल नष्ट होने पर नहीं रहेगा, उत्पत्ति के पूर्व ही घट नहीं होता, इस कारण अर्थात् भावाभावादि विरोधी बातो के कारण ही घट अद्वैत के अनुसार मिथ्या है। इस देश मे घट है, अन्य देश में नहीं है, इस प्रकार भावभाव दैशिक दृष्टि से भी घट में हैं, अत घट सत्ताव्याभिचारी है। परिच्छिन्न हेतु से जो मिथ्यात्व या मिथ्याज्ञान सिद्ध किया गया है, उसका भी तात्पर्य यही है। ब्रैडले के अनुसार वस्तुओं में सत्ता होने पर वह आशिक सत्ता है, क्योकि वस्तुऍ नाना रूप से सत् नहीं हो सकतीं। सत् निरपेक्ष होता है, अर्थात् सत्ता के लिए, ज्ञान के लिए निरपेक्ष है, किन्तु वस्तुएँ सत्ता और ज्ञान के लिए सापेक्ष हैं, अतः सापेक्षतया भी वे आभास हैं।

ब्रैडले ने आभास का मापदण्ड विरोध या व्याघात को व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है, क्योकि जहॉ पर भी सम्बन्धादि की सिद्धि तार्किक विश्लेषण द्वारा नहीं कर पाये, ब्रैडले ने वहीं पर विरोध करके उसे आभास कह दिया है। ब्रैडले ने प्रतीयमान वस्तुओं को आभास अवश्य

कहा है, किन्तु उन्हे वह असत् नहीं कहता है। वस्तुएँ आभास है– का अर्थ सापेक्ष सत् है न कि निरपेक्ष सत्। यद्यपि सत्–वस्तु एक ही है, फिर भी आभास बिना सत्ता के सम्भव न होने के कारण सापेक्ष सत् है। सभी मिथ्या हैं, फिर भी अशत· सत्य है। इस प्रकार सभी प्रतीयमान वस्तुओ मे कुछ सत्ता अवश्य होती है।[७२] व्यावहारिक दृष्टि से तो ब्रैडले आभास को भी सत्य मानते हैं। यद्यपि सभी प्रतीयमान वस्तुओ को आभास कहा गया है, फिर भी व्यवहार मे सत्य मिथ्या का अन्तर है। व्यावहारिक दृष्टि से प्रतीयमान वस्तुएँ सभी सत्य हैं। [७३] ब्रैडले आभास को अद्वैत वेदान्त के मिथ्या के समान ही एक सार्वभौम व्यावहारिक सत्य मानते हैं। जहॉ पर ज्ञान के अनुकूल वस्तुए नहीं प्राप्त होती वहीं भ्रम है। प्रतीयमान जागतिक वस्तु विषयक भ्रम उक्त भ्रम से भिन्न है। प्रातीतिक वस्तुएँ सापेक्ष सत् हैं। हमारे दैनिक व्यवहार मे ये वस्तुएँ मिथ्या नहीं हैं। सापेक्ष सत्य के बिना हमारा जीवन नहीं चल सकता है। प्रातीतिक ज्ञानो में जो ज्ञान सफल प्रवृत्तिजनक न हो वह भ्रम है। जैसे, सीपी में चॉदी को देखने पर, लेने के लिए प्रवृत्त होने पर, वहॉ चाँदी मिलती नहीं, इस कारण वह भ्रमज्ञान है। भ्रमज्ञान का विषय भी भ्रम है। किन्तु पुस्तक को देखने पर पुस्तक लेने की प्रवृत्ति दशा में पुस्तक की प्राप्ति होती है।, अत पुस्तक का ज्ञान सत्यज्ञान है। इस प्रकार ब्रैडले ने भी व्यवहार मे सत्य मिथ्या का विभाजन किया है।

व्यवहार और परमार्थ या सवृत्ति और परमार्थ सत्य के सिद्धान्त के विषय मे आचार्य शकर एव बौद्ध आचार्यो के बीच दो मत नहीं हैं। कुमारिल ने 'सत्य–द्वय–कल्पना' का बड़ा तीव्र प्रत्याख्यान किया है, और उसी के आधार पर 'सर्वज्ञानजातयथार्थम्' इस प्रकार कह कर आचार्य रामानुज ने किया है। जो तर्क कुमारिल ने बौद्धो के खिलाफ उठाए हैं, वही तर्क रामानुज ने शकर के विरुद्ध प्रयुक्त किए हैं। भंगवान शकर ने व्यवहार और परमार्थ सत्यों का बडा व्यापक प्रयोग किया है और उन सबकी समता हम प्राय माध्यमिकों में पाते हैं।

महायानिको ने संवृत्ति को अविद्या कहा था और उसे आवरण करने वाली बताया था, 'अभूत ज्ञापयर्त्थ भूत अवृत्य वर्तते। अवद्यिा जायमानेव कामलातंक वृत्त्वित्'। इस प्रकार माहायानिक बडी चतुरता से 'अज्ञान' के दोनो काम अर्थात् 'आवरण' और 'विक्षेप' निकाल देती है। इसके पश्चात् आचार्य शंकर भी कहते हैं 'अविद्यया अन्यत् वस्त्वन्तरमिव पश्यति' (प्रश्न–भाष्य ४/५)।

इस प्रकार ब्रैडले के ही समान आचार्य बौद्ध ने इस तथ्य को उसी रूप में तो नहीं लेकिन इसके सदृश भाव को अवश्य ही प्रकट किया है।

अस्तित्ववाद

समकालीन दर्शन में अस्तित्ववादी दर्शन ने महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। अस्तित्ववादी दार्शनिक परम्परावादी दर्शन के विरोधी हैं। वे अपने को वस्तुवादी या प्रत्ययवादी नहीं कहलाना चाहते। अस्तित्ववादी दर्शन धार्मिक, नैतिक एवं मानवतावाद का मिश्रित दर्शन है। अस्तित्ववाद ने मानव अस्तित्व को अपने दर्शन का केन्द्रबिन्दु बनाया है। बौद्ध दार्शनिकों के समान सभी अस्तित्ववादी दार्शनिक विषय–विषयी के सम्बन्ध पर विचार करते हैं। अस्तित्ववादी दार्शनिक विषय–विषयी के सम्बन्ध को मिथ्या या भ्रम तो नहीं कहते हैं, किन्तु विषय के साथ सम्बन्धित विषयी के अस्तित्व को विशुद्ध विषयी–अस्तित्व नहीं मानते। सार्त्र ने विषयी चेतना को 'पोरसोई' और अन्य वस्तुओ को अर्थात् विषय को 'एनसोई' कहा है। 'पोरसोई', और अन्य वस्तुओ को अर्थात, विषय को 'एनसोई' कहा है। 'पोरसोई' अपने लिए सत्ता, अपने मे शून्यरूप है अर्थात विषय के बिना 'पोरसोई' का विशेष रूप नहीं है। बौद्धो ने सवृत्ति को अविद्या कहा है तथा उसे आवरण करने वाला बताया है। उसके अनुसार संवृत्ति अर्थात् व्यावहारिक सत्य से पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति होती है।

जैस्पर्स के ऊपर काण्ट का प्रभाव दिखायी पडता है। जैसे स्पर्स काण्ट के ही समान कहता है कि वस्तु अपने मे (Being-in-itself) न विषयी है, न विषय है, वह विषय–विषयी से परे है।[७४] विश्व का ज्ञान हमें हमारी बौद्धिक प्रक्रियाओ से प्राप्त होता है। वस्तुओं को हम वस्तु स्वरूप मे नहीं जान सकते। हम जो कुछ भी जानते हैं 'Form and Categories' के माध्यम से जानते हैं, अत हमे आभास का ही ज्ञान हो सकता है– अर्थात् जैस्पर्स के अनुसार अद्वैत के ही समान जगत् की वस्तुए ज्ञान का विषय होने से प्रातीतिक हैं। प्रातीतिक वस्तुए किसी सत् की ओर सकेत करती हैं। इस प्रकार जैस्पर्स विषय के सम्पर्क में स्थिति अस्तित्व को डॉसेन कहता है। अर्थात् विषयनिष्ठ अस्तित्व या वस्तुओं की सत्ता वस्तुत सम्बन्धों मे आयी हुई सत्ता है। जैस्पर्स के अनुसार वास्तविक सत्ता विषय–विषयी से परे है, और जो वस्तुएँ प्रतीत होती हैं उन्हे वे पूर्ण सत्य नहीं मानते हैं।

ह्वाइडेगर के अनुसार दर्शन का काम 'अस्ति' का विश्लेषण करना है। ह्वाइडेगर के अनुसार मानव अस्तित्व 'डासेन' है। 'डासेन' विषय के सम्पर्क मे आया हुआ विषयी–अस्तित्व है। यह विशुद्ध सत्रूप नहीं है, क्योंकि डासेन का अर्थ ही विषय वस्तुओ से सम्बन्धित सत्ता है।[७५] बौद्धो के मत मे दृश्य दृक् अध्यस्त है। विषय सम्पर्क में आया हुआ दृक् द्रष्टा बनता है तो उसका द्रष्टव्य आध्यस्त होता है, विशुद्ध चेतनांश सत् होता है।

अस्तित्ववादी दार्शनिक मानवअस्तित्व को विशुद्ध रूप से जानने के लिए जगत् की व्याख्या विषयी–चेतना के प्रसग मे करते हैं। अस्तित्ववाद जगत् की सत्ता के विचार पर उतना बल न देकर मानवअस्तित्व पर अधिक बल देता है। अस्तित्ववादी दार्शनिक समस्त सत्ताओ के आदि और अन्त 'नथिंगनेस' मे मानते हैं। नथिगनेस ही एक निश्चित स्थिति है, जिसका कि सामना करना है। इनके

अनुसार मानवअस्तित्व के अतिरिक्त जगत् की वस्तुओ का स्वरूपनिर्धारण सम्भव नहीं।

पाद-टिप्पणी

1 Greek Philosophy, Stace- P 186 (Macmillan, New York, 1964)
2 वही पृ० १८८।
3 न्यायमकरन्द, पृ० ११।
4 History of Western Philosophy, Bertrand Russell P 135
5 History of Greek Philosophy, Stace- Page, 194
6 History of Greek Philosophy, Zeller- P. 130,131 (New York, 1901)
7 History of Greek Philosophy- Stace, 191
8 They are, therefore, half way between being and not being They are half real, History of Greek Philosophy- Stace, p 191
9 If appearance really appears it is not nothing, and is therefore part of reality, - History of Western Philosophy, p 143.
10 By Substance, I understand that which is in itself and is conceived through itself, The Philosophy of Spinoza, p 122
11 By attribute, I understand that which the intellect perceives of substance as constituting its essence The Philosophy of Spinoza, p. 122.
12 History of Philosophy- Hegel- P 270 (Vol. III), London, 1895.
13 The History of Philosophy- Vol II, P. 59-60 (Ueberrwerg , London)
14 Spinoza maintains that there is no such thing as what is known as the world, it is merely on form of God, and in and for itself it is nothing History of Philosophy- Hegel- P. 281.
15 History of Philosophy- Hegel p 286
16 न्यायमकरन्द, पृ० ११
17 केचितु ज्ञानाकारस्यैव बहिरवभासो विभ्रम इत्याहु। न्यायमकरन्द, पृ० ११
18 Being is to be perceived or Known- Selections from Berkeley- P 36, Fifth Ed
19 Selections from Berkeley- P 40
20 Selections from Berkeley, p 43
21 Selections from Berkeley- P 46
22. Selections from Berkeley- P 34
23 The Idealist Tradition- P. 31- A.C Euing, (New York, 1956).
24 The Idealist Tradition p. 34.
25 The absolute existence of unthinking things are words without a meaning or which include a contradiction (The Idealist Tradition P 36.
26. Selections from Berkeley, P. 123

27 They exist in the mind, Ibid- p 55

28 The Idealist Tradition, P 31

29 दोषप्रयुक्तत्वनिबन्धस्य ज्ञातैकसत्वस्याज्ञात सत्वाभावस्य वा। (अद्वैत सिद्धि–पृ० ५३३)

30 इष्टसिद्धि– पृ० २ तथा ३।

31. A History of Philosophy- F Thilly- P 373 (Revised Ed , Allahabad, 1951)

32 'इह कार्यकारणभावेचतुर्धा विप्रतिपत्ति प्रसरति। असत सज्जायते इति सौगता सगिरन्ते। नैयायिकादयस्तु सतोऽसज्जायत इति। वेदान्तिन सतो विवर्त, कार्यजात न तु वस्तुसदिति। साख्या पुन सत सज्जायत इति'। 'सर्वदर्शनसग्रह'।

33 History of Philosophy, Vol II, P 134 (Ueberwerg (Ved, London)

34 Thus we have no absolute, Self-evident or certain knowledge of matters of facts, our knowledge never reaches absolute certainty. 'A History of Philosophy'- Thilly- P 374.

35 The Idea of substance is meaningless, whether applied to matter or to mind A History of Philosophy- Thilly, p 375

36 Critique of Pure Reason, p. 152

37 Kant's Metaphysic of Experience. p. 223, Vol II

38 Kant's Metaphysic of Experience, p 62, Vol I
(H J. Paton, London & New York, III Ed , 1961)

39. Ibid

40 Critique of Pure Reason- P 193- N K. Smith (Machmillan, 1952)

41 Kant's Metaphysic of Experience, P 415, Vol II

42. Ibid P. 70, Vol I

43 Critique of Pure Reason- P 182, 183, 184

44 Kant's Metaphysic of Experience, P 74, Vol I

45 Critique of Pure Reason- P 156

46 Kant's Metaphysic of Experience, p 65-66, Vol I

47 अद्वैतसिद्धि– पृ २३६।

48 वही, पृ० २३६ तथा २४२

49 अन्येतु अत्यन्तमसन्तमर्थमवभासयन्ती सविदेव विभ्रम इत्याचक्षते। न्यायमकरन्द, पृ १०२

50 Kant's Metaphysic of Experience- P. 416, Vol II

51 पचपादिका विवरण– २३५, २४४, २४५, (मद्रास १९५८)

52 त्रिविध सत्व –परमार्थ सत्व ब्रह्मण, अर्थक्रिया सामर्थ्यसत्व मायोपाधिकमाकाशादे, अविद्योपाधिकसत्व रजतादे। पचपादिका– विवरण– पृ० १६५ (मद्रास, १९५८)

53 महायान सूत्रालकार–११/३६, ४०, ४१, बौद्ध दर्शन मीमासा २५० मे उद्धृत, बलदेव उपाध्याय चौखम्बा, १९५४।

54 Kant's Metaphysic of Experience- P 417, Vol II

55 Kant's Metaphysics of Experience- P 70, Vol I

56 Critique of Pure Reason, p 193

57 Ultimate reality is such that it does not contradict itself
Appearance and Reality- P 120, Bradley (9th Ed)

58 Ibid- p 165

59. Ibid- P 10

60 Appearance and Reality- P 15

61 Ibid- P. 16

62. Ibid- P. 17

63 अभास और सत्, पृ० १४५, "Truth is the predication of such content as, when predicated, is harmonious and removes inconsistency and with it unrest"

64 अभास और सत्, पृ० १४७, "Hence, truth shows a dissection and never an actual life Its predicate can never be equivalent to its subject"

65 अभास और सत्, पृ० १५२, "The absolute does not want to make eyes at itself in a mirror, or like a squirrel in a cage, to revolve the circle of its perfections"

66 अभास और सत्, पृ० १६३, "That would imply an understanding of the whole not practicable for a mere part It would a view by the finite from the Absolute's point of view, and in that consummation the finite would have been transmted and destroyed "

67 The reality so characterized, is not true reality, but is appearance, Appearance and Reality- P 21

68 That neither body nor soul can be more than Appearance Appearance and Reality- P 262

69 पचपादिका–पृ० ३२।

70 भामती, पृ० ४४६।

71 Appearance without reality would be impossible
Appearance and Reality- p. 432

72 Everything Phenomenal is somehow real
Appearance and Reality- P 127

73 From the relative point of view a truth is wholly true The chief currents of Contemporary Philosophy- Datta- P 74.

74 Existentialism and Indian thought, p 32

75 Ibid- p. 88.

षष्ठ अध्याय

समालोचनात्मक निष्कर्ष

षष्ठ अध्याय

समालोचनात्मक निष्कर्ष

अपने शोध–विषय "बौद्ध दर्शन के भ्रम–सिद्धान्त की समीक्षा" के अन्तर्गत भ्रम की समस्या को समझने के पूर्व हमने यथार्थ ज्ञान क्या है? इस विषय पर अपना दृष्टिकोण डाला है। सम्यग्ज्ञान ही सिद्ध ज्ञान, अर्थात् ऐसा ज्ञान होता है, जिसके बाद अध्यवसाय या निश्चय आता है, और उसके भी बाद पुरूषार्थसिद्धि। वह ज्ञान जो भ्रमित कर देता है, जो चेतन प्राणियो के लिए उनकी आकाक्षाओ और इच्छाओ का वचक होता है, मिथ्या या भ्रमात्मक ज्ञान है। सशय और विपर्यय सम्यग्ज्ञान या यथार्थ ज्ञान के विरुद्धधर्मी ज्ञान हैं। सशय, पुन दो प्रकार का होता है। यह या तो पूर्ण सशय होता है जो सर्वथा अ–ज्ञान होता है, क्योंकि इसमे कोई भी अध्यवसाय या निश्चय सम्मिलित नहीं होता। परन्तु जब अर्थसशय या अनर्थसंशय होता है, तब इसके बाद उसी प्रकार निश्चय और पुरुषार्थ आते है, जिस प्रकार से सम्यग्ज्ञान से पूर्व। आचार्य धर्मकीर्ति के अनुसार बौद्ध के विज्ञान सिद्धान्त का पर्याप्त महत्व है, क्योकि जिसे अह या आत्मा कहा गया है, उसे उसी सवेगात्मक अश से युक्त माना गया है। यह हमारे समस्त ज्ञान, प्रत्यक्ष विकल्पो, धारणाओ, निश्चय, तथा अनुमान के स्रोतो का अनुसन्धान करता है, और इसमे परार्थानुमान एव हेत्वाभासो के विस्तृत सिद्धान्त भी आ जाते हैं।

बौद्ध–दर्शन मे ज्ञान के स्रोत को तीन प्रमुख भागो मे विभक्त किया है, जो कि क्रमश ज्ञान की उत्पत्ति, उसके रूप और उसकी वाचिक अभिव्यक्ति से सम्बद्ध है। इन तीन प्रमुख विषयो को इन्द्रिय–प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान कहा गया है, किन्तु ये हमारे बाह्यार्थ के आदि–स्रोत के रूप में प्रत्यक्ष का, इस ज्ञान के रूप को उत्पन्न करने वाले स्रोत के रूप मे बुद्धि का, और विज्ञानात्मक पद्धति की पूर्ण वाचिक अभिव्यक्ति के रूप मे परार्थानुमान का भी वर्णन करना अपेक्षित है। इस प्रकार हमने इसके अन्तर्गत ज्ञानमीमांसा का वर्णन करना अपेक्षित समझा है। बौद्ध–दर्शन के भ्रम–विचार के सम्बन्ध में समीक्षा करने के पूर्व हमने प्रथमतः यह जानने का प्रयास किया है कि किस स्थिति में कोई ज्ञान भ्रम के रूप में हमें दिखायी पड़ता है।

बौद्धो के अनुसार अनुभव ही हमारे ज्ञान का प्रमुख स्रोत हैं, और इस विषय पर बौद्धों का मत यथार्थवादी–सम्प्रदायो के अनुरूप है, फिर भी दोनों के बीच 'अनुमान' की प्रकृति को

ग्रहण करने के विषय पर जो अन्तर है, वह बहुत अधिक है। भारतीय यथार्थवादी जैसे– मीमासक, वैशेषिक और नैयायिक के अनुसार, ज्ञान की क्रिया अपने विषय वस्तु से भिन्न होती है। जब एक लकडी काटने वाला वन मे एक वृक्ष को काट देता है, तो वह एक साधक, वृक्ष, पदार्थ, कुल्हाडी, उपकरण और कुल्हाडी का उठाना–गिरना प्रक्रियात्मक प्रणाली होती है। परिणाम इस तथ्य मे निहित होता है कि वृक्ष काट दिया गया। इन तत्वो मे दृष्येन्द्रिय प्रमुख है, यही बोध या विज्ञान का निर्धारण करती है, और इसे ही प्रत्यक्ष–ज्ञान का स्रोत कहा गया है। प्रत्यक्ष की दशा मे विषय के आकार या चित्र का प्रत्यक्ष बोध, अर्थात् विशदाभास होता है। अनुमान मे इसका लिग के माध्यम से परोक्ष अर्थात् अस्फुट या अमूर्त बोध होता है। यदि इसके परिणाम, जैसे धूम के प्रत्यक्ष द्वारा, इसकी उपस्थिति का अनुमान किया जाता है, तो इसका अनुमान के आधार पर प्रत्यक्ष बोध होता है। दोनो ही दशाओ मे एक ऐन्द्रिक और एक रचित कल्पनाचित्र होता है, किन्तु प्रथम दशा मे प्रत्यक्ष बोध की क्रिया का प्रामुख्य और कल्पनाचित्र स्पष्ट होता है, जबकि द्वितीय मे बोधक क्रिया का प्रामुख्य और कल्पनाचित्र अस्पष्ट और अमूर्त होता है। आचार्य दिङ्.नाग का मानना है कि ज्ञान प्राप्त करने के इन दो प्रमाणो या स्रोतो (प्रत्यक्ष, अनुमान) को या तो ये सामान्य लक्षण की श्रेणी मे रखते हैं, या तो स्वलक्षण की श्रेणी मे रखते हैं। आचार्य ने स्वलक्षण को इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय माना है, और सामान्य लक्षण को अनुमान का विषय माना है।

बौद्ध आचार्य दिङ्‌नाग ने प्रत्यक्ष के आधार पर उत्पन्न होने वाले भ्रम को प्रत्यक्षाभास कहा है, जैसे' भ्रान्ति, सवृति–सत्ज्ञान, अनुमानानुमानिक एव सतैमिर। (१) भ्रान्ति– यथा. मरु–मरीचिका मे जलादि की कल्पना, (२) सवृतिसत् ज्ञान– स्वलक्षण रूप परमार्थसत् में अर्थान्तर का आरोप कर उसके स्वरूप की कल्पना करना, (३) अनुमानानुमानिक ज्ञान– यथा, पूर्वदृष्ट मे एकत्व की कल्पना करने के लिगानुमेयादि का ज्ञान। स्मृतिज्ञान, शब्दज्ञान आदि का भी इसमे समावेश हो सकता है। (४) सतैमिर– कमलशील ने तिमिर शब्द को अज्ञान का पर्याय माना है तथा अज्ञान मे होने वाले विसवादक ज्ञान को सतैमिर कहा है। धर्मकीर्ति स्पष्टरूप से आश्रयोप्लव (इन्द्रियोपघात) से उत्पन्न ज्ञान को सतैमिर प्रत्यक्षाभास कहते हैं। दिङ्.नाग ने न्यायदर्शन के प्रत्यक्ष लक्षण मे स्थित अव्यभिचार पद को अनावश्यक सिद्ध किया है, क्योंकि इन्द्रिय एव अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान उनके मत में व्यभिचार रहित होता है। धर्मकीर्ति ने इन्द्रियज्ञान मे भ्रान्ति को बलपूर्वक सिद्ध किया है। इसी कारण से उन्होंने निर्विकल्पक के साथ प्रत्यक्ष का अभ्रान्त होना भी आवश्यक माना है।

बौद्ध दार्शनिको ने हेत्वाभास के द्वारा यह बताया है कि जो हेतु नही है, लेकिन हेतु के सदृश प्रतीत होता है, उसे हम हेत्वाभास कहते है। बौद्ध दार्शनिको ने त्रिरूप हेतु को सद्हेतु कहा है, इसलिए वे उन तीन रूपो मे से एक रूप का कथन न करने पर भी उसे हेत्वाभास माना है। अनुमान–प्रमाण मे जो महत्व हेतु का है, वही हेत्वाभास का भी है। हेत्वाभास से होने वाला अनुमान सम्यक् नहीं होता है। हेत्वाभास को न्यायदर्शन मे गौतम ने षोडश पदार्थो मे एक पदार्थ माना है, तथा सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरण सम, साध्यसम और कालातीत नाम से पॉच हेत्वाभासो का प्रतिपादन किया है। धर्मकीर्ति ने असिद्ध आदि हेत्वाभासो का निरूपण विस्तार से किया है। उनके अनुसार हेतु का पक्ष मे होना असिद्ध या सन्दिग्ध होने पर असिद्ध हेत्वाभास होता है।

बौद्ध विज्ञानवादी दार्शनिको के अनुसार एक मात्र आन्तर ज्ञान ही सत्य है, बाह्य वस्तुए असत्य हैं। असग और वसुबन्धु ने जगत् या ससार की बाह्यता को तो आरोपित या भ्रम कहा है, किन्तु वे जगत् या ससार की बाह्यता का अपलाप नहीं करते हैं। इन विज्ञानवादी आचार्यो के अनुसार बाह्यता या ग्राह्य–ग्राहक आदि सर्वप्रपच विज्ञान मे आरोपित हैं। आरोपित वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती है, अत वे मिथ्या या भ्रम रूप मे हैं। आचार्य शकर ने भी अध्यस्ततया प्रपच को ही मिथ्या या भ्रम कहा है। वसुबन्धु ने जगत् को आलय विज्ञान का परिणाम कहा है, और विशुद्ध विज्ञप्ति को कार्य–कारण भाव से अतीत कहा है। विशुद्ध विज्ञप्ति सांसारिक द्वन्द्व या विकल्पो से परमार्थत परे है, और शाश्वत तथा एकरूप हैं, अत. यह विशुद्ध विज्ञप्ति कार्य–कारण भाव से अतीत है। चूँकि विशुद्ध विज्ञप्ति सासारिक द्वन्द्व या विकल्पो से परमार्थत. परे है, और शाश्वत एकरूप है, अत विशुद्ध विज्ञप्ति से कार्य–कारणात्मक ससार सम्बन्धित नहीं हो सकता, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से उसे सम्बन्धित मानना होगा, जिस प्रकार शाकर दर्शन मे ब्रह्म को परमार्थत· किसी का अधिष्ठान नहीं माना है, क्योकि वास्तविक अर्थ मे किसी का अधिष्ठान होना भी निर्गुणत्व को आघात पहुँचाता है, इसलिए प्रपञ्चात्मक ब्रह्म में विवर्त है। विवर्त का अर्थ है अध्यस्ततया कार्य का होना न कि वस्तुत । वसुबन्धु जगत् को आलय विज्ञान का परिणाम और पारमार्थिक दृष्टि से विशुद्ध विज्ञप्ति का विवर्त मानते हैं। हमारा मानना है कि यदि विशुद्ध विज्ञप्ति का परिणाम जगत् है, तब तो विशुद्ध विज्ञप्ति मे भी विकृति अवश्य होनी चाहिए। लेकिन वस्तुत· ऐसा होता नहीं है। जगत् परिणाम के होने पर भी विज्ञप्ति विशुद्ध ही रहती है, अत जगत् परिणाम को विवर्त के अर्थ मे लेना आवश्यक है। इसी अर्थ में वसुबन्धु ने आत्म–धर्मो को विज्ञान मे उपचरित कहा है, अर्थात् आत्मा और धर्मादि का उपचार होता है, न

कि वस्तुत. है। वसुबन्धु के द्वारा परतन्त्र वस्तुओ को स्वीकार करना ही यह सिद्ध करता है कि उन्होने अपने मत मे बाह्यता का पूर्ण रूप से अपलाप नहीं किया है, अथवा "प्रपच की बाह्यता का प्रत्याख्यान नहीं किया है।" इस कारण हम विज्ञानवाद को विशुद्ध विषयिवाद नहीं कह सकते हैं। विज्ञानवाद का मात्र यह कहना है कि बाह्यता विज्ञानातिरिक्त के रूप में असत् हैं, किन्तु विज्ञानसापेक्ष बाह्यता है। यही शकर के अनुसार भी बाह्यता की स्थिति है।

गत अध्याय मे हमने देखा है कि किस प्रकार लकावतार के विज्ञानवाद की बाह्य वस्तुविषयक धारणा शकर के मिथ्या विचार से साम्य रखती है, लेकिन अन्तर यह है कि अद्वैतवाद बाह्यवस्तुओं की अनिर्वचनीयता एव उनकी प्रतीतिक बाह्यता की सिद्धि पर बल देता है, इसके विपरीत उक्त विज्ञानवाद बाह्यता या बाह्यवस्तुओं की विज्ञानातिरिक्तता के प्रत्याख्यान पर बल देता है।

आचार्य दिङ्नाग के अनुसार बाह्यवस्तुओ का कोई अस्तित्व नहीं है। जो कुछ भी घट–पटादि के रूप में दिखाई देता है, वह सब ज्ञान के ही आकार हैं। वस्तुत बाह्य वस्तु की कल्पना दो रूप में की जा सकती है– अणुरूप मे या सघात रूप मे। अणु अविभाज्य एव अमूर्त हैं। अणुओ का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है क्योकि प्रत्यक्ष केवल मूर्त द्रव्य का ही सम्भव है। दिङ्नाग का मानना है कि आन्तरिक प्रत्यय ही बाह्य वस्तुओं के रूप मे भासित होता है। ये ही आन्तरिक प्रत्यय ग्राह्य–ग्राहकता के रूप मे अवभासित होते हैं। वस्तुत· ग्राह्य और ग्राहक दोनो ही आन्तरिक हैं। बाह्यता अलीक हैं।

धर्मकीर्ति ने माना है कि "सत् वह है जो प्रभावोत्पादन मे समर्थ हो" जो वस्तु किसी कार्य को करने मे असमर्थ है वह असत् है, अत "अर्थक्रियाकारित्व प्रभावोत्पादन सामर्थ्य" को इन्होने परमार्थ का लक्षण माना है। इनका मानना है कि बाह्य वस्तुएँ असत् हैं, फिर भी अनादि वासना के कारण नानात्व एवं बाहयत्व दिखायी देता है। परमसत् ग्राह्य–ग्राहकत्व से परे है। पाण्डु रोगी रोग के कारण जिस प्रकार शख को पीला देखता है– उसी प्रकार अविद्याग्रस्त होने के कारण चित्त को परमसत् नहीं समझ पाते, न ही बाह्य वस्तुओ को ही असत् समझते हैं, आन्तरिक प्रत्ययो को ही बाह्य वस्तुये मान लेते है। एकमात्र चित्त ही शुद्ध सत् है, वह स्वयं प्रकाश एव स्वत देदीप्यमान है। शान्तिरक्षित ने भी धर्मकीर्ति के ही समान 'अर्थक्रियाकारित्व सामर्थ्य' को ही परमार्थ मान लिया है। इनके अनुसार विश्व की सभी वस्तुए क्षणिक हैं, क्योंकि वे विनाशी हैं। बर्कले के अनुसार 'सत्ता सर्वदा अनुभव–मूलक होती है' जहाँ पर अनुभव नहीं, सत्ता नहीं। विज्ञानवादी का मानना है कि ज्ञान के विना ज्ञेय के अस्तित्व की सिद्धि कैसे संभव

हो सकती है? जहॉ पर भी घट को जाना गया वह ज्ञात पाया गया है। धर्मकीर्ति के सहोपलम्भ नियम मे भी यही बताया गया है कि विषयनील और उसकी धी अर्थात् ज्ञान दोनो अभिन्न है– नील वस्तु और नीलज्ञान दोनो अभिन्न पदार्थ के रूप मे माने गये है। लेकिन आचार्य शकर ने इन सभी नियमों का जोरदार प्रत्याख्यान किया है। उनका कहना है कि नील और नीलज्ञान अभेद अथवा एक साधक हेतु हेत्वाभास है, क्योकि घट और घट–दर्शन का भेद ससार मे प्रसिद्ध है। ज्ञान–ज्ञेय अभेद सिद्धान्त अथवा ज्ञान–ज्ञेय एक सिद्धान्त प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधित होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण प्रबल प्रमाण है, अत प्रबल प्रमाण प्रत्यक्ष द्वारा बाधित अनुमान प्रमाण की गति सम्भव नही है। हेतु–प्रत्यक्ष के बाधित होने के कारण विरुद्ध हेत्वाभास है, अत इस प्रकार हेतु से विज्ञानवादी विज्ञान और विज्ञेय मे एकत्व या अभेदत्व साधन नहीं कर सकते। इस प्रकार आचार्य शकर ने 'नाभाव उपलब्धे' ब्रह्मसूत्र के इस सूत्रभाष्य मे विज्ञानवाद के सहोपलम्भनियम का जोरदार शब्दो में खण्डन किया है। शकर बाह्य वस्तु को विज्ञान के अतिरिक्त व्यावहारिक बाह्य वस्तुऍ स्वीकार करते हैं, इसी के कारण विज्ञानवादियो के ऊपर शकर का यह आक्षेप है कि वे बाह्य वस्तु को स्वीकार किए बिना ठहर नहीं सकते हैं, क्योकि बाह्यता का खण्डन करने के लिए भी उसे स्वीकार करना होगा।

दिड्‌नाग ने कहा है कि जो आन्तरविज्ञान है, वही बहिर्विश्व में ज्ञेय के रूप में हमको भासित होता है। ज्ञान के समान ज्ञेय वस्तु भी आन्तर है, बाह्य नही। बाह्यता तो अलीक है, अलीक बाह्यता ही मन मे भासती है और उस बाह्यता को ही हम सत्य समझ बैठते हैं। लेकिन आचार्य शकर का मानना है कि यदि बहिर्विश्व विज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, तब तो घटादि भी अलीक वस्तु है। इस प्रकार सम्पूर्ण बहिर्वस्तुऍ अलीक हैं। वैसे बौद्ध के दर्शन मे बाह्य वस्तुओ के विषय को लेकर विरुद्धमत स्वय मे ही हमे दिखाई पडता है। विज्ञानवादी तो बहिर्विश्व के अस्तित्व को नहीं स्वीकार करते, फिर भी 'बहिर्वत्' शब्द का अपने मत मे प्रयोग करते हैं। विज्ञानवाद के अनुसार बाह्यवस्तुऍ स्वप्न की वस्तुओं के समान नि.स्वभाव हैं, किन्तु आचार्य शकर यहॉ पर बाह्य वस्तुओ को स्वप्नतुल्य कहने के भी विरुद्ध हैं। शकर का कहना है कि जाग्रत् और स्वप्न मे महत् अन्तर है। इस प्रकार शकर ने जाग्रतस्वप्न मे वैधर्म्य दिखाकर बाह्यवस्तुऍ स्वप्नवत् नहीं हैं, इसको सिद्ध कर दिया है।

विज्ञानवाद के मत का खण्डन करते हुए शकर और कुछ अन्य दार्शनिकों ने अपना मत इस प्रकार से व्यक्त किया है। शकर प्रत्ययवादी होने पर भी बाह्यवस्तुओं की सत्ता को अस्वीकार नहीं करते है, बल्कि वे बाह्य वस्तुओं को व्यावहारिक सत्ता के रूप में मानते हैं।

विज्ञानवाद के सहोपलम्भ नियम के उत्तर मे जाग्रत और स्वप्न मे शकर ने वैधर्म्य दिखाकर बाह्य–वस्तुएँ स्वप्नवत् नहीं हैं, इसको सिद्ध किया है। वाचस्पति मिश्र ने विज्ञानवाद के श्रेय निरपेक्ष विज्ञान के विषय में कहते हुए शकर की बाह्य वस्तु विषयक धारणा को और अधिक स्पष्ट कर दिया है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार 'ब्रह्मवादी नीलादि की आकारवाली वित्ति को नहीं मानता किन्तु नील से अनिर्वचनीय को मानता है। कल्पतरूकार ने भी भामती का समर्थन करते हुए कहा है कि बौद्ध विज्ञानवादी नील आदि आकार विज्ञानाकार मानते हैं न कि शाकर–वेदान्ती। न्यायमकरन्दकार आनन्द भट्टारक ने भी शकर के मत को विज्ञानवाद से भिन्न प्रकार का मत बतलाते हुए कहा है कि – हम प्रपञ्च को आकाशकमल नही कहते।

इस प्रकार इष्टसिद्धिकार ने विज्ञानवाद के आत्मख्याति सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचना करते हुए इस सिद्धान्त को सत्ख्याति कहा है। इनके मतानुसार जिसकी कहीं न कहीं प्रतीति होती है, वह वहाँ पर सत् है, अत सत् की ही ख्याति होगी। विज्ञानवादी विज्ञानरूप मे रूप्य को सत् मानते हैं, अत· विमुक्त–आत्मा उन्हे सत्ख्यातिवादी कहते हैं। अन्तर्ज्ञेयरूप रजत ही बाहर सा लगता है, अर्थात् बाहर रजत नहीं है, अपितु अन्तरस्थित है। आन्तरपदार्थ ही हमे आन्तर के रूप में न प्रतीत होकर विपरीत बाह्यरूप मे प्रतीत होता है, इसी कारण जयन्तभट्ट ने इसे भी विपरीतख्याति ही कहा है। बाह्यता को पूर्णरूप से अस्वीकार करने के कारण यह असत्ख्याति भी है। वैसे तो विज्ञानवाद के अनुसार शुक्ति–रजत और व्यावहारिक रजत दोनो ही बाह्यशून्य हैं। उनमें बाह्यता का अश भ्रम के रूप मे है, यह बात तो कुछ उपयुक्त सी प्रतीत होती है, किन्तु विज्ञानवादियो के अनुसार उक्त दोनो रजतो मे अन्तर करने की कसौटी क्या है? यदि दोनो ही एक प्रकार से विज्ञानरूप हुए अर्थात् भ्रमस्थल की वस्तु और व्यावहारिकता दोनो ही यदि विज्ञानकार ही हुई, तो भ्रम और यथार्थ ज्ञान मे अन्तर नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विज्ञानवाद के आत्मख्याति सम्बन्धी भ्रम सिद्धान्त को हम पूर्ण रूप से सत् नहीं मान सकते हैं, अत· यह सिद्धान्त अपूर्ण सिद्धान्त है।

विज्ञानवाद के मत के विरुद्ध काण्ट ने अपने प्रतिवाद मे यह कहा है कि चेतना वस्तुओं की चेतना है, और इस प्रकार यह हमारे से बाहर के स्थान में स्थित बाह्य वस्तुओं की सत्ता को सिद्ध करती है। दूसरे शब्दो मे बिना ग्राह्य के ग्राहक नहीं होता। ग्राह्य–ग्राहक के तादात्म्य को सिद्ध करने के लिए हेगल ने भी इसी मत का उपयोग किया है। बाह्य संसार या जगत की सत्ता के सम्बन्ध मे भी बौद्ध का मानना है कि –एक शून्य आकाश है। वह नश्वर धर्मो की अनन्तता से युक्त है। एक निर्वाण की स्थिति है,जिसमें समस्त नश्वर धर्म नष्ट हो

जाते हैं। स्पिनोजा का मानना है कि केवल एक ही द्रव्य है। यही ईश्वर है। दिड्नाग प्रज्ञा–पारमिता अद्वय ज्ञान है। यही एकत्व बुद्ध है। धर्मकीर्ति बुद्धयात्मा अविभक्त है। विषय और विषयी एक भ्रान्तिपूर्ण विभाग हैं। इनका एकत्व ही बुद्ध की सर्वज्ञता है। प्लेटो ने भी शकर के समान बाह्य वस्तुओं को अलीक या असत् नहीं माना है। बाह्य वस्तुओ को वह उसी प्रकार असत् नहीं मानते हैं जैसे कि छाया असत् नहीं है। बर्कले ने भी बाह्यता को अलीक या असत् माना है, सब कुछ आन्तर है। बर्कले की स्थिति बौद्ध विज्ञानवादी, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित के समान नहीं है।

इस प्रकार पूर्व अध्यायो मे हमने विस्तार पूर्वक यह देखा है कि माध्यमिक शून्यवादी जिनका कि भ्रम सम्बन्धी असत्ख्याति सिद्धान्त है, के अनुसार हम जब वस्तुओ को शून्य कहते हैं तब उनका तात्पर्य स्वभावशून्यता से है, न कि वस्तुओ के अभाव से। इसी कारण से वस्तुओ के विषय में निजस्वभाव और परस्वभाव का खण्डन किया गया है। वैसे तो वस्तुओ के अभाव का कथन सम्भव ही नहीं है। नागार्जुन सापेक्षता के कारण वस्तुओ की सत्ता का खण्डन भी करते हैं। शकर के दर्शन में भी कार्य–जगत् अधिष्ठान सापेक्षतया सत्स्वभाव–शून्य है। वैदिक दार्शनिको ने, शून्यवाद को सर्वाभाववाद के रूप मे लिया है। न्याय–दर्शन में माध्यमिक के शून्यवाद को 'सर्वाभाववाद' कहा है, क्योकि शून्यवादी सभी वस्तुओ को असत् कहते हैं। वाचस्पति मिश्र ने भी शून्यवाद को अभाववादपरक ही कहा है।

असत्ख्यातिवादियो के शून्य का अर्थ है कि वस्तु न सत् है, न असत् है, और न सदसत् है, न उभयभिन्न है। इस प्रकार वस्तु को 'चतुष्कोटि विनिर्मुक्त' कहा है। लेकिन शकर ने विज्ञानस्वरूप ब्रह्म को छोडकर विश्व को सदसद् रूप से अनिर्वचनीय कहा है। शून्य का अर्थ अन्य दार्शनिकों ने विशेष न करके लोक मे गृहीत अर्थ ही लिया है और विश्व को सापेक्षतया शून्य कहने वाले माध्यमिक को सर्वाभाववादी सिद्ध किया है। शून्यवादी विश्व की सावृत्तिक सत्ता का अपलाप नहीं करते हैं। प्रपंच को माध्यमिक शून्यवादी संवृत्तिसत्य कहते हैं। शून्यवादी ने भी शकर की तरह व्यवहार एवं परमार्थ में भेद किया है। शून्यवादी के अनुसार सत्य दो हैं– सांवृत्तिक सत्य और परमार्थ सत्य। संवृत्ति का अर्थ है अविद्याा जो वस्तु के ऊपर आवरण डाल देती है। शंकर में अविद्याा की दो शक्तियाँ हैं– आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति वस्तुस्वरूप को आवृत्त कर लेती है, विक्षेप शक्ति उसी मे नवीन वस्तु का आरोपण करती है। शून्यवादी के अनुसार सवृत्ति का कार्य भी वस्तु को ढककर अवस्तु का ज्ञान कराना है। अविद्या या अज्ञान के कारण असत् का सत् मे आरोप होता है, और असत् सत् के समान प्रतीत

होने लगता है। जो दृश्यमान है, वह सत् नही है, क्योकि वह विनाशी है। सवृत्ति से सम्पूर्ण व्यावहारिक वस्तुओ का कथन है, जिसे सामान्य मनुष्य सत्य समझते है। सावृत्तिक सत्य भी दो प्रकार का है– लोक संवृत्ति और अलोक सवृत्ति। लोक सवृत्ति परमार्थ ज्ञान होने से पूर्व तक सत्य है। कार्यकारणभावादि सर्वजगत् सापेक्षतया परमार्थज्ञान अर्थात् शून्यता के स्वरूप ज्ञान से बाध्य है। लोक सवृत्ति आकाशकुसमादि से भिन्न प्रतीत होता है, क्योकि आकाश कुसुमादि की सत्ता की कभी भी प्रतीति लौकिक वस्तुओ के समान नहीं होती है। लौकिक वस्तुएँ अपरमार्थ होने पर भी हैं। अलोक सवृत्ति भ्रान्ति है, जिस प्रकार से सीपी मे चॉदी का भ्रम हो जाता है। आचार्य शकर की जो व्यावहारिक सत्ता है।, वही माध्यमिक की लोकसवृत्ति है, और **अलोकसंवृत्ति** शकर की प्रातिभासिक सत्ता के समान है। इसीलिए अलोकसवृत्ति की पृथक सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं है, इसीलिए सत्ता तो परमार्थ रूप से शून्य की ही है। परमार्थ दृष्टि से सवृत्ति का बाध हो जाता है।

असत्ख्यातिवाद के मत के सम्बन्ध मे ए० बी० कीथ महोदय का कथन कि नागार्जुन ने संसार को वन्ध्यापुत्र के समान अलीक माना है, वह अर्थपूर्ण नहीं प्रतीत होता है। आचार्य चन्द्रधर–शर्मा का कथन सत्य है कि माध्यमिक जब बन्ध्यापुत्रादि शब्दो का प्रयोग करता है तो उसका तात्पर्य अलीक कथन करना नहीं है, किन्तु परमार्थ दृष्टि से सत्ता शून्यता से तात्पर्य है। नागार्जुन ने परमार्थसत् को शून्य कहा है। इस प्रकार शून्यवाद और शकर मे अन्तर दिखायी पडता है, शून्यवादी बाह्यवस्तु की सत्तासिद्धि पर जोर नहीं देते हैं, जबकि शकर प्रपञ्च के अनिर्वचनीयत्व की सिद्धि के लिए तत्पर रहते हुए दिखाई पडते हैं।

माध्यमिक शून्यवादी के भ्रम सिद्धान्त की समीक्षा मे निष्कर्षत. प्रत्ययवादी दार्शनिको न्याय–वैशेषिक एवम् आचार्य शंकर आदि वेदान्तियो ने किया है। जयन्तभट्ट ने भ्रम सिद्धान्त के अन्तर्गत दो विकल्प करके प्रश्न किया है, कि असत्ख्याति का अर्थ एकान्त असत् की ख्याति या देशान्तर मे स्थित यहॉ पर भ्रमस्थल मे असत् की ख्याति? एकान्त असत् की ख्याति असम्भव है, क्योकि आकाश–कुसुम की ख्याति नहीं देखी गयी है। देशान्तर मे स्थित रजत की ख्याति मानने पर असत्ख्याति न होकर वहॉ पर विपरीतख्याति ही होगी। आचार्य शंकर ने भी असत्ख्याति का कुछ इसी प्रकार खण्डन किया है। आचार्य शकर का मानना है कि असत् का अर्थ सत्ता–शून्य है। उसकी प्रतीति नहीं हो सकती है। यदि असत् की प्रतीति होती है, तो क्या वह **सदात्मना प्रतीत** होता है या असद्–आत्मना प्रतीत होता है? असत् आत्मना–ज्ञान कभी नहीं हो सकता है, क्योंकि अलीकार्थ असत् का ज्ञान संभव नहीं और सदात्मना ज्ञान होने पर

सत्ख्याति होगी। सत् और असत् का सम्बन्ध भी नही हो सकता है। असम्बद्ध वस्तु प्रकाशित नहीं होती, जिस प्रकार से बन्ध्यापुत्र, शशश्रृग इत्यादि असत् बोधक शब्द द्वारा विकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है, फिर भी इन्द्रिय कभी भी असन्निकृष्ट का ग्राहक नहीं होती है। असत् को यदि निष्प्रकारक माना जाय तो प्रत्यक्ष के द्वारा 'रजत' ऐसे विशेष प्रतिभास का अभाव हो जाता है। यदि आरोपणीय और आरोपाधिष्ठान दोनो वस्तु को असत् माना जाय तो आरोपाधिष्ठान को जानने पर भी भ्रम की निवृत्ति नहीं होगी, क्योकि असत्ख्यातिवादियो ने शुक्तिरजत एव शुक्ति दोनो को असत् कहा है। यहॉ पर भी विज्ञानवादियो के आत्मख्याति सम्बन्धी भ्रम के सिद्धान्त के समान ही भ्रम और व्यवहार मे अन्तर का न होना ही दिखाई पडता है। इस प्रकार घट ज्ञान और शुक्तिरजतज्ञान में एक को भ्रम और अन्य को प्रमा कहने की कसौटी नहीं दिखायी पडती है। इसी कारण हम भ्रम की व्याख्या असत्ख्याति को मान करके भी हम नहीं कर सकते हैं। इसलिए शून्यवादी का यह भ्रम सम्बन्धी सिद्धान्त भी एकागी और अपूर्ण दिखायी पडता है।

यहॉ पर भ्रमस्थलीय शुक्तिरजत की व्याख्या हम विज्ञानवादी के आत्मख्याति एवम् शून्यवादी के असत्ख्याति नामक दोनो भ्रम सिद्धान्तो द्वारा पूर्णरूपेण नहीं कर सकते हैं। इसलिए भ्रम की व्याख्या को हम अनिर्वचनीय मानते हैं। अनिर्वचनीय का तात्पर्य यह हुआ, जो ज्ञान अनर्विचनीय हो, अर्थात् जो ज्ञान सत् नहीं, असत् नहीं, सद्–असद् भी नहीं, सुतरा भ्रमस्थलीय रजत को हम अनिर्वचनीय कहते हैं। जिस प्रकार रजत अनिर्वचनीय है उसी प्रकार शुक्ति एव उसमे प्रतीत रजत का सम्बन्ध भी अनिर्वचनीय है तथा शुक्तिरजत ज्ञान भी अनिर्वचनीय है। अत· इसकी व्याख्या न तो आत्मख्याति या न असत्ख्याति के द्वारा ही हो सकती हैं। इसकी व्याख्या शकर के अनिर्वचनीयख्याति के द्वारा ही हो सकती है। शंकर के अनुसार ज्ञान सर्वदा वस्तुतन्त्र होता है और भ्रमकाल मे होने वाला रजतज्ञान रजत विषय को सिद्ध करता है।

यद्यपि उपर्युक्त विवेचन मे शकराचार्य के व्याख्याकारो ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि विज्ञानवादी पूर्णरूप से वस्तुगत सत्ता या वाह्यजगत की सत्ता को नहीं मानते हैं, लेकिन वसुबन्धु एव अन्य आचार्यों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे भी बाह्य जगत की सत्ता को मानते हैं, लेकिन पारमार्थिक पर नहीं। लोक व्यवहार को चलाने के लिए वे (बौद्ध) बाह्य जगत को सत्य मानते हैं, क्योकि मूढ से मूढ़ व्यक्ति भी बन्ध्यापुत्र, आकाशकुसुम तथा वास्तविक सुत और कमल–गुलाब, केवडा, चमेली आदि वास्तुविक पुष्पों में अन्तर मानते हैं। फिर भी असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति जैसे महान बुद्धिमान, प्रतिभाशाली व्यक्ति

उपर्युक्त विषयो मे अन्तर क्यो न मानते। यही कारण है कि वसुबन्धु ने अपने 'त्रिस्वभाव निर्देश' नामक ग्रन्थ मे परिकल्पित परतन्त्र और परिनिष्पन्न तीन प्रकार की सत्ताएँ मानी है। इसमे परिकल्पित की कोटि मे बन्ध्यापुत्र, आकाश–कुसुम, शश–श्रृग, मृग–मरीचिका आदि आते है, जो कि पूर्णरूप से असत् हैं। परतन्त्र वो है जो पूर्णरूप से सत् नहीं है, किन्तु पूर्णरूप से असत् भी नहीं है। इस कोटि मे समस्त व्यावहारिक जगत आ जाता है। जैसे– कुर्सी, मेज, कमल, गुलाब, आम, अमरूद, गाय, भैंस, मयूर, कोकिल, सिह, सर्प, हाथी आदि सभी वस्तुएँ आ जाती है। परिनिष्पन्न की अवस्था मे जहाँ प्रज्ञापारमिता का ज्ञान हो जाने पर शुद्ध चित्तमात्र या विज्ञप्तिमात्र का बोध हो जाता है, वह अवस्था प्राप्त करने पर परिकल्पित का भेद मिट जाता है, और हमे समस्त अद्वय–विज्ञान का दर्शन हो जाता है। जिस प्रकार से शंकर के दर्शन मे ब्रह्मज्ञान हो जाने पर पारमार्थिक, प्रातिभासिक और व्यावहारिक सत्ताओं का अन्त हो जाता है, और मात्र सर्वत्र ब्रह्म की ही अनुभूति होती है।

दूसरे शब्दो मे शंकराचार्य की ही भॉति बौद्ध विज्ञानवाद मे भी परमतत्त्व का दर्शन करने के बाद ही प्रपंच का खण्डन किया गया है, न कि व्यावहारिक स्तर पर– "यावद् अद्वय लक्षणे विज्ञप्ति मात्रे योगिनश्चित्त न प्रतिष्ठित भवति, तावद् ग्राह्यग्राहकानुशयो न विनिवर्तते न प्रहीयत इत्यर्थ"* (अर्थात् बोधिचित्त का दर्शन करने के बाद ही विषयी और विषय, ग्राहक और ग्राह्य के द्वन्द्व का अन्त होता है। उसके पूर्व नहीं।)

इस प्रकाश शकराचार्य आदि अद्वैत वेदान्ती दार्शनिकों की भॉति बौद्ध विज्ञानवादी भी व्यावहारिक स्तर पर जगत की सत्ता को पूर्ण रूप से स्वीकार किये हैं।

---

* त्रिशिका छब्बीसवींकारिका – विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि; महेश तिवारी, पृ० ६६।

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ सूची

सहायक-ग्रन्थ सूची

१ अभिधर्मकोश वसुबन्धु, व्याख्या, आचार्य नरेन्द्रदेव, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५८

२ अभिधर्मकोश (सभाष्य) बौद्धभारती, वाराणसी

३ तत्त्वसङ्ग्रह शान्तरक्षित, पजिका, कमलशील, बौद्धभारती, वाराणसी, १९८१–८२

४ तर्कभाषा मोक्षाकरगुप्त, ओरियण्टल, इस्टीट्यूट, बडौदा, १९४२

५ न्यायप्रवेश शकरस्वामी, सम्पा० ए०बी० ध्रुव, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बडौदा, १९६८

६ न्यायबिन्दु टीका · धमोत्तर व्याख्या, श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, १९७५

७ प्रमाणवार्तिक धर्मकीर्ति, मनोरथनन्दिवृत्तियुक्त, बौद्धभरती, वाराणसी, द्वितीय सस्करण, १९८४

८. प्रमाणसमुच्चय (संवृत्ति) (प्रत्यक्ष परिच्छेद) दिङ्नाग, सम्पा० एच०आर० रगास्वामी अयगर, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, १९३०

९ वादन्याय धर्मकीर्ति, बौद्धभारती, वाराणसी, १९७२

१० तत्त्वार्थसूत्र उमास्वाति, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी तृतीय सस्करण, १९८५

११ हेतुबिदुटीका (हेतु बिन्दु प्रकरण एव आलोकयुक्त) सम्पा०, सुखलाल सघवी एव मुनि जिनविजय, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बडौदा, १९४९

१२ खण्डनखण्डखाद्य · श्री हर्ष, चौखम्बा सस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९७०

१३ छांदोग्योपनिषद् · ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद, व्यास प्रकाशन, वाराणसी, १९८३

१४ तत्त्वचिन्तामणि गंगेश, तिरुपति, १९८२

१५ तर्कभाषा केशवमिश्र, हिन्दी व्याख्या, विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, चौखम्भ सस्कृत सस्थान, वाराणसी, १९७७

१६. न्यायभाष्य · वात्स्यायन, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९७०

१७. न्यायवार्तिक . उद्योतकर, सम्पा० अनु० श्रीनिवास शास्त्री, इण्डो विजन प्राइवेट लिमिटेड, गाजियाबाद, १९८६

१८ न्यायसूत्र गौतम, चौखम्भा ससकृत सस्थान, वाराणसी, १६७०

१६ ब्रह्मसूत्रशाकरभाष्य चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय सस्करण, १६७७

२०. वेदान्तसार सदानन्द, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६७६

२१ श्लोकवार्तिक कुमारिल भट्ट, रत्ना पब्लिकेशन, कमच्छा, वाराणसी, १६७८

२२ सर्वदर्शनसङ्ग्रह सायणमाधवाचार्य, पूना, १६५१

२३ साख्यकारिका ईश्वरकृष्ण, नेशनल पब्लिशिग हाउस, नई दिल्ली

२४ साख्यतत्त्वकौमुदी वाचस्पतिमिश्र, व्याख्याकार गजाननशास्त्री मुसलगावकर, चौखम्भा सस्कृत सस्थान, वाराणसी, १६८५

२५ अनुमान–प्रमाण बलिराम शुक्ल, ईस्टर्न बुक लिकर्स, दिल्ली, १६८६

२६ अपोहसिद्धि : अनु० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, दर्शन–प्रतिष्ठान, बापूनगर, जयपुर, १६७१

२७ अद्वैतसिद्धि मधुसूदन सरस्वती। निर्णय सागर प्रेस, १६१७

२८ पंचपादिका–पद्मपादाचार्य श्री रामशास्त्री सम्पादित, गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास, १६५८

२६ ब्रह्मसूत्रशांकर भाष्य निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १६३८

३० कल्पतरू–अमलानन्द स्वामी निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १६८१

३१ तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी) चित्सुखाचार्य काशीनाथ शास्त्री सम्पादित, निर्णय सागर प्रेस, १६१५

३२ सर्वदर्शन सग्रह–माधवाचार्य . चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १६६४

३३ खण्डनखण्डसाद्य–श्रीहर्ष · चौखम्भा संस्कृत पुस्तकालय, वाराणसी

३४ बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन भरतसिंह उपाध्याय। बगाल हिन्दी मण्डल रायल एक्सचेन्ज प्लेस, कलकत्ता। सं० २०११

३५ बौद्ध दर्शन मीमासा : बलदेव उपाध्याय। चौखम्भा विद्याभवन, बनारस, १६५४

३६ तत्त्वसंग्रह शान्तरक्षित। द्वारिकादास सम्पादित, बौद्धभारती, वाराणसी, १६६८

३७ तत्त्वसंग्रह पंजिका . कमलशील, द्वारिकादास, सम्पादित, बौद्धभारती, वाराणसी, १६६८

३८ विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि · (विशिका–त्रिंशिका) वसुबन्धु। डॉ० महेश तिवारी, चौखम्भा विद्याभावन, वाराणसी, १६६७

३६ विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिभाषय . स्थिर मति

४० छान्दोग्योपनिषद् आनन्दाश्रम, पूना, १८६०

४१ मुण्डकोपनिषद् आन्दाश्रम, पूना, १६२७

४२ माण्डूक्यकारिका शकर भाष्य सहित गौडपाद आनन्दश्रम, पूना, १६२१

४३ इष्टसिद्धि–विमुक्तात्मा बी० भट्टाचार्य सम्पादित, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बडौदा, १६३३

४४ ब्रह्मसिद्धि मण्डन मिश्र– ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स, सीरीज न० ४, मद्रास, १६३७

४५ विवरण–प्रमेय संग्रह विद्यारण्य मुनि (माधवाचार्य) अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, सं० १६६६

४६ माध्यमिक शास्त्र नागार्जुन डॉ० पी०एल० वैद्य सम्पादित, मिथिला विद्यापीठ दरभंगा, १६६०

४७ अद्वैतदीपिका नृसिहाश्रम मेडिकल हाल प्रेस, वाराणसी, १६१६

४८ लंकावतार सूत्र बी० नानजिओ द्वारा सम्पादित, ओरियण्टल बुकसेलर एण्ड पब्लिशर, लन्दन, १६२३

४६ प्रमाणवार्तिक धर्मकीर्ति राहुल सास्कृत्यायन द्वारा सम्पादित, किताब महल, इलाहाबाद, १६४३

५० माध्यमिक शास्त्र . प्रसन्नपदा टीका, चन्द्रकीर्ति–सम्पादक पी०एल० वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभगा, १६६०

५१. वेदान्तदर्शन–निम्बार्क भाष्य, स्वा० सन्तदास कृत वेदान्त सुबोधिनी सहित, दी इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, स० १६८६

52. Indian Philosohy, Vol II (First Edition) - Radha Krishnan, Allen & Unuvin, London, 1927

53. Indian Idealism, S. Das Gupta - Cambridge, 1962.

54. A Critical Survey of Indian Philosophy - Dr. C D. Sharma, London, 1960.

55. Mahayanavimsaka of Nagarjuna - V Bhattacharya, Vishwa Bharti Book Shop, Calcutta, 1931.

56. The Central Philosophy of Buddhism, T.R V. Murti, Ruskin House, London, 1955.

57 Mahayana Buddhism, B.L Suzuki, Allen & Unuvin, London, 1959.

58 Buddhist Philosophy, A B Keith, The Clarendon Press, Oxford, 1923.

59 Appearance and Reality - Ninth Edition; F H Bradley, Oxford London, 1930.

60. Six Existentialist Thinkers - Blackham, London, 4th Ed , 1961.

६१ दर्शन–दिग्दर्शन · राहुल साकृत्यायन, किताबमहल, इलाहाबाद, १९६१

६२ बौद्ध–विज्ञानवाद : चिन्तन एवं योगदान, सम्पा० सम्दोङ रिनपोछे, केन्द्रीय उच्च तिब्बती संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, १९८३

६३ भारतीय दर्शन मे अनुमान बृजनारायण शर्मा, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७३

६४ वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध दर्शन श्रीनिवास शास्त्री, कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरूक्षेत्र, १९६८